सरण करते हुए पाणिनि ने लगभग २००० मूल शब्दांशों (Verbal root) की उद्भावना की थी जो धातु कहलाती हैं। धातुपाठ में इन्हीं का संग्रह है जिन्हें भ्वादिगण आदि १० गणों में विभक्त किया गया है। संक्षिप्त सूत्रों से काम चलाने के लिए गणपाठ की रचना की गई है। जब अनेक शब्दों के विषय में एक ही बात संज्ञा, प्रत्यय विधान आदि) कहनी हुई तो एक गण या समूह गणपाठ में दे दिया गया तथा गण के प्रथम शब्द से आदि' जोड़कर सूत्र बना दिया गया; जैसे—सर्वादीनि सर्वनामानि १।१।२७, यहाँ 'सर्व' आदि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा की गई है तथा गणपाठ में 'सर्व' से लेकर 'किम्' तक सर्वादिगण प्रस्तुत किया गया है। (देखिये गणपाठ)

उणादिसूत्र को भी पाणिनिकृत बतलाया जाता है। वस्तुतः यह पाणिनि की रचना नहीं है। हाँ, पाणिनि ने उणादयो बहुलम् ३।३।१' सूत्र द्वारा उणादि सूत्रों की प्रामाणिकता अवश्य स्वीकार की है। इसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा तथा लिङ्गानुशासन नामक लघुग्रन्थों को भी पाणिनि की रचना मानना विवादास्पद ही है। इनके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि पाणिनि ने पाताल-विजय या जाम्बवती-विजय नामक एक महाकाव्य की रचना की थी, जो आज उपलब्ध नहीं है।

वस्तुतः भगवान् पाणिनि ने शब्दानुशासन द्वारा संस्कृत भाषा को परिमार्जित एवं परिष्कृत करने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों के ...नों की समीक्षा करके एक ऐसे व्यवस्थित व्याकरण की रचना की है जिसमें संस्कृत भाषा के टकसाली रूप का विश्लेषण किया गया है। पाणिनि ने ...याकरण के सर्वसम्मत नियमों के साथ साथ पूर्ववर्ती वैयाकरणों के विशिष्ट ...नों का भी उल्लेख किया है जैसे 'लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९, अवङ् स्फोटा... यनस्य ६।१।१२३' इत्यादि। पाणिनि व्याकरण संस्कृत भाषा की अमूल्य ...धि है। इस विचित्र रचना का उदय होने पर प्राचीन व्याकरण लुप्तप्राय ... गये। कोई उत्तरवर्ती व्याकरण भी पाणिनि व्याकरण के समक्ष ठहर न ...का।

वात्स्यायन (१०० ई० पू० से ३०० ई० पू० के मध्य)

[illegible]

[illegible]

[illegible]

पतञ्जलि (२०० ई० पू० तथा प्रथम ई० शती के मध्य)

पतञ्जलि ने महाभाष्य नामक ग्रन्थ की रचना की है अतः वे महाभाष्यकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका समय भी विद्वानों के विवाद का विषय रहा है। कुछ विद्वानों के अनुसार उनका समय ईसा की प्रथम शती है। डा० वेलवेलकर ने उनका समय १५० ई० पू० माना है। इस मत का आधार यह है—महाभाष्यकार ने एक सूत्र की व्याख्या में लिखा है 'इह पुष्यमित्र याजयामः' (यहाँ पुष्यमित्र को यज्ञ कराते हैं)। इस प्रयोग से विदित होता है कि पतञ्जलि ने पुष्यमित्र को यज्ञ कराया था। फलतः वे पुष्यमित्र के समकालिन थे। इतिहासकारों ने पुष्यमित्र का समय १५० ई० पू० माना है। अतः पतञ्जलि का समय भी यही है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से भी इस मत की पुष्टि की गई है। किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि भारतीय गणना के अनुसार पुष्यमित्र का समय १२०० ई० पू० के लगभग होना चाहिये। इसलिये पतञ्जलि का समय भी यही होगा।

पतञ्जलि को शेषनाग का अवतार माना जाता है। अतः कहीं कहीं उनके लिये फणिभृत, अहिपति इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। उन्होंने अपना मत प्रकट करते हुए गोनर्दीय शब्द का प्रयोग किया है—'गोनर्दीयस्त्वाह'। इससे विदित होता है कि वे गोनर्द प्रदेश के रहने वाले थे। व्याख्याकारों का अनुमान है कि जहाँ गाय बैल अधिक हृष्ट-पुष्ट होते हैं अतः विशेष रूप से नाद करते हैं (आधुनिक पञ्जाब तथा हरयाणा आदि), सम्भवतः यही प्रदेश पतञ्जलि का निवास स्थान रहा होगा।

पतञ्जलि ने पाणिनि के मुख्य मुख्य सूत्रों तथा कात्यायन के वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या की है। पाणिनि के प्रति उनकी अत्यधिक श्रद्धा प्रकट होती है। उन्होंने पाणिनि के कतिपय सूत्रों का प्रत्याख्यान भी किया है, किन्तु वहाँ लाघव एवं तथ्य-निरूपण की दृष्टि ही रही है। पतञ्जलि के मतानुसार जिस विद्वान् पाणिनि का एक वर्ण भी निरर्थक नहीं हो सकता, भला उसके दोष दर्शन का दुःसाहस कैसे किया जा सकता है? वार्तिककार के वार्तिकों की भी महाभाष्यकार ने व्याख्या की है उनकी उपयोगिता पर विचार भी किया है।

साथ ही सूत्रकार एवं वार्तिककार के वचनों की समीक्षा करते हुए अपना निर्णय भी दिया है। पाणिनीय व्याकरण में महाभाष्य के मन्तव्य सबसे अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। 'यथोत्तरं मुनिनां प्रामाण्यम्' इस न्याय के अनुसार पाणिनि के वचनों की अपेक्षा कात्यायन के वचन अधिक प्रामाणिक हैं तथा कात्यायन के वचनों से भी अधिक पतञ्जलि के वचन प्रामाणिक हैं। वस्तुतः पाणिनीय व्याकरण के परिनिष्ठित रूप का निर्धारण करना पतञ्जलि का ही कार्य है।

व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से ही पतञ्जलि का कार्य महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रत्युत शैली की दृष्टि से भी उनका महत्त्व सर्वोपरि है। उन्होंने रोचक शैली तथा प्रवाहमयी भाषा में व्याकरण के सूक्ष्म तत्त्वों का विश्लेषण किया है। व्याकरण जैसे नीरस माने गये विषय को इतनी सरल सरस शैली में स्पष्ट रूप से समझाना पतञ्जलि की अद्वितीय विशेषता है। इनकी शैली में नाटकीयता है, यत्र तत्र रोचक सवादों के दर्शन होते हैं। बोलचाल की मुहावरेदार भाषा का लालित्य उपलब्ध होता है। हां, शैली की सरसता एवं रोचकता में कभी-कभी यह निश्चय करना भी कठिन हो जाता है कि महाभाष्यकार का स्वमन्तव्य वस्तुतः क्या है।

व्याकरण के अतिरिक्त महाभाष्य में अन्य अनेक विषयों के सकेत भी उपलब्ध होते हैं। उससे भारतीय इतिहास के कितने ही विवादास्पद सन्दर्भों पर नवीन प्रकाश पड़ता है, तत्कालीन भारतीय समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं का परिचय भी मिलता है। किन्च, व्याकरण-दर्शन के विशिष्ट मन्तव्यों का बीज भी महाभाष्य में विद्यमान है। इसी के आधार पर आगे चलकर भर्तृहरि ने व्याकरण-दर्शन का विशद विवेचन किया है। महाभाष्य व्याकरण का आकर ग्रन्थ है।

यह ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत है। यहाँ सरल भाषा में सूक्ष्म एवं गहन अर्थ को प्रकट किया गया है। अतः चिरकाल से गुरुशिष्य-परम्परा द्वारा महाभाष्य के मर्म को समझने का प्रयास किया जाता रहा है। इसके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये अनेक टीकाएँ भी लिखी गई हैं। उनमें से कतिपय टीकाएँ

अधिक प्रसिद्ध रही हैं । भर्तृहरि ने 'महाभाष्य दीपिका' नामक एक टीका लिखी थी जिसका कुछ अंश ही उपलब्ध हो सका है । आज तो महाभाष्य के मर्म को समझने के लिये कैयटकृत 'प्रदीप' तथा नागेशकृत 'प्रदीपोद्योत' नामक टीकाएँ ही विशेष सहायक समझी जाती हैं ।

द्वितीय युग

महाभाष्य के साथ २ पाणिनि व्याकरण का प्रथम युग समाप्त हो गया । ईसा की सातवीं शताब्दी में फिर अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य पर कुछ सरलटीका-ग्रन्थ लिखे जाने लगे । यहीं से द्वितीय युग का प्रारम्भ हुआ समझना चाहिए । इस युग में पाणिनि व्याकरण पर अनेक टीका-ग्रन्थ लिखे गये । भर्तृहरि ने महाभाष्य पर टीका लिखी । वामन तथा जयादित्य (६६० ई०) ने अष्टाध्यायी पर 'काशिका' नामक वृत्ति लिखी । 'काशिका' पर जिनेन्द्र बुद्धि ने 'न्यास' नामक ग्रन्थ लिखा तथा हरदत्त ने 'पदमञ्जरी' नामक व्याख्या की । इस युग में ही पाणिनि व्याकरण का दार्शनिक विवेचन भी प्रारम्भ हो गया । भर्तृहरि (६५० ई०) ने 'वाक्यपदीय' नाम का ग्रन्थ लिखकर इस विवेचना का श्रीगणेश किया । इस युग की अन्तिम रचना कैयट की प्रदीप नामक टीका कही जा सकती है जो महाभाष्य पर लिखी गई सुन्दर टीका है ।

भर्तृहरि—(सप्तम शताब्दी)

भर्तृहरि का संस्कृत व्याकरण में अत्यन्त उच्च स्थान है । व्याकरण के मुनित्रय के पश्चात् उनकी ओर ही दृष्टि जाती है । फिर भी उनके विषय में हमारी जानकारी बहुत ही कम है ।

भर्तृहरि का समय भी अनिश्चित सा ही है । अनेक विद्वान् इत्सिग नामक चीनीयात्री के लेख का अनुसरण करके भर्तृहरि का समय सप्तम शती ई० का उत्तरार्ध मानते हैं । भारतीय परम्परा के अनुसार भर्तृहरि महाराज विक्रमादित्य के भाई थे । युधिष्ठिर मीमांसक ने इत्सिग के लेख की भूल की ओर संकेत करते हुए युक्ति एवं प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भर्तृहरि का समय ईसा से कई शताब्दी पूर्व होना चाहिये ।

भर्तृहरि के जीवनवृत्त के विषय में कुछ किंवदन्तियाँ प्रचलित है। कुछ प्रामाणिक विवरण भी मिलता है। वाक्यपदीय पर लिखी हुई पुण्यराज की टीका से विदित होता है कि भर्तृहरि के गुरु वसुरात थे। 'प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रहः' इस श्लोक की अवतरणिका मे पुण्यराज ने लिखा है—'तत्र भगवता वसुरातगुरुणा ममायमागमः संज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीतः।' इत्सिंग के विवरण के अनुसार वाक्यपदीय का रचयिता भर्तृहरि बौद्ध था उसने सात बार प्रव्रज्या ग्रहण की थी। किन्तु वाक्यपदीय के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि भर्तृहरि वैदिकमतानुयायी थे। एक स्थान पर उन्होने लिखा है—'वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्'। इसी प्रकार अन्य सन्दर्भों मे भी उनकी वेद के प्रति आस्था दिखलाई देती है।

भर्तृहरि की रचनाएँ—संस्कृत वाङ्मय मे भर्तृहरि के नाम से अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जैसे महाभाष्यदीपिका, वाक्यपदीय, नीतिशतक आदि शतकत्रय, भट्टिकाव्य तथा भागवृत्ति नामक अष्टाध्यायी की एक प्राचीन वृत्ति। इनके अतिरिक्त 'वेदान्तसूत्रवृत्ति' आदि कतिपय अन्य ग्रन्थों का भी भर्तृहरि से सम्बन्ध जोड़ा जाता है।

युधिष्ठिर मीमांसक ने यह सिद्ध किया है कि वाक्यपदीय तथा महाभाष्यदीपिका का रचयिता एक ही भर्तृहरि है, भट्टिकाव्य तथा भागवृत्ति के कर्त्ता उससे भिन्न हैं, किन्तु भट्टिकाव्य एवं भागवृत्ति के रचयिता भी परस्पर भिन्न ही हैं। इस प्रकार तीन भर्तृहरि हुए हैं, यह परिणाम निकलता है। जहाँ तक शतकत्रय का प्रश्न है, उसके विषय मे यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि यह किस भर्तृहरि की रचना है।

महाभाष्यदीपिका महाभाष्य पर लिखी गई एक विस्तृत व्याख्या थी। इत्सिंग के अनुसार इसका परिमाण २५००० श्लोक के बराबर था। यह व्याख्या अभी तक पूर्ण रूप से उपलब्ध नही हो सकी है। इसके उद्धरण अनेक ग्रन्थो मे मिलते हैं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञ टीका में भी इसकी ओर संकेत किया है—'संग्रहितसूत्र-भाष्यविवरणे बहुधा विचारितम्'।

आधुनिक युग में डा० कीलहार्न ने महाभाष्यदीपिका का प्रथमतः परिचय दिया है। जर्मनी में बर्लिन के पुस्तकालय में महाभाष्यदीपिका के एक अंश की हस्तलिपि विद्यमान है। इसकी फोटो कापी लाहौर तथा मद्रास के पुस्तकालयों में भी है। पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने इसका सम्पादन प्रारम्भ किया था।

वाक्यपदीय—यह व्याकरण दर्शन का ग्रन्थ है इसके तीन काण्ड हैं—ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड, प्रकीर्णकाण्ड। इसमें समस्त विश्व को शब्दब्रह्म का विवर्त माना गया है, स्फोट रूप शब्द का विशद वर्णन किया गया है तथा व्याकरण के विविध विषयों का प्रक्रिया एवं अर्थ की दृष्टि से विवेचन किया गया है [वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड के कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं, शेष वाक्यपदीय भी प्रकाशित हुआ है अभी कुछ समय पूर्व वाक्यपदीय का टिप्पणी सहित अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है]

इस प्रकार भर्तृहरि केवल महाभाष्य के व्याख्याकार ही नहीं हैं। उनका विशिष्ट महत्त्व तो इसमें है कि उन्होंने व्याकरण दर्शन के स्वरूप को व्यवस्थित किया है। महाभाष्य में जो व्याकरण दर्शन के मन्तव्य यत्र-तत्र कहीं संकेत रूप तथा कहीं स्पष्ट रूप में विद्यमान थे, उनका क्रमबद्ध वैज्ञानिक विश्लेषण प्रथमतः भर्तृहरि ने ही किया है। अपने इस मौलिक कार्य के कारण भर्तृहरि का सदा आदरपूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा।

तृतीय युग

तृतीय युग में पाणिनि व्याकरण के अध्ययन की दृष्टि बदल गई। विषयविभाग के अनुसार अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्यवस्था की जाने लगी। वास्तव में इस युग में शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया पर अधिक बल दिया जाने लगा और सूत्रों के विवेचन पर कम। इस दिशा में सर्व प्रथम प्रयास विमल सरस्वती (१३५० ई०) का था जिन्होंने 'रूपमाला' लिखी। इसी दृष्टि से रामचन्द्र (१५ शती) ने प्रक्रिया-कौमुदी लिखी। १ प्रक्रिया-युग में सब से महत्त्वपूर्ण स्थान भट्टोजि दीक्षित का है। इस समय के व्याकरण के दार्शनिक विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थों में

'वैयाकरण भूषण' उल्लेखनीय है जिसे भट्टोजि दीक्षित के भतीजे कौण्डभट्ट ने लिखा था।

भट्टोजि दीक्षित—(१६वीं शताब्दी ई० के लगभग)

भट्टोजिदीक्षित महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था। वैयाकरण भूषण के लेखक कौण्डभट्ट इनके छोटे भाई रङ्गोजिभट्ट के पुत्र थे। प्रौढ़मनोरमा की टीका 'शब्दरत्न' के लेखक हरिदीक्षित इनके पौत्र थे।

पण्डितराज जगन्नाथ कृत 'प्रौढ़मनोरमा-खण्डन' नामक ग्रन्थ से विदित होता है कि भट्टोजिदीक्षित ने नृसिंह के पुत्र शेषकृष्ण से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था। भट्टोजिदीक्षित ने 'शब्दकौस्तुभ' में शेषकृष्ण के लिये गुरु शब्द का प्रयोग भी किया है। एक अन्य स्थल पर इन्होंने अप्पय्य दीक्षित को भी नमस्कार किया है। (व्या० शा० का इतिहास पृ० ४४०)।

बेलवल्कर ने भट्टोजि दीक्षित का समय १६००–१६५० ई० माना है। कुछ विद्वान् इनका समय १५८० ई० (१६३७ वि० सं०) के लगभग मानते हैं। प० युधिष्ठिर मीमांसक ने कतिपय प्रमाणों के आधार पर यह निर्धारित किया है कि इनका जन्म-काल वि० सं० की सोलहवीं शताब्दी का प्रथम दशक मानना चाहिये।

भट्टोजि दीक्षित की कृतियाँ—

भट्टोजि दीक्षित ने अनेक ग्रन्थ लिखे थे। इन्होंने अष्टाध्यायी पर 'शब्द-कौस्तुभ' नामक एक वृत्ति लिखी थी। आज इस वृत्ति के प्रारम्भ के ढाई अध्याय तथा चतुर्थ अध्याय ही उपलब्ध हैं। यह ग्रन्थ किसी समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता रहा होगा। इसीलिये इस पर अनेक टीकाएँ लिखी भी गई थीं। सम्भवतः पण्डितराज जगन्नाथ ने 'कौस्तुभ-खण्डन' नामक ग्रन्थ भी लिखा था।

सिद्धान्तकौमुदी या वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी भट्टोजि दीक्षित की कीर्ति का प्रसार करने वाला मुख्य ग्रन्थ है। यह 'शब्द कौस्तुभ' के पश्चात् लिखा गया था। भट्टोजि दीक्षित ने स्वयं ही इस पर प्रौढ़मनोरमा नाम की टीका लिखी है। सिद्धान्तकौमुदी को प्रक्रिया-पद्धति का सर्वोत्तम ग्रन्थ समझा जाता है। इससे पूर्व

जो प्रक्रिया ग्रन्थ लिखे गये थे उनमें अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों का समावेश नहीं था। भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों को विविध प्रकरणों में व्यवस्थित किया है, इसी के अन्तर्गत समस्त धातुओं के रूपों का विवरण दे दिया है तथा लौकिक संस्कृत के व्याकरण का विवेचन करके वैदिक-प्रक्रिया एवं स्वर-प्रक्रिया को अन्त में रख दिया है। यहाँ भट्टोजि दीक्षित ने काशिका, न्यास एवं पदमञ्जरी आदि सूत्रक्रमानुसारिणी व्याख्याओं तथा प्रक्रिया कौमुदी और उसकी टीकाओं के मतों की समीक्षा करते हुए प्रक्रिया पद्धति के अनुसार पाणिनीय व्याकरण का सर्वाङ्गीण रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उन्होंने आवश्यकतानुसार परिभाषाओं वार्तिकों तथा भाष्येष्टियों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने मुनित्रय के मन्तव्यों का सामञ्जस्य दिखलाया है तथा महाभाष्य का आधार लेकर कुछ स्वकीय मत भी स्थापित किये हैं। साथ ही प्रसिद्ध कवियों द्वारा प्रयुक्त किन्हीं विवादास्पद प्रयोगों की साधुता पर भी विचार किया है। मध्ययुग में सिद्धान्तकौमुदी का इतना प्रचार एवं प्रसार हुआ कि पाणिनि व्याकरण की प्राचीन पद्धति एवं मुग्धबोध आदि व्याकरण पद्धतियाँ विलीन होती चली गई। कालान्तर में प्रक्रिया-पद्धति तथा सिद्धान्त-कौमुदी के दोषों की ओर भी विद्वानों की दृष्टि गई किन्तु वे इसे छोड़ न सके।

इनके अतिरिक्त भट्टोजि दीक्षित का 'वेदभाष्यसार' नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है (भारतीय विद्याभवन, बम्बई)। यह ऋग्वेद सायणभाष्य का सार है। इसकी भूमिका में भट्टोजि दीक्षित की ३४ कृतियों का उल्लेख किया गया है। इनमें 'धातुपाठ-निर्णय' नामक ग्रन्थ भी है। हस्तलिपियों में इनकी 'अमरटीका' नामक कृति उपलब्ध हुई है।

पाणिनीय व्याकरण में भट्टोजि दीक्षित का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाणिनि-व्याकरण पर उनका ऐसा अनूठा प्रभाव पड़ा है कि महाभाष्य का महत्त्व भी भुला दिया गया है। यह समझा जाने लगा है कि सिद्धान्तकौमुदी महाभाष्य का द्वार ही नहीं है अपितु महाभाष्य का संक्षिप्त किन्तु विशद सार है। इसी हेतु यह उक्ति प्रचलित है :—

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः ।
कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः ॥

प्रक्रिया के युग को शास्त्रार्थ के क्षेत्र मे प्रविष्ट कराने वालों में नागेश भट्ट का नाम अग्रगण्य है। इनकी प्रतिभा अनूठी थी। इनका विविध शास्त्रो पर समान अधिकार था। इन्होंने व्याकरण के क्षेत्र मे गङ्गेश उपाध्याय द्वारा प्रवर्तित नव्य-न्याय की शैली का प्रवेश किया तथा अनेक मौलिक एवं व्याख्या ग्रन्थो की रचना की।

नागेश भट्ट—(१७ वी तथा १८वीं शती ई०)

नागेश भट्ट या नागोजि भट्ट के जीवन वृत्त के विषय मे भी बहुत कम ज्ञात हो सका है। जनश्रुति के अनुसार ये महाराष्ट्र के एक ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। शब्देन्दु-शेखर के मङ्गल से विदित होता है कि उनके पिता का नाम शिवभट्ट तथा माता का नाम सती देवी था—'शिवभट्टसुतो धीमान् सतीदेव्यास्तु गर्भजः'। नागेश भट्ट के पूर्वज 'उपाध्याय' कहलाते थे। मङ्गल श्लोक मे बतलाया गया है कि नागेश-भट्ट शृङ्गवेरपुर के राजा राम के आश्रित थे शृङ्गवेरपुराधीशाद् रामतो लब्ध-जीविकः। विद्वानो का विचार है कि शृङ्गवेरपुर को आजकल सिंगरौरा कहा जाता है, यह प्रयाग से कुछ मील पर स्थित है (परमलघुमञ्जूषा बड़ौदा १९६१, भूमिका)। लघुशब्देन्दुशेखर के अन्तिम श्लोक से पता चलता है कि उनके कोई सन्तान न थी, शब्देन्दुशेखर को पुत्र और मञ्जूषा को कन्या मानकर उन्होंने शिव को अर्पित किया था—

शब्देन्दुशेखरः पुत्रो मञ्जूषा चैव कन्यका ।
स्वमतौ सम्यगुत्पाद्य शिवयोरर्पितौ मया ॥

जनश्रुति है कि वे षोडश वर्ष की आयु तक अशिक्षित रहे। एक बार अपनी अशिक्षा के कारण उन्हें पण्डितों की भर्त्सना सहन करनी पड़ी, जिससे उनके जीवन की दिशा बदल गई। तभी वे सरस्वती देवी की भक्ति मे लग गये और सरस्वती के वरदान से विद्वान् हो गये। उन्होंने हरिदीक्षित (भट्टोजि के पौत्र) से व्याकरण महाभाष्य का अध्ययन कि

[illegible] में [illegible] का [illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥

वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि नागेश भट्ट [illegible] (जो [illegible]) । [illegible] के [illegible] के [illegible] है ।

समय—इतना तो स्पष्ट है कि संवत् से लगभग १७० वर्ष पूर्व विद्यमान नागेश भट्ट का समय भी निश्चित नहीं है । इनके समय का निर्णय [illegible] पर अनुमान किया जाता है [illegible] है कि जयपुर के [illegible] सवाई जयसिंह ने अश्वमेध यज्ञ किया था और उसमें नागेश भट्ट को (१७१४ ई० में) निमन्त्रित किया था, किन्तु न तो भट्ट ने यह निमन्त्रण को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे उस समय [illegible] ले चुके थे । (ख) [illegible] पर नागेश भट्ट की एक टीका है, जिसकी हस्तलिखित प्रतिलिपि इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में विद्यमान है । उसका लेखन काल सं० १७८८ (१७३२ ई०) है । (ग) वैद्यनाथ [illegible] का पुत्र [illegible] जो नागेश भट्ट का शिष्य था [illegible] की प्रेरणा से [illegible]' नामक एक ग्रन्थ लिखा था । [illegible] १७८३–१८१६ ई० [illegible] में रहा । अतः नागेश भट्ट का समय १७वीं शताब्दी ई० के अन्त तथा १८वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ में है । (विशेष द्रष्टव्य सं० व्या० का इतिहास) ।

नागेश भट्ट की कृतियाँ –

नागेश भट्ट की व्याकरण सम्बन्धी रचनाएँ हैं—महाभाष्यप्रदीपोद्योत, लघुशब्देन्दुशेखर, बृहच्छब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर, लघुमञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा और स्फोटवाद ।

डा० वेलवलकर का विचार है कि प्रौढ़मनोरमा की टीका शब्दरत्न जो हरिदीक्षित के नाम से प्रसिद्ध है वह भी नागेश भट्ट की ही कृति है। इनके अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी नागेश भट्ट के ग्रन्थ हैं, जैसे काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका पर उद्योत नाम की टीका है, रसगङ्गाधर तथा योगसूत्रों पर भी व्याख्यायें हैं।

वस्तुतः संस्कृत वाङ्मय विशेषकर व्याकरण शास्त्र नागेश भट्ट के द्वारा गौरवान्वित हुआ है। नागेश भट्ट ने महाभाष्य के मर्म को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। व्याकरण दर्शन के क्षेत्र में उनका अद्वितीय स्थान है उन्होंने मञ्जूषा ग्रन्थ मे व्याकरण दर्शन का विशद विवेचन किया है। इस विवेचन मे वेदान्त की हृदयग्राह्यता है और न्याय की तर्कप्रवणता।

सिद्धान्त-कौमुदी पर अन्य भी अनेक टीकायें लिखी गई। उनमे परिव्राजकाचार्य ज्ञानेन्द्र सरस्वतीकृत 'तत्वबोधिनी' विशेष महत्त्वपूर्ण है। किन्तु छात्रों की दृष्टि से 'बालमनोरमा' नामक टीका अधिक उपयोगी है। पाणिनि-व्याकरण में बालकों का प्रवेश कराने के लिये भटोजि दीक्षित के शिष्य वरदराजाचार्य ने लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदी का निर्माण किया। लघुकौमुदी मे व्याकरण प्रक्रिया का सभी अपेक्षणीय विवरण वरदराज ने दिया है यह सिद्धान्त कौमुदी का संक्षिप्त सस्करण होते हुए भी एक विलक्षण कृति है।

३—पाणिनि व्याकरण के अध्ययनार्थ ज्ञातव्य बातें—

पाणिनि व्याकरण के सामान्य परिचय के साथ साथ यह भी जानना आवश्यक है कि सक्षेप की ओर पाणिनि का विशेष ध्यान रहा। इसके लिये उन्हें अनेक उपायों को काम में लाना पड़ा। जिनमे से कुछ का सक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

(१) प्रत्याहार—जब आदि के अक्षर का अन्त के इत्संज्ञक के साथ ग्रहण किया जाता है और उसके द्वारा आदि तथा मध्य के समस्त अक्षरों का बोध होता है तो उसे प्रत्याहार कहते हैं।१ ये प्रत्याहार विशेषकर वर्णमाला के वर्णों का बोध कराने के लिये माहेश्वरसूत्रों के आधार पर बनाये गये हैं; जैसे—

१. आदिरन्त्येन सहेता १।१।७१

अइउण् ।१। ऋलृक् ।२। एओङ् ।३। ऐऔच् ।३। हयवरट् ।४। लण् ।६।
अमङणनम् ।७। झभञ् ।८। घढधष् ।९। जबगडदश् ।१०। खफछठथचटतव् ।११।
कपय् ।१२। शषसर् ।१३। हल ।१४।।

ये १४ माहेश्वरसूत्र माने जाते हैं। इन सूत्रों के आधार पर अण् आदि-४२ प्रत्याहार बनते हैं। इन सूत्रो में अन्तिम हल् (व्यञ्जन) की इत्संज्ञा होती है।१ आदि अक्षर को इत्संज्ञक के साथ मिला कर प्रत्याहार बनता है; जैसे 'अइउण्' में अण प्रत्याहार बनता है जो अ, इ, उ, का बोध कराता है। इसी प्रकार अन्य प्रत्याहारो के विषय मे भी जानना चाहिये; जैसे तिङ प्रत्याहार है, यहाँ आदि 'ति'२ को अन्तिम इत् संज्ञक ङ के साथ मिला कर 'तिङ्' बनता है और इससे क्रिया से लगने वाले १८ (९ परस्मैपद+९ आत्मनेपद) प्रत्ययों का बोध होता है। वर्णमाला के ४२ प्रत्याहार ये हैं—(अकारादि क्रम से)

१ अक्	८ अश्	१५ ऐच	२२ जश्	२९ मप्	३६ रल्
२ अच्	९ इक्	१६ खय्	२३ झय्	३० मय्	३७ वल्
३ अट्	१० इच्	१७ खर्	२४ झर्	३१ यञ्	३८ वश्
५ अण	११ इण	१८ ङम्	२५ झल्	३२ यण्	३९ शर्
६ अण्	१२ उक्	१९ चय्	२६ झश्	३३ यम्	४० शल्
६ अम्	१३ एङ्	२० चर	२७ भष्	३४ यय्	४१ हल्
४ अल्	१४ एच्	२१ छव्	२८ बश्	३५ यर्	४२ हश्

(२) इत्संज्ञा - अष्टाध्यायी में निम्न वर्णों की इत्संज्ञा की गई है— (I) अन्त का हल्३, (II) उपदेश४ में अनुनासिक अच्, (स्वर)५ (III) प्रत्यय के आदि में आने वाले चवर्ग, टवर्ग६ तथा षकार७ (IV) तद्धितभिन्न प्रत्ययों

१. हलन्त्यम् १।३।३, २. तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथा— सार्थांध्वमिड्वहिमहिङ् ३।४।७८, ३. हलन्त्यम् १।३।३
४. धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम्।
आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥
५. उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२, ६. चुटू १।३।७, ७. षःप्रत्ययस्य १।३।६

आने वाला लकार, शकार तथा क वर्ग । १ (V) धातु के आदि
। २ इत्संज्ञक का लोप हो जाता है । ३ किन्तु लोप हो जाने पर भी
लक्षण मानकर कुछ कार्य हो जाया करता है । जैसे 'गर्गादिभ्यो यञ्
' से यञ् प्रत्यय होता है जिसमें ञ् इत् संज्ञक है अतः यञ् प्रत्यय
के ञित् होने से आदि को वृद्धि होती है और 'गार्ग्य' रूप बनता
क 'अनुबन्ध' कहलाते हैं और इनके कारण व्याकरण मे बड़ा लाघव
।

अधिकार—कुछ सूत्र ऐसे बनाये गये हैं जो यह बतलाते हैं कि अमुक
क सूत्र तक यह प्रत्यय होगा या यह कार्य होगा । ये अधिकार
जाते है । जैसे—'कारके ३' अथवा 'प्राग्दिशो विभक्तिः ५२८'

अनुवृत्ति—लाघव के लिये पाणिनि ने ऐसा किया है कि एक (पूर्व)
एक पद रख दिया, अग्रिम सूत्रों में जहाँ उस पद की आवश्यकता
से लेकर अन्वय कर लिया गया । पूर्व सूत्रों से अग्रिम सूत्रो में
अनुवर्तन को ही अनुवृत्ति कहते हैं । सामान्यत यह अनुवृत्ति एक
द वाले अग्रिम सूत्र मे जाती है और फिर क्रमशः आगे के सूत्रों में
किन्तु कभी २ बीच के सूत्रों मे किसी पद की अनुवृत्ति नही होती
प आगे के (व्यवहित) सूत्र मे हो जाती है । उसे मण्डूकप्लुति या
ा अनुवृत्ति कहते हैं । (देखिये पृ० १८) ।

अपकर्ष—जहाँ आगे के सूत्र से पूर्व सूत्र में किसी पद को खींच
ा है अर्थात् अन्वित किया जाता है वहाँ अपकर्ष कहा जाता है
१६८) ।

वश्यक शब्द—(i) एकादेश—जहाँ दो वर्णों को मिलाकर
जाता है वह एकादेश कहलाता है जैसे अ+इ=ए एकादेश होना
पररूप—जहाँ पूर्व तथा पर अक्षर को मिलाकर पररूप हो
हाँ पररूप कहलाता है, जैसे—प्र+एजते=प्रेजते, यहाँ अ+ए—

१ ...पदशादिन्ये १।३।८
३ ...व संज्ञ. १।१।६
२ आदिर्ञिटुडवः १।३।५

ए होता है। (iii) पूर्वरूप—जहाँ पूर्व तथा पर वर्ण के मिलने पर पूर्ववर्ण हो जाता है वह पूर्वरूप कहलाता है; जैसे—हरे+ग्रव=हरेऽव, यहाँ ए+ग्र =ए होता है। (iv) प्रकृतिभाव—जहाँ वर्णों को प्राप्त होने वाला कोई विकार नहीं होता, वह प्रकृतिभाव (जैसा का तैसा रहना) कहलाता है; जैसे गो+ग्रग्रम्=गो ग्रग्रम्; यहाँ विकल्प से ग्रो+ग्र=ग्रो+ग्र ही रहता है; पूर्वरूप ग्रादि नहीं होता।

(७) कुछ ज्ञातव्य संज्ञाएँ—(i) ग्रङ्ग—जिस धातु या प्रातिपदिक से प्रत्यय का विधान किया जाता है उसे ग्रङ्ग कहते है। १ जैसे—कर्ता, यहाँ कृ (प्रकृति) से तृच् प्रत्यय कहा गया है। कृ ग्रङ्ग है।

(ii) प्रातिपदिक—धातु ग्रौर प्रत्यय (प्रत्ययान्त) को छोड़ कर सभी ग्रर्थयुक्त शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। २ प्रत्ययान्तों में भी कृदन्त तद्धितान्त तथा समस्त पदो की प्रातिपादिक संज्ञा होती है। ३ प्रातिपादिक सज्ञक शब्द से सु ग्रादि (सुप्) प्रत्यय लगते हैं।

(iii) पद—(क) सुबन्त तथा तिङन्त की पद संज्ञा होती है; ४ जैसे—राम+सु=रामः यह सुबन्त है ग्रौर पठ्+ग्र+ति=पठति यह तिङन्त पद है। सु से लेकर सुप् तक के सातों विभक्तियों के २१ प्रत्यय सुप् कहलाते हैं तथा ति से लेकर महिङ् तक धातु से लगने वाले १८ प्रत्यय तिङ् कहे जाते हैं। ये सुप् ग्रौर तिङ् प्रत्याहार हैं। (ख) सित् (जिसमें स् की इत्संज्ञा हो) प्रत्यय परे होने पर पूर्व की पदसंज्ञा होती है। ५ (ग) सर्वनामस्थान ६ को छोड़कर सु से लेकर कप् तक के प्रत्यय परे होने पर पूर्व की पद संज्ञा होती है। ७ पद सज्ञा हो जाने से राजत्वम्=(राजन्+त्व) मे नलोप होता हैं।

---

१ यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १।४।१३
२ ग्रर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपादिकम् १।२।४५
३ कृत्तद्धित[illegible]श्च १।२।४६
४ सुप्तिङ[illegible] ५ सिति च १।१।१६
६ नपु[illegible] के तीन प्रत्यय सु, ग्रौ, जस् तथा द्वितीया
[illegible] कहलाते हैं (सुडनपुंसकस्य १।१।४३)।
[illegible]७

(Vi) भ संज्ञा—(क) जिस प्रत्यय के आरम्भ मे यकार या अच् (स्वर) है उसके परे होने पर पूर्व की भ सञा होती है, पद सञा नहीं १। (ख) न्त और सकारान्त शब्द की मत्वर्थ प्रत्यय परे होने पर भ सज्ञा है।२

V) विभाषा—प्रतिषेध तथा विकल्प की विभाषा सज्ञा होती है (नवेति १।१।४४) विभाषा का अर्थ है किसी कार्य का विकल्प से होना। था 'अन्यतरस्याम्' शब्दों का भी विभाषा शब्द के अर्थ मे प्रयोग किया है। यह विभाषा कई प्रकार की होती है, जैसे १. प्राप्त विभाषा—नियम से प्राप्त हुए कार्य का विकल्प, २. अप्राप्त विभाषा– किसी नियम प्त कार्य का विकल्प से विधान, ३. उभयत्र विभाषा (प्राप्ताप्राप्त)—कही प्राप्त तथा कहीं अप्राप्त विधि का विकल्प, ४. व्यवस्थित —व्यवस्था से विकल्प अर्थात् कही कार्य होना कही न होना (देखिये)।

i) उपधा—अन्तिम वर्ण से पहले वाले वर्ण की उपधा संज्ञा होती ोऽन्त्यात् पूर्व उपधा १।१।६५)। जैसे–पठ् में थकार से अगले अकार ा संज्ञा है।

i) टि—किसी शब्द का अन्तिम स्वर-सहित आगे वाला अंश टि है (अचोऽन्त्यादिटि १।१ ६४) जैसे पठ् मे अठ् टि सज्ञक है।

ii) सयोग—जब व्यञ्जनो (हल्) के बीच मे स्वर नही होते तो यह का संयोग कहलाता है (हलोऽनन्तरा: संयोग. १।१।७)। जैसे अल्प ्प् का संयोग है।

) सम्प्रसारण—य्, व्, र्, ल्, के स्थान पर होने वाले इ, उ, ऋ ी सम्प्रसारण संज्ञा होती है (इग्यण: सम्प्रसारणम् १।१।४५)

गुण—अ, ए तथा ओ की गुण सज्ञा होती है (अदेङ् गुणः १।१।१)।
वृद्धि—आ, ऐ तथा औ की वृद्धि संज्ञा होती है (वृद्धिरादैच्

े भम। १।४ १८ २ तसौ मत्वर्थे १।४।१६

(Xii) लोप—प्राप्त प्रत्ययादि का अपने स्थान पर दृष्टिगोचर न होना कहलाता है (अदर्शनं लोपः १।१।६०)। प्रत्यय के लोप की विविध स्थानों [ल]क्, श्लु तथा लुप् संज्ञा होती है (प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः १।१।६१)अर्थात् संज्ञा से प्रत्यय का लोप कहा जाता है उसकी वही संज्ञा होती है।

(Xiii) आदेश—किसी वर्ण आदि के स्थान पर दूसरा वर्ण आदि होना [आदेश] कहलाता है, जैसे समास में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् हो जाता है।

(XiV) आगम—किसी वर्ण आदि का प्रकृति या प्रत्यय के साथ आ[ना] आगम कहलाता है। ये आगम प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—टित्, [कित्] तथा मित्। जो टित् आगम होता है, वह जिसे कहा जाता है उसके आदि [में होत]ा है, कित् अन्त में होता है।१ मित् अन्त्य के अच् से परे होता है।२

[टि]प्पणी—आदेश तथा आगम प्राचीन संज्ञाएँ हैं, पाणिनि ने इनके लिये [स]ूत्र नहीं बनाया।

(८) शब्द-सिद्धि में सहायक कुछ अन्य उपाय—(१) योग-विभाग-कभी कुछ प्रयोगों में किसी प्रत्यय आदि का विधान यथोपलब्ध नियमों [से नह]ीं होता ऐसी दशा में महाभाष्यकार आदि ने सूत्र के दो अंश (योग [विभाग]) करके शब्दों की सिद्धि दिखलाई है यही योग-विभाग कहलाता है। [देखि]ये सूत्र ९८ आदि)।

(ii) ज्ञापक—कभी कभी किसी नियम के अनुसार कोई शब्द सिद्ध नहीं [होता] किन्तु ... आदि आचार्यों के द्वारा किये हुए प्रयोग से उसकी साधुता [सिद्ध] होती ... होते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य प्रकार

...)।

... कुछ सूत्रादि द्वारा प्रकट न होने वाली ... या इष्टि नाम से प्रसिद्ध हैं।

... में यत्र तत्र कुछ पारिभाषिक शब्दों ... [पृ० २५०] आकृतिगण आदि। ... किया गया है। इन सब बातों ... सहायक हैं।

... १।१ ४७

अथ कारकप्रकरणम्

१। प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६।
नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात्।

अथ कारकप्रकरणम्—'कारक' शब्द का अर्थ है क्रिया से सम्बन्ध रखने वाला[1]। किसी वाक्य में जिस संज्ञा, सर्वनाम आदि का क्रिया से सम्बन्ध होता है, वही कारक कहलाता है। जिन शब्दों का क्रिया से सीधा सम्बन्ध नहीं, वे कारक नहीं कहलाते, जैसे-"देवदत्तः यज्ञदत्तस्य पुस्तकं पठति" (देवदत्त यज्ञदत्त की पुस्तक पढ़ता है) यहाँ देवदत्त पठन क्रिया का करने वाला है और पुस्तक पढ़ी जाती है अतः ये दोनों कारक हुए, किन्तु 'यज्ञदत्त' का पठन क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं, उसका सम्बन्ध है पुस्तक से, इसलिये 'यज्ञदत्त' यहाँ कारक नहीं। इस प्रकार सम्बन्ध को कारक नहीं कह सकते। संस्कृत व्याकरण के अनुसार केवल ६ कारक हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण; जैसा कि कहा भी है—

कर्त्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाधिकरणे इत्याहुः कारकाणि षट्॥

वस्तुतः सिद्धान्तकौमुदी का यह प्रकरण विभक्ति-प्रकरण है, जिसमें सातों विभक्तियों का वर्णन किया गया है।

प्रथमा विभक्ति। १. प्रातिपदिकेति—शब्द से जिस अर्थ की नियमपूर्वक उपस्थिति होती है वह प्रातिपदिकार्थ है। सूत्र में 'मात्र' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है, अतः केवल प्रातिपदिकार्थ लिङ्ग मात्र एवं परिमाण मात्र अधिक होने पर तथा संख्या मात्र को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है।

इस प्रकार प्रथमा विभक्ति निम्न चार अर्थों में होती है—
(१) प्रातिपदिकार्थ मात्र, (२) लिङ्ग मात्र से युक्त प्रातिपदिकार्थ,
(३) परिमाण मात्र से युक्त प्रातिपदिकार्थ, (४) वचन मात्र।

१. क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्।

(Xii) लोप—प्राप्त प्रत्ययादि का अपने स्थान पर दृष्टिगोचर न होना लोप कहलाता है (अदर्शनं लोपः १।१।६०)। प्रत्यय के लोप की विविध स्थलों पर लुक्, श्लु तथा लुप् संज्ञा होती है (प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः १।१।६१)अर्थात् जिस संज्ञा से प्रत्यय का लोप कहा जाता है उसकी वही संज्ञा होती है।

(Xiii) आदेश—किसी वर्ण आदि के स्थान पर दूसरा वर्ण आदि होना आदेश कहलाता है, जैसे समास में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् हो जाता है।

(XiV) आगम—किसी वर्ण आदि का प्रकृति या प्रत्यय के साथ आ मिलना आगम कहलाता है। ये आगम प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—टित्, कित् तथा मित्। जो टित् आगम होता है, वह जिसे कहा जाता है उसके आदि में होता है, कित् अन्त मे होता है।१ मित् अन्त्य के अच् से परे होता है।२

टिप्पणी—आदेश तथा आगम प्राचीन संज्ञाएँ हैं, पाणिनि ने इनके लिये कोई सूत्र नहीं बनाया।

(८) शब्द-सिद्धि में सहायक कुछ अन्य उपाय—(i) योग-विभाग-कभी-कभी कुछ प्रयोगों में किसी प्रत्यय आदि का विधान यथोपलब्ध नियमों से नहीं होता ऐसी दशा में महाभाष्यकार आदि ने सूत्र के दो भाग (योग विभाग) करके शब्दों की सिद्धि दिखलाई है यही योग-विभाग कहलाता है। (देखिये सूत्र ६८ आदि)।

(ii) ज्ञापक—कभी कभी किसी नियम के अनुसार कोई शब्द सिद्ध नहीं होता किन्तु पाणिनि आदि आचार्यों के द्वारा किये हुए प्रयोग से उसकी साधुता सिद्ध होती है यह ज्ञापक सिद्ध प्रयोग होते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य प्रकार के भी ज्ञापक होते हैं (देखिये पृ० ५८)।

(iii) इष्टि—महाभाष्यकार ने कुछ सूत्रादि द्वारा प्रकट न होने वाली बातों को अभीष्ट माना है वे भाष्येष्टि या इष्टि नाम से प्रसिद्ध हैं।

(६) इसके अतिरिक्त विविध प्रकरणों में यत्र तत्र कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रसङ्ग भी आ गया है। जैसे—निपातन [पृ० २५०] आकृतिगण आदि। उनकी व्याख्या यथास्थान करने का प्रयास किया गया है। इन सब बातों का ध्यान रखना संस्कृत व्याकरण के अध्ययन में विशेष सहायक है।

१ आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६ २ मिदचोऽन्त्यात्परः १।१।४७

अथ कारकप्रकरणम्

१। प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६।
नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात्।

अथ कारकप्रकरणम्—'कारक' शब्द का अर्थ है क्रिया से सम्बन्ध रखने वाला[1]। किसी वाक्य में जिस संज्ञा, सर्वनाम आदि का क्रिया से सम्बन्ध होता है, वही कारक कहलाता है। जिन शब्दों का क्रिया से सीधा सम्बन्ध नहीं, वे कारक नहीं कहलाते, जैसे—"देवदत्तः यज्ञदत्तस्य पुस्तकं पठति" (देवदत्त यज्ञदत्त की पुस्तक पढ़ता है) यहाँ देवदत्त पठन क्रिया का करने वाला है और पुस्तक पढ़ी जाती है अतः ये दोनों कारक हुए, किन्तु 'यज्ञदत्त' का पठन क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं, उसका सम्बन्ध है पुस्तक से, इसलिये 'यज्ञदत्त' यहाँ कारक नहीं। इस प्रकार सम्बन्ध को कारक नहीं कह सकते। संस्कृत व्याकरण के अनुसार केवल ६ कारक हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण; जैसा कि कहा भी है—

> कर्त्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।
> अपादानाधिकरणे इत्याहुः कारकाणि षट्॥

वस्तुतः सिद्धान्तकौमुदी का यह प्रकरण विभक्ति-प्रकरण है, जिसमें सातों विभक्तियों का वर्णन किया गया है।

प्रथमा विभक्ति। १. प्रातिपदिकेति—शब्द से जिस अर्थ की नियमपूर्वक उपस्थिति होती है वह प्रातिपदिकार्थ है। सूत्र में 'मात्र' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है, अतः केवल प्रातिपदिकार्थ लिङ्ग मात्र एवं परिमाण मात्र अधिक होने पर तथा संख्या मात्र को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है।

इस प्रकार प्रथमा विभक्ति निम्न चार अर्थों में होती है—

(१) प्रातिपदिकार्थ मात्र, (२) लिङ्ग मात्र से युक्त प्रातिपदिकार्थ, (३) परिमाण मात्र से युक्त प्रातिपदिकार्थ, (४) वचन मात्र।

---

[1] क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्।

उच्चैः। नीचैः। कृष्णः। श्रीः। ज्ञानम्। अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरणम् अनियतलिङ्गास्तु लिङ्ग-मात्राधिक्यस्य। तटः। तटी। तटम्। परिमाणमात्रे, द्रोणो व्रीहिः।

प्रातिपदिकार्थमात्रे—सार्थक शब्द को प्रातिपदिक कहते हैं। अंग्रेजी में जो शब्द की Crude form कहलाती है वही प्रातिपदिक समझना चाहिये। जिस शब्द के बोलने पर जो अर्थ नियम से उपस्थित होता है, उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। शब्द के इस नियत अर्थ को प्रकट करने के लिये भी विभक्ति लगानी पड़ती है, क्योंकि संस्कृत में पद का ही प्रयोग किया जाता है (नापदं प्रयुञ्जीत तथा न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः) और सुबन्त या तिङन्त को ही पद कहते हैं (सुप्तिङन्तं पदम्)। प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होती है। जो शब्द अलिङ्ग हैं अर्थात् किसी लिङ्ग का बोध नहीं कराते अथवा जो नियत लिङ्ग वाले हैं अर्थात् जिनके अर्थ के साथ-साथ लिङ्ग का बोध भी नियत रूप से हो जाता है, वे ही इसके उदाहरण हैं। जैसे—उच्चैस्, नीचैस् ये अलिङ्ग अव्यय शब्द हैं। इनसे प्रथमा विभक्ति होकर उच्चैस्+सु→सु लोप, 'अव्ययों से सुप् का लोप हो जाता है) और पद हो जाने से स् को विसर्ग होकर उच्चैः आदि रूप होते हैं *। कृष्ण शब्द से पुंलिङ्ग की, 'श्री' शब्द से स्त्रीलिङ्ग की तथा 'ज्ञान' शब्द से नपुंसक लिङ्ग की नियम से प्रतीति होती है। अतः ये नियतलिङ्ग के उदाहरण हैं। इनसे प्रथमा विभक्ति होकर कृष्णः, श्रीः तथा ज्ञानम् रूप होते हैं।

लिङ्गमात्राधिक्ये—प्रातिपदिकार्थ के बिना केवल लिङ्ग आदि की प्रतीति तो होती नहीं अतः लिङ्ग मात्र का अधिक बोध कराने के लिये प्रथमा होती है यह अर्थ समझना चाहिये। अनियत लिङ्ग वाले शब्द इस के उदाहरण हैं। जैसे—तटः, तटी, तटम् ये शब्द 'किनारा' अर्थ के साथ-साथ क्रमशः पुंलिङ्ग आदि का भी बोध कराते हैं, जो इनका नियत अर्थ नहीं। तट शब्द ... लिङ्ग वाला है, इसका नियत लिङ्ग एक नहीं। कभी पुंलिङ्ग कभी कभी नपुंसकलिङ्ग हो जाता है। इस प्रकार 'तटः' आदि शब्द

... के अनुसार अव्यय शब्दों से भी प्रथमा विभक्ति आती है ... लोप हो जाता है। विभक्ति लगने पर ही अव्यय शब्द पद ... है और प्रयोग के योग्य होते हैं।

द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः। प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः। वचनं संख्या। एकः। द्वौ। बहवः। इहोक्तार्थत्वाद्विभक्तेरप्राप्तौ वचनम्॥

का नियत अर्थ तटत्व (किनारा) है। उससे अधिक पुंस्त्व आदि का ज्ञान भी यहाँ होता है। अतः ये लिङ्गमात्राधिक्य के उदाहरण हैं।

परिमाणमात्राधिक्ये—(उपर्युक्त रीति से) परिमाण मात्र अधिक होने पर प्रथमा विभक्ति होती है। जैसे द्रोणः व्रीहिः। 'द्रोण' एक परिमाण (माप) का नाम है। यदि यहाँ 'द्रोणः' शब्द में प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होती तो 'द्रोण रूप जो परिमाण उससे अभिन्न व्रीहि' यह अर्थ प्रतीत होता। क्यों? यहाँ जो परिमाण है वह नाम (प्रातिपदिक) का अर्थ होता; और नियम यह है कि समान विभक्ति वाले नाम पदों के अर्थों का अभेदान्वय हुआ करता है (नामार्थयोरभेदान्वयः)। किन्तु यहाँ 'द्रोण परिमाण से मापा हुआ व्रीहि' यह अर्थ अभीष्ट है। अतः परिमाणमात्राधिक्य में प्रथमा विभक्ति का विधान किया गया है। फलतः—यहाँ द्रोण शब्द से होने वाली प्रथम सामान्यपरिमाण अर्थ को प्रकट करती है। द्रोण शब्द का अर्थ है—द्रोण नामक परिमाण-विशेष। इसलिये द्रोण (प्रकृति) का अर्थ (परिमाण-विशेष) प्रथमा के अर्थ परिमाण सामान्य में अभेद सम्बन्ध से अन्वित हो जाता है और "द्रोण रूप परिमाण" यह अर्थ हो जाता है। अब परिमाण प्रत्यय का अ है अतः इस अर्थ का परिच्छेद्य-परिच्छेदक-भाव सम्बन्ध से व्रीहि में अन्वय होत है और "द्रोण रूप परिमाण से मापा हुआ व्रीहि" यह अर्थ हो जाता है

वचनमात्रे—वचन कहते हैं संख्या को। केवल संख्या को प्रकट कर के लिये प्रथमा विभक्ति होती है, जैसे एकः, द्वौ, बहवः। यहाँ एकत्व, द्वि तथा बहुत्व शब्दों के अर्थ से ही प्रकट है। किन्तु, प्रथमा विभक्ति के प्रत्यय सु, औ, जस् हैं उनका भी क्रमशः एकत्व, द्वित्व, बहुत्व अर्थ हो है। अतः 'उक्तार्थानामप्रयोगः' (उक्त अर्थों का पुनः प्रयोग नहीं होता) द

---

१. जिससे कोई चीज मापी या तोली जाती है वह परिच्छेदक कहलाता और जो चीज मापी या तोली जाती है वह परिच्छेद्य।

२। संबोधने च ।२।३।४७। इह प्रथमा स्यात्। हे राम ॥
इति प्रथमा ॥

३। कारके १।४।२३। इत्यधिकृत्य ॥

४। कर्तुरीप्सिततमं कर्म ।१।४।४९। कर्तुःक्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। कर्तुः किम् ? माषेष्वश्वं

न्याय से प्रथमा विभक्ति नहीं होनी चाहिये थी, इसीलिये सूत्र में 'वचन' ग्रहण किया गया है।

२ सम्बोधन इति—सम्बोधन में अर्थात् प्रातिपदिकार्थ की अपेक्षा सम्बोधन मात्र अर्थ अधिक होने पर भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है। इस प्रकार संस्कृत भाषा में सम्बोधन के लिये पृथक् विभक्ति नहीं है। जैसे—हे राम! यहाँ राम शब्द से प्रथमा विभक्ति होकर (राम+सु), सम्बोधन में सु का लोप हो जाता है। इति प्रथमा।

द्वितीया विभक्ति ३ कारके—इस सूत्र से कारक का अधिकार करके कर्म आदि कारकों की संज्ञा की गई है। यह अधिकार सूत्र है। इसके आगे जो कर्म आदि संज्ञाविधायक सूत्र हैं उन सब में 'कारक' पद का अन्वय होता है।

४ कर्तुरिति—कर्त्ता अपनी क्रिया से जिस पदार्थ को प्राप्त करने की अधिक इच्छा रखता है वह कारक कर्मसंज्ञक होता है।

कर्तुः किमिति—जो कर्त्ता की क्रिया द्वारा उसे सबसे अधिक अभीष्ट होता है वही कर्मसंज्ञक होता है। ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि यदि कोई पदार्थ कर्म आदि को अभीष्ट हो और कर्ता को अभीष्ट न हो तो उसकी कर्म संज्ञा नहीं होगी, जैसे—'उड़दों (माष) में घोड़े को बांधता है।' यहाँ उड़द कर्म (अश्व) को अभीष्ट हैं वही उन्हें खाना चाहता है। कर्त्ता के उड़द अभीष्ट नहीं, उसका अभीष्ट तो अश्व को बांधना ही है। इस हेतु अश्व को कर्म संज्ञा होगी माष की नहीं। 'माष' बन्धन क्रिया का अधिकरण है अतः [illegible] सप्तमी विभक्ति है।

बध्नाति । कर्मण ईप्सिता मापा न तु कर्तुः । तमब्ग्रहणं किम् ? पयसा ओदनं भुङ्क्ते । कर्मेत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधार-निवृत्त्यर्थम् । अन्यथा गेहं प्रविशतीत्यत्रैव स्यात् ।

५। अनभिहिते २।३।१। इत्यधिकृत्य ॥

तमब इति—ईप्सित शब्द में तमप् प्रत्यय क्यों लगाया ? इसलिये कि जो वस्तु कर्त्ता को अपनी क्रिया द्वारा सबसे अधिक अभीष्ट हो, उसकी कर्म संज्ञा होनी चाहिये, अन्य की नहीं । जैसे –'पयसा ओदनं भुङ्क्ते' (दूध से भात खाता है) यहाँ कर्त्ता को अपनी भोजन क्रिया से ओदन अभीष्टतम है । यद्यपि वह दूध भी प्राप्त करना चाहता है तथापि दूध भोजन क्रिया में साधन ही है, वह भोजन का उद्देश्य नहीं है । इससे ओदन की कर्म संज्ञा होती है पयः की नहीं ।

कर्म इति–यहाँ पाणिनि के सूत्रों का क्रम है–आधारोऽधिकरणम् १।४।४५, अधिशीङ्स्थासां कर्म १।४।४६, अभिनिविशश्च १।४।४७ उपान्वध्याङ्वसः १।४।४८ कर्तुरीप्सिततमं कर्म १।४।४९। इस प्रकार 'अधिशीङ् स्थासां कर्म' १।४।४६ सूत्र से 'कर्म' आ ही रहा था (अनुवृत्ति हो रही थी) फिर 'कर्म' का ग्रहण आधार निवृत्ति के लिये किया गया है। नहीं तो कर्म के साथ आधार भी चला आता तब 'गेहं प्रविशति' आदि में अभीष्टतम आधार 'गेहं' की ही कर्म संज्ञा होती, 'हरिं भजति' आदि में हरि की नहीं। कर्म ग्रहण करने पर तो वहाँ से किसी शब्द की भी अनुवृत्ति नहीं होती और हरिं भजति आदि में भी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

५ अनभिहित इति—'अनभिहित अर्थ में' इसका अधिकार करके। अनभिहित शब्द का अर्थ है—अनुक्त। जिस अर्थ में कोई प्रत्यय आदि होता है वह अर्थ उक्त हो जाता है, जैसे—'सेव्यते' में कर्म में (तिङ्) प्रत्यय हुआ है, वहाँ कर्म उक्त हो जाता है। उक्त अर्थ से भिन्न अर्थ अनुक्त या अनभिहित होता है। यह अधिकार सूत्र है। आगे के द्वितीया आदि विभक्ति के विधायक सभी सूत्रों में 'अनभिहिते' पद का अन्वय होता है।

६। कर्मणि द्वितीया २।३।२। अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। हरिं भजति। अभिहिते तु कर्मणि प्रातिपदिकार्थ-मात्र इति प्रथमैव। अभिधानं तु प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः। तिङ्, हरिः सेव्यते। कृत्, लक्ष्म्या सेवितः। तद्धितः, शतेन

---

६ कर्मणीति—अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

हरिं भजति—(हरि को भजता है) इस वाक्य में कर्ता (भक्त) का ईप्सिततम 'हरि' है। हरि की १. 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र से कर्म संज्ञा हो जाती है। 'भजति' क्रिया कर्तृवाच्य की है यहाँ लकार (ति) कर्ता में हुआ है, इसलिये कर्म अनुक्त है किसी प्रत्यय आदि से कहा नहीं गया। अनुक्त कर्म होने से 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति होती है।

अभिहित इति—उक्त कर्म में तो प्रातिपदिकार्थ इत्यादि नियम से प्रथमा ही होती है।

संक्षेप में यह समझना चाहिये कि कर्तृवाच्य के कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। कर्मवाच्य में लकार कर्म में होता है अतः कर्म उक्त हो जाता है। यहाँ (उक्त) कर्म में प्रातिपदिकार्थ मात्र को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है, जैसे—'हरिः सेव्यते' यहाँ 'हरिः' प्रथमा विभक्ति में है।

अभिधानं चेति—प्रायः तिङ्, कृत्, तद्धित और समास से कर्म आदि कारक उक्त होते हैं।

हरिः सेव्यते—यहाँ कर्म तिङ् से उक्त है, क्योंकि यहाँ कर्म में लकार होता है, कर्मवाच्य की क्रिया है। अतः 'हरिः' में प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति है।

लक्ष्म्या सेवितः—में 'सेवितः' शब्द 'सेव्' धातु से 'क्त' प्रत्यय (कृत्) होकर बना है। 'क्त' प्रत्यय कर्म में हुआ है अतः कर्म कृत्प्रत्यय 'क्त' से उक्त हो गया। इसीलिये 'लक्ष्म्या सेवितः हरिः' यहाँ 'हरि' में द्वितीया विभक्ति नहीं होती किन्तु कर्म उक्त होने से प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा होती है।

[illegible] ।१।४।६१।।

क्रीतः शत्यः। समासः, प्राप्त आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः। क्वचिन्निपातेनाभिधानं यथा 'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्'। साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यत इत्यर्थः।

७। तथायुक्तं चानीप्सितम् ।१।४।५०। ईप्सिततमवत्क्रियया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते ॥

शत्यः—शतेन क्रीतः (सौ से खरीदा हुआ)। यहाँ शत शब्द से कर्म अर्थ में 'यत्' तद्धित प्रत्यय (शताच्च ठन्यतावशते ५।१।२१।) होकर 'शत्य' शब्द बनता है कर्म तद्धित से उक्त है अतः 'शत्यः' में द्वितीया विभक्ति न होकर प्रथमा ही होती है।

प्राप्तानन्दः—प्राप्तः आनन्दो यं सः (देवदत्तादिः) प्राप्तानन्दः। यहाँ प्राप्त और आनन्द दोनों शब्दों का द्वितीयार्थ में बहुव्रीहि समास हुआ है। अन्य पदार्थ (देवदत्तादि) का कर्म बहुव्रीहि समास से उक्त हो जाता है इसलिये 'प्राप्तानन्दः' इस समस्त पद का जो अन्यार्थ है उसके वाचक पद से द्वितीया नहीं होती अपितु प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा ही होती है 'प्राप्तानन्दो देवदत्तः' इति।

'अभिधानं तु प्रायेण' में प्रायेण शब्द रखने का तात्पर्य दिखलाते हैं क्वचिन्निपातेनेति कहीं-कहीं निपात के द्वारा भी कर्म आदि उक्त हो जाते हैं। च, वा इत्यादि अव्ययों की निपात संज्ञा है। 'साम्प्रतम्' यह भी निपात है। 'साम्प्रतम्' का अर्थ है-उचित। असाम्प्रतम्-उचित नहीं (न युज्यते) विषवृक्षोऽपि आदि में विषवृक्ष 'संवर्ध्य' तथा 'छेत्तुम्' का कर्म है। असाम्प्रतम्' निपात द्वारा विषवृक्ष की यह कर्मता उक्त हो गई है, इसी हेतु विषवृक्ष शब्द से द्वितीया विभक्ति नहीं होती, प्रथमा होती है। किन्हीं का मत है कि यह कर्म 'अपि' निपात द्वारा 'उक्त' हो गया है।

७. तथायुक्तमिति—जो पदार्थ कर्ता के अनीप्सित होते हुए भी ईप्सिततम की तरह क्रिया से युक्त होते हैं, उनकी भी कर्म संज्ञा होती है।

---

१. तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ।३।४।७०।।

८। अकथितं च १।४।५१। अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

ये अनीप्सित पदार्थ दो प्रकार के होते हैं —१ उपेक्ष्य—जिसके प्रति कर्ता उदासीन रहता है और २. द्वेष्य-जिसके प्रति कर्ता द्वेष रखता है। इन दोनों प्रकार के पदार्थों पर *यदि क्रिया का फल पड़ता है तो ये कर्मसंज्ञक होते* हैं और कर्म में द्वितीया होती है।

ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति –(ग्राम को जाता हुआ तिनके को छूता है) यहाँ जाने वाले के लिये 'तृण' उपेक्ष्य है किन्तु छूना क्रिया के फल से युक्त होने के कारण 'तृण' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

विषं भुङ्क्ते—(*विष खाता है*) *यहाँ विष द्वेष्य है किन्तु जिस प्रकार* ओदन (भात) खाने में ओदन का भोजन क्रिया से सम्बन्ध होता है उसी *प्रकार यहाँ विष पर भी भोजन क्रिया का फल पड़ता है,* इसी लिये विष की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है।

टिप्पणी—यदि किसी को तृण का स्पर्श करना अथवा विष खाना ही अभीष्ट है तो वहाँ जो 'तृणं स्पृशति', विषं भुङ्क्ते प्रयोग होंगे उनमें पूर्वसूत्र (४) से ही कर्मसंज्ञा होगी।

८ अकथितमिति—अपादान आदि विशेष रूपों से अविवक्षित कारक कर्मसंज्ञक होता है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ अपादान आदि का अर्थ प्रकट होता हो किन्तु वक्ता उसका *प्रयोग नहीं करना चाहता। (अकथित=अविवक्षित) तथा कर्म* की विवक्षा रखता है वहाँ उस कारक की कर्म संज्ञा होती है।

टिप्पणी—(१) अकथितं च सूत्र से जो कर्म होता है उसे गौण या अप्रधान कर्म कहते हैं और 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' से जो कर्म होता है वह प्रधान कर्म कहा जाता है।

(२) जिन धातुओं में दो कर्म होते हैं वे द्विकर्मक कहलाती हैं।

दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम् ।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम् ॥

दुहादीनां द्वादशानां तथा नीप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्मेति परिगणनं कर्तव्यमित्यर्थः । गां दोग्धि पयः । बलिं याचते वसुधाम् । अविनीतं विनयं याचते । तण्डुलानोदनं पचति । गर्गान् शतं दण्डयति । व्रजमवरुणद्धि गाम् ।

दुह् इति—१-दुह् (दुहना), २-याच् (माँगना), ३-पच् (पकाना), ४-दण्ड् (दण्ड देना), ५-रुध् (रोकना), ६-प्रच्छ् (पूछना), ७-चि (चुनना), ८-ब्रू (कहना), ९-शास् (शासन करना), १० जि (जीतना), ११-मन्थ् (मथना), १२-मुष् (चुराना), १३-नी (ले जाना), १४-हृ (हरना, ले जाना), १५-कृष् (खींचना), १६-वह् (ले जाना, ढोना),—इन दुह् आदि १२ तथा नी आदि ४ कुल मिलाकर १६ धातुओं के कर्म से जिसका सम्बन्ध होता है (कर्मयुक्) और जिसमें अपादान आदि की विवक्षा नहीं होती, वही अकथित कर्म कहा जाता है। इस प्रकार यहाँ धातु आदि से परिगणन किया गया है।

१. गां दोग्धि पयः—(गाय से दूध दोहता है) यहाँ गाय सामान्यतः अपादान कारक है, किन्तु वह अपादान कारक के रूप में विवक्षित नहीं, अपितु दूध रूप कर्म के निमित्त रूप में विवक्षित है अतः उपर्युक्त नियम (अकथित च) से गाय की कर्म संज्ञा होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। इसका अर्थ होता है—गोसम्बन्धी पयःकर्मक दोहन। यदि अपादान की विवक्षा होती तो पञ्चमी विभक्ति ही होती, तथा 'गोर्दोग्धि पयः' यही प्रयोग होता। यहाँ 'पयः' प्रधान कर्म है और 'गाम्' गौण कर्म।

२. बलिं याचते वसुधाम्—(बलि से पृथ्वी माँगता है) यहाँ बलि अपादान है। इसकी अविवक्षा होने पर बलि की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है। अतएव बलि गौण कर्म है। अपादान की विवक्षा में 'बलेर्याचते वसुधाम्' यह प्रयोग होगा।

माणवकं पन्थानं पृच्छति । वृक्षमवचिनोति फलानि । माणवकं

अविनीतं विनयं याचते—(अविनीत से विनय के लिये प्रार्थना करता है) यहाँ 'याच्' धातु का अर्थ अनुनय या प्रार्थना है । 'अविनीत' इसका मुख्य कर्म है-अविनीतं विनयाय अनुनयति' (अविनीत से विनय के लिये अनुनय करता है) यह अर्थ होता है । 'विनय' में सम्प्रदान की विवक्षा न होने पर 'अकथितं च' से कर्म संज्ञा होती है तथा द्वितीया विभक्ति होती है । अन्यों का मत है कि 'विनय' इसका मुख्य कर्म है । अविनीतकर्तृक विनय की प्रार्थना करता है अतएव 'अविनीत' कर्ता है । उसमें कर्मत्व की विवक्षा में द्वितीया होती है । अन्य मत के अनुसार 'अविनीत से विनय की प्रार्थना करता है' यह अर्थ है । अविनीत अपादान है । अपादानत्व की अविवक्षा मे इसको कर्मसंज्ञा होती है ।

३. तण्डुलान् ओदनं पचति—(चावलों से भात पकाता है) यहाँ ओदन मुख्य कर्म है । तण्डुल करण है । तण्डुल में भी कर्म की विवक्षा मे द्वितीया विभक्ति होती है । तण्डुल गौण कर्म है ।

४. गर्गान् शतं दण्डयति—(गर्गों से सौ रुपया जुर्माना लेता है) यहाँ 'शतं मुख्य कर्म है । गर्गों से सौ रुपया दण्ड का लिया जाता है । गर्ग अपादान कारक है । गर्ग में कर्मत्व की विवक्षा होने से द्वितीया विभक्ति होती है ।

५. व्रजमवरुणद्धि गाम्—(गाय को व्रज में रोकता है) यहाँ 'गाम्' अवरुणद्धि का मुख्य कर्म है । 'व्रज' (गोशाला) जो आधार या अधिकरण है, उसकी अविवक्षा होने पर अकथित कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ।

६. माणवकं पन्थानं पृच्छति—(लड़के से मार्ग पूछता है)—यहाँ पथ मुख्य कर्म है । माणवक अपादान है । उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया विभक्ति होती है । कुछ का मत है कि माणवक करण है ।

७. वृक्षमवचिनोति फलानि—(वृक्ष से फलों को चुनता है)—यहाँ फल

धर्मं ब्रूते शास्ति वा । शतं जयति देवदत्तम् । सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति । देवदत्तं शतं मुष्णाति । ग्राममजां नयति हरति कर्षति वहति वा ।

मुख्य कर्म है। वृक्ष अपादान है। अपादान की अविवक्षा में कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है।

८, ९. माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा—(माणवक के लिये धर्म का उपदेश करता है)—यहाँ धर्म मुख्य कर्म है। माणवक सम्प्रदान है। उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया विभक्ति होती है।

१०. शतं जयति देवदत्तम् (देवदत्त से सौ रुपये जीतता है)—यहाँ 'शतं' मुख्य कर्म है। देवदत्त अपादान है। उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया होती है।

११. सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति—(सागर से अमृत मथता है)—यहाँ 'सुधा' मुख्य कर्म है। 'क्षीरनिधि' अपादान है। उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया होती है। कुछ के मत में 'क्षीरनिधि' मन्थन का मुख्य कर्म है। 'सुधा के लिये क्षीरनिधि को मथता है' यह अर्थ है। सुधा सम्प्रदान है। उसमें कर्मत्व होकर द्वितीया हो जाती है।

१२. देवदत्तं शतं मुष्णाति (देवदत्त से सौ रुपये हरता है)—यहाँ शतं' प्रधान कर्म है। देवदत्त अपादान है। उसके कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

१३, १४. ग्रामम् अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा—(गांव में बकरी को ले जाता है)—यहाँ 'अजा' मुख्य कर्म है। ग्राम अधिकरण है। उसकी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

र्थनिबन्धनेयं संज्ञा । बलिं भिक्षते वसुधाम् । माणवकं धर्मं भाषते अभिधत्ते वक्तीत्यादि । कारकं किम् ? माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति । *(वा) अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम् ॥ कुरून् स्वपिति । मासमास्ते । गोदोहमास्ते । क्रोशमास्ते ।

अर्थनिबन्धनेति—'अकथितं च' से जो कर्म संज्ञा होती है, वह अर्थाश्रित है अर्थात् दुह् आदि धातुओं के समान अर्थवाली अन्य धातुओं के योग में भी अपादान आदि की अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा हो जाती है। इसीलिये 'याच्' धातु के अर्थ वाली भिक्ष् धातु के योग में भी 'बलि' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है तथा 'ब्रू' धातु के अर्थ वाली 'भाष्' आदि धातु के योग में 'माणवक' में द्वितीया हो जाती है। इसी प्रकार अन्य परिगणित धातुओं की समानार्थक धातुओं के योग में भी यह कर्मसंज्ञा हुआ करती है।

कारकं किमिति—सूत्र के अर्थ में 'कारक' शब्द रखने का क्या अभिप्राय है ? यह कि अपादान आदि कारकों की अविवक्षा में उनकी ही यह कर्म संज्ञा होती है सम्बन्ध की नहीं, इसलिये 'माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति' यहाँ 'माणवक' में द्वितीया नहीं होती, अपितु सम्बन्ध में षष्ठी ही होती है। यहाँ माणवक कारक नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध क्रिया से नहीं, अपितु केवल पिता से है।

अकर्मक इति (वा)—अकर्मक धातुओं के योग में देश, काल, भाव तथा गन्तव्य मार्ग की कर्म संज्ञा होती है। जैसे—

कुरून् स्वपिति (कुरुदेश में सोता है)—यहाँ 'कुरु' देशवाची है। यहाँ देश का अर्थ है—ग्रामों का समूह कुरु पाञ्चाल आदि जनपद। कुरु आदि जनपदवाचक शब्दों का बहुवचन में ही, प्रयोग होता है। 'स्वप्' धातु अकर्मक है। यहाँ 'कुरु' की इस वार्तिक से कर्म संज्ञा होकर 'कर्मणि द्वितीया' (६) से द्वितीया होती है।

मासमास्ते (मास भर रहता है)—मास कालवाची है। यहाँ काल शब्द से दिन-रात के समूहवाचक मास' आदि का ग्रहण होता है। 'आस्' धातु अकर्मक है।

गोदोहमास्ते (गो दोहन वेला में है)—यहाँ 'गोदोह' शब्द का अर्थ है

६। गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ ॥१।४।५२॥ गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यात्। शत्रूनगमयत्स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत्। आशयच्चा-

---

गोदोहम् अर्थात् गो दोहन का समय। 'गोदोह' शब्द कालवाची है। काल का अभिप्राय है धातु का अर्थ।

क्रोशमास्ते (कोस भर में है)—यहाँ क्रोश अध्वन् मार्ग वाची है। जिस मार्ग को पार करना होता है वह गन्तव्य मार्ग है। इसके द्वारा यहाँ मार्ग के परिमाण के वाचक 'कोस' आदि का ग्रहण होता है।

टिप्पणी—(i) यहाँ कालभावाध्वगन्तव्याः (१७) से द्वितीया प्राप्त नहीं होती वहाँ इस वार्तिक से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है। (ii) गुरु आदि को जब अधिकरण रूप में कहना अभीष्ट होता है तो 'गुरौ स्वपिति' आदि प्रयोग भी होते हैं।

गतिबुद्धि इति गमन अर्थ वाली, ज्ञान (बुद्धि) अर्थ वाली, भक्षण (प्रत्यवसान) अर्थ वाली, शब्दकर्म तथा अकर्मक धातुओं का अणिजन्त अवस्था में जो कर्ता होता है वह ण्यन्त अर्थात् प्रेरणार्थक दशा में कर्म हो जाता है।

टिप्पणी—धातु की अणिजन्त दशा वह है जहाँ कर्ता का स्वयं कार्य करना प्रकट होता है, जैसे—'अगच्छत्' कहा जाता है। जब कर्ता से कोई अन्य व्यक्ति कार्य कराता है अर्थात् उसे कार्य करने की प्रेरणा देता है तो उसे प्रेरणार्थक णिच् द्वारा प्रकट किया जाता है। यहाँ धातु से णिच् (इ) प्रत्यय होकर उसका रूप परिवर्तित हो जाता है। जैसे—

गम् + णिच् + अ + ति = गम् + इ + अ + ति = गम् + ए + अ + ति = 'गमयति'—'जाने की प्रेरणा देता है'। प्रेरणा देने वाले को प्रयोजक कर्ता कहते हैं और जिसको प्रेरित किया जाता है उसे प्रयोज्य कर्ता। इस सूत्र से प्रयोज्य कर्ता को कर्म संज्ञा के कई उदाहरण होते हैं। जैसे—

(१) शत्रून् अगमयत् स्वर्गं—यहाँ गमन अर्थ वाली धातु 'गम्' है। 'शत्रवः स्वर्गम् अगच्छन्' यह अणिजन्त दशा का रूप है। इसमें कर्ता के

मृतं देवान्वेदमध्यापयद्विधिम्। आसयत्सलिले पृथ्वीं यः समे श्रीहरिर्गतिः॥

जाने के लिये प्रेरित किया अतः हरि प्रयोजक कर्त्ता है। 'अगमयत्' यह णिजन्त दशा का प्रयोग है। इसीलिये अणिजन्त अवस्था का कर्त्ता 'शत्रवः' अगमयत् (णिजन्त दशा) का कर्म हो जाता है। कर्म में द्वितीया होती है (शत्रून्)।

(२) वेदार्थं स्वान् अवेदयत् (स्वजनों को वेद का अर्थ समझाया)—यहाँ बुद्धि (ज्ञान) अर्थ वाली धातु 'विद्' है। 'स्वे वेदार्थम् अविदुः' यह साधारण दशा का रूप है। 'अवेदयत्' णिजन्त का प्रयोग है। उपर्युक्त नियम से अण्यन्त दशा का 'कर्त्ता' णिजन्त की अवस्था में कर्म हो गया है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है—(स्वान्)।

(३) आशयत् च अमृत देवान् (देवताओं को अमृत खिलाया)—यहाँ 'अश्' खाना अर्थ वाली धातु है। 'देवाः अमृतम् आश्नन् (देवों ने अमृत खाया) यह साधारण दशा का रूप है। 'आशयत्' णिजन्त का प्रयोग है। उपर्युक्त नियम से अण्यन्त अवस्था का कर्त्ता देवाः' णिजन्त दशा में कर्म हो गया है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है—(देवान्)।

(४) वेदमध्यापयद् विधिम् (ब्रह्मा को वेद पढ़ाया)—यहाँ 'इङ्' पढ़ना अर्थ वाली धातु है। यह ऐसी धातु है, जिसका कर्म शब्द है (शब्दकर्मक)* विधिः वेदम् अध्यैत (ब्रह्मा ने वेद पढ़ा); ब्रह्मा को हरि ने वेद पढ़ाया—'हरिः विधिं वेदमध्यापयत्'। 'अध्यापयत्' णिजन्त का प्रयोग है। यहाँ साधारण दशा के कर्त्ता 'विधि' की उपर्युक्त नियम से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो जाती है।

(५) आसयत् सलिले पृथ्वीम् (पृथिवी को जल पर स्थित किया) यह अकर्मक का उदाहरण है। आस् (बैठना), धातु अकर्मक है। 'आस्त सलिले पृथिवी' (पृथिवी सलिल पर स्थित हुई)। 'तां हरिः आसयत्'—उसे हरि ने स्थित किया। इस प्रकार साधारण दशा का 'कर्त्ता' पृथिवी है। 'आसयत्' यह णिजन्त का प्रयोग है। उपर्युक्त नियम से साधारण दशा के कर्त्ता पृथिवी को कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो जाती है।

---

* 'शब्दः कर्मकारकं येषां ते शब्दकर्मकाः'-शब्द है कर्म कारक जिनका ... कहलाती हैं।

गतीत्यादि किम् ? पाचयत्योदनं देवदत्तेन । अण्यन्तानां किम् ? गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तं तमपरः प्रयुङ्क्ते, गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः ॥ ॐ (वा) नीवह्योर्न ॥ नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन ॥

श्लोक का अर्थ यह है—जिस श्री हरि ने शत्रुओं को स्वर्ग भेजा, स्वजनों को वेद का अर्थ समझाया, देवों को अमृत खिलाया, ब्रह्मा को वेद पढ़ाया और पृथिवी को जल पर स्थापित किया वह हरि मेरी गति है।

(क) गतीत्यादि किमिति—गति आदि अर्थ वाली धातुओं के अण्यन्त अवस्था के कर्ता को ण्यन्त अवस्था में कर्म संज्ञा होती है यह क्यों कहा ? इस लिये कि इनसे भिन्न धातुओं में यह नियम नहीं लगता। अतएव 'पाचयति ओदनं देवदत्तेन' यहाँ देवदत्त की कर्म संज्ञा नहीं होती, अपितु धातु की साधारण दशा का कर्ता 'देवदत्त' (देवदत्तः ओदनं पचति) प्रेरणार्थक दशा में कर्ता ही (प्रयोज्य कर्ता) रहता है और उसमें "कर्तृकरणयोस्तृतीया" २।३।१८ से तृतीया विभक्ति होती है।

(ख) अण्यन्तानां किम् इति— (सूत्र में) अणि अर्थात् अणिजन्त अवस्था के कर्ता को कर्म हो, यह क्यों कहा है ? इसलिये कि यदि णिजन्त अवस्था के कर्ता को कोई अन्य प्रेरित करे तो उसकी कर्म संज्ञा नहीं होगी जैसे :—

(i) 'यज्ञदत्तः गच्छति'—यहाँ साधारण दशा में 'यज्ञदत्त' कर्ता है।

(ii) 'गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तम्'—यहाँ अण्यन्त के कर्ता 'यज्ञदत्त' की ण्यन्त दशा में कर्म संज्ञा हो गई है।

(iii) **'देवदत्तम् अपरः (विष्णुमित्रः) प्रयुङ्क्ते'—देवदत्त को भी विष्णु**मित्र प्रेरित करता है—'गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्र'—यहाँ 'देवदत्त' की कर्म संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि वह णिजन्त का कर्ता है, अणिजन्त का नहीं और, ऊपर के सूत्र से अण्यन्त के कर्ता की ही कर्म संज्ञा होती है।

नीवह्योर्न इति (वा)—'नी' 'वह्' (ले जाना) णिजन्त धातुओं के प्रयोज्य कर्ता की कर्म संज्ञा नहीं होती। जैसे— भृत्यो भारं नयति, वहति वा' यहाँ 'भृत्य' साधारण दशा का कर्ता है अर्थात् प्रयोज्य कर्ता है। 'नाययति, वाहयति वा भारं भृत्येन' यहाँ णिजन्त के प्रयोग में भृत्य की कर्म संज्ञा नहीं होती अपितु वह कर्ता ही रहता है और कर्ता में तृतीया होती है। [नी-वह् धातुओं का अर्थ है प्रापण (पहुँचाना=गति कराना) अतः यहाँ गत्यर्थक होने से ऊपर का नियम प्राप्त था]

* (वा) नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः ॥ वाहयति रथं वाहान् सूतः । * (वा) आदिखाद्योर्न ॥ आदयति खादयति वान्नं वटुना । *(वा) भक्षेरहिंसार्थस्य न ॥ भक्षयत्यन्नं वटुना । अहिंसार्थस्य किम् ? भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम् ।

नियन्तृ इति—(वा) "नीवह्योर्न" इस वार्तिक से किया हुआ कर्म संज्ञा का निषेध वहाँ नही होगा, जहाँ 'वह्' धातु का कर्ता नियन्तृ' (हाँकने वाला) होगा । जैसे—

'वाहाः (अश्वाः) रथं वहन्ति' तान् नियन्ता (सारथि) प्रेरयति—

'वाहयति रथं वाहान् सूतः'—(सारथि अश्वों द्वारा रथ को ले जाता है)—यहाँ 'वाह' (प्रयोज्य कर्ता) की कर्म संज्ञा होकर उसमे द्वितीया विभक्ति हो ही जाती है ।

आदिखाद्योर्न (वा) – अण्यन्त अद् और खाद् धातु के कर्ता को उनके ण्यन्त प्रयोग में कर्म संज्ञा नहीं होती अतएव प्रयोज्यकर्ता में तृतीया होती है जैसे :—

आदयति, खादयति वा अन्नं वटुना (लड़के को अन्न खिलाता है)—वटुः अन्नम् अत्ति (खादति वा) तम् अन्यः प्रेरयति—यहाँ अद् और खाद् धातु के भक्षणार्थक होने के कारण सूत्र (गतिबुद्धि॰) से 'वटु' को कर्म संज्ञा प्राप्त थी । उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार वह कर्म संज्ञा नहीं होती । अतएव 'वटु' कर्ता ही रहता है और उसमे तृतीया विभक्ति होती है ।

· भक्षेरहिंसार्थस्य न (वा)—जब भक्ष् धातु का भाव हिंसा (पीड़ा देना या हानि पहुँचाना) नहीं होता तो उसके साधारण दशा के कर्ता को णिजन्त के प्रयोग में कर्म संज्ञा नहीं होती । जैसे—

भक्षयति अन्नं वटुना—"वटुः अन्नं भक्षयति" (वटु अन्न खाता है) उसे दूसरा प्रेरित करता है—'भक्षयति अन्नं वटुना ।' यहाँ वटु की कर्म संज्ञा नहीं होती तथा कर्ता में तृतीया विभक्ति ही होती है ।

अहिंसार्थस्य किमिति - जहाँ 'भक्ष' धातु के भाव से हिंसा प्रकट होती है वहाँ इसके प्रयोज्य कर्ता की कर्म संज्ञा हो ही जाती है अतएव बलीवर्दाः

'भक्षयन्ति' तान् अन्यः प्रेरयति 'भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्' यहाँ 'बलीव-

[illegible] होती है । अन्न की हानि हृदय को पीड़ा पहुँचाती है इसी

[illegible] है ।

*(वा) जल्पति प्रभृतीनामुपसंख्यानम् ॥ जल्पयति भापयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः । * (वा) दृशेश्च ॥ दर्शयति हरिं भक्तान् । सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणं न तु तद्विशेषार्थानामित्यनेन ज्ञाप्यते । तेन स्मरतिजिघ्रतीत्यादीनां न । स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन ॥

जल्पतीति (वा)—जल्पति आदि का अण्यन्त अवस्था मे जो कर्त्ता होता है उसकी णिजन्त दशा मे कर्म संज्ञा हो जाती है, यह भी कहना चाहिये। जैसे—'पुत्रो धर्मं जल्पति भाषते वा'। पुत्र को देवदत्त प्रेरणा देता है तो प्रयोग होगा—'जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः।' यहाँ इस वार्तिक के अनुसार पुत्र की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

दृशेश्च (वा)—दृश् (देखना) धातु का साधारण दशा का कर्त्ता प्रेरणार्थक के प्रयोग में कर्मसंज्ञक हो जाता है। जैसे—'भक्ताः हरिं पश्यन्ति।' उन्हें गुरु प्रेरित करता है—'दर्शयति हरिं भक्तान्।' यहाँ इस नियम से 'भक्त' की कर्म संज्ञा होती है तथा कर्म मे द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानाम् इति (गतिबुद्धि॰ आदि) सूत्र मे बुद्धि शब्द से ज्ञानसामान्यवाची बुध्, ज्ञा आदि धातुओं का ही ग्रहण होता है ज्ञानविशेष की वाचक स्मरति, जिघ्रति आदि का नहीं—यह 'दृशेश्च' वार्तिक से (अनेन) पता चलता है। यदि ज्ञान विशेष की वाचक धातु भी बुद्धि शब्द से ली जाती तो इस वार्तिक की आवश्यकता ही नहीं थी। इस ज्ञापन का फल यह होता है (तेन) कि—'स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन' यहाँ 'देवदत्त' की कर्म संज्ञा नहीं होती।

शब्दायतेर्न (वा)—'शब्दाय' धातु के कर्त्ता की प्रेरणार्थक के प्रयोग मे कर्म संज्ञा नहीं होती। 'शब्दाय' यह नाम धातु है। शब्दं करोति इस अर्थ मे शब्द+क्यङ् (शब्दवैर ३. १. १७)=शब्दाय। इससे णिच् होकर शब्दाययति।

शब्दाययति देवदत्तेन—'शब्दायते देवदत्तः' (देवदत्त शब्द करता है) उसको कोई प्रेरणा देता

* (वा) शब्दायतेर्न। शब्दायति देवदत्तेन। धात्वर्थसंगृहीत-कर्मत्वेनाकर्मकत्वात्प्राप्तिः। येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न संभवति तेऽत्राकर्मकाः। न त्वविवक्षितकर्माणोऽपि। तेन मासमासयति देवदत्तमित्यादौ कर्मत्वं भवत्येव। देवदत्तेन पाचयतीत्यादौ तु न॥

ही शब्द रूपी कर्म संगृहीत हो गया है अतः यह धातु अकर्मक है और अकर्मक होने के कारण गति० आदि सूत्र से प्रेरणार्थक के प्रयोग में साधारण दशा के कर्त्ता को कर्म संज्ञा प्राप्त होती है। इस वार्तिक से उस कर्म संज्ञा का निषेध हो जाता है तथा 'देवदत्तेन' में कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होती है।

येषामिति— (*i*) इस सूत्र में अकर्मक धातु वे मानी गई हैं, जिनका देश काल आदि से भिन्न कर्म सम्भव नहीं। (*ii*) जो धातुएँ कर्म की अविवक्षा होने के कारण अकर्मक हो जाती हैं, वे यहाँ अकर्मक नहीं मानी गईं। इसका फल यह होता है—

(*i*) मासमासयति देवदत्तम्— 'मासमास्ते देवदत्तः' उसको दूसरा कोई प्रेरणा देता है—'मासमासयति देवदत्तम्'—यहाँ 'आस्' धातु का यद्यपि 'मास' (काल) कर्म है तथापि वह अकर्मक मानी गई है; क्योंकि 'आस्' धातु का देश काल आदि से भिन्न कर्म नहीं हो सकता। इसलिये इसका साधारण दशा का कर्त्ता 'देवदत्त' प्रेरणार्थक के प्रयोग में कर्मसंज्ञक हो जाता है और उसमें द्वितीया होती है।

(*ii*) देवदत्तेन पाचयति—'देवदत्तः पचति' यहाँ कर्म अविवक्षित है तथापि पच् धातु अकर्मक नहीं मानी जाती, अतएव 'देवदत्तेन पाचयति' में 'देवदत्त' की कर्म संज्ञा नहीं होती और कर्त्ता में तृतीया हो जाती है।

टिप्पणी—व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से क्रियायें चार प्रकार से अकर्मक होती हैं—१. धातु का अन्य अर्थ में प्रयोग होने से, जैसे—'वहति भारम्'। यहाँ 'वहति' सकर्मक है किन्तु 'नदी वहति', यहाँ अन्य अर्थ (स्यन्दन, बहना) अकर्मक हो जाती है। २. धातु के अर्थ में कर्म के संगृहीत हो जाने से,

* द्रष्टव्य आगे (पृ० १८) टिप्पणी।

१०। हृक्रोरन्यतरस्याम् ।१।४।५३। हृक्रोरणौ यः कर्ता स णौ वा कर्म स्यात् । हारयति कारयति वा भृत्यं भृत्येन वा कटम् ॥
* (वा) अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम् ॥ अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा ॥

जैसे—'जीवति' (प्राणधारण करता है) यहाँ 'प्राण' रूप कर्म धातु के अर्थ में ही संगृहीत हो गया है । २. कर्म के प्रसिद्ध होने से, जैसे—'मेघो वर्षति' यहाँ बरसने का कर्म (जल) प्रसिद्ध ही है । ३. कर्म को न कहने की इच्छा (अविवक्षा) से;–जैसे "हिताम्न संशृणुते स किं प्रभुः" यहाँ 'संशृणुते' अकर्मक है क्योंकि इसका कर्म अविवक्षित है । कहा भी है —

धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात् ।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥
(सि० कौ० आत्मनेपदप्रक्रिया)

१०. हृक्रोरन्यतरस्याम् इति—हृ (ले जाना), कृ (करना) धातुओं का साधारण दशा का जो कर्ता है वह णिजन्त (प्रेरणार्थक) के प्रयोग में विकल्प से कर्मसंज्ञक होता है ।

टिप्पणी—हृ तथा कृ धातु का गति आदि अर्थ वाली धातुओं में अन्तर्भाव नहीं होता अतः यह अप्राप्त विभाषा है । हृ धातु जहाँ भोजन अर्थ में होती है (=अभ्यवहरति) तथा कृ धातु अकर्मक (विकुरुते) वहाँ यह प्राप्त विभाषा है । इस प्रकार यह प्राप्ताप्राप्त—उभयत्र विभाषा है ।

कारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम् —(भृत्य से चटाई बनवाता है)—'भृत्यः कटं करोति' (भृत्य चटाई बनाता है) उसे स्वामी प्रेरणा देता है—"कारयति भृत्यं, भृत्येन वा कटम्" (वह नौकर से चटाई बनवाता है)—यहाँ उपर्युक्त नियम से भृत्य की विकल्प से कर्म संज्ञा होती है और द्वितीया हो जाती है । जब कर्म संज्ञा नहीं होती तो कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'हारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्' (नौकर से चटाई droवाता है) ।

अभिवादिदृशोरिति (वा)—अभिपूर्वक वद् धातु तथा दृश् धातु का साधारण दशा का कर्ता, णिजन्त के आत्मनेपद के प्रयोग में विकल्प से कर्म हो जाता है ।

अभिवादयते देवं भक्तं भक्तेन वा (भक्त से देवता को प्रणाम करवाता है) 'अभिवदति देवं भक्तः' (देव भक्त को प्रणाम करता है उसे कोई

११। अधिशीङ्स्थासां कर्म ।१।४।४६। अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात्। अधिशेते अधितिष्ठति अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः ॥

१२। अभिनिविशश्च ।१।४।४७ अभिनीत्येतत्संघातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्म स्यात्। अभिनिविशते सन्मार्गम्। 'परिक्रयणे संप्रदानम्—।१।४।४४ इति सूत्रादिह मण्डूकप्लुत्याऽन्य-

---

प्रेरित करता है— 'अभिवादयते देवं भक्तम्, भक्तेन वा'- यहाँ कर्म संज्ञा प्राप्त नहीं थी। उपर्युक्त नियम से 'भक्त' की विकल्प से कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है। पक्ष में कर्ता में तृतीया होती है। इसी प्रकार-"पश्यति देवं भक्तः" "दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा"। यहाँ 'दृशेश्च' वार्तिक से नित्य कर्म संज्ञा प्राप्त थी। इस वार्तिक से विकल्प से कर्म संज्ञा दिखाई गई है

टिप्पणी—अभिवादयते दर्शयते-यहाँ णिचश्च १।३।७४। से आत्मनेपद होता है। जब आत्मनेपद नहीं होता तब 'अभिवादयति देवं भक्तेन' यहाँ कर्ता में तृतीया होती है तथा 'दर्शयति देवं भक्तम्' यहाँ 'दृशेश्च' से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है।

११. अधिशीङ् इति—अधि उपसर्गपूर्वक शीङ् (सोना), स्था (ठहरना) आस् (बैठना) धातुओं के आधार की कर्म संज्ञा होती है। यहाँ 'आधारोऽधिकरणम् १।४।४५। से 'आधार' शब्द की अनुवृत्ति होती है। इसी प्रकार आगे के दो सूत्रों में भी।

अधिशेते वैकुण्ठं हरिः—यहाँ वैकुण्ठ अधिशयन का आधार है। इसकी उपर्युक्त नियम से कर्म संज्ञा हो जाती है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'अधितिष्ठति वैकुण्ठं हरिः', 'अध्यास्ते वैकुण्ठं हरिः'।

१२. अभिनिविशश्च—अभि तथा नि उपसर्ग जब दोनों एक साथ इसी क्रम से (अभिनि) विश् धातु के पहले आते हैं तब विश् धातु का आधार कर्म संज्ञक हो जाता है।

अभिनिविशते सन्मार्गम्—(सन्मार्ग में लगता है) यहाँ 'सन्मार्ग' की उपर्युक्त नियम से कर्म संज्ञा होकर इसमें द्वितीया हो जाती है।

रस्यांग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणात्त्वचिन्न । पापेऽभिनिवेशः ॥

१३ । उपान्वध्याङ्वसः १।४।४८ उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात् । उपवसति अनुवसति अधिवसति आवसति वा वैकुण्ठं हरिः ॥ * (वा) अभुक्त्यर्थ न ॥ वने उपवसति ॥

पापेऽभिनिवेशः—यहाँ 'पाप' अभि नि पूर्वक विश् धातु का आधार है अतः "अभिनिविशश्च" नियम के अनुसार 'पाप' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होनी चाहिए, किन्तु 'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् (१।४।४४) सूत्र से मण्डूकप्लुति (मेंढक के समान कूदकर अर्थात् बीच के सूत्रों में न जाकर) से 'अन्यतरस्या' (वा, विकल्प से) इस सूत्र में ले लिया जाता है और उस विकल्प (विभाषा) को व्यवस्थित विभाषा (अर्थात् कहीं होगा, कहीं नहीं) मानकर कहीं यह नियम (अभिनिविशश्च) नहीं भी लगता । इसी से "पापेऽभिनिवेशः" में पाप की कर्म संज्ञा तथा द्वितीया नहीं होती अपितु आधार में सप्तमी होती है ।

१३ उपान्वध्याङ् वसः—उप, अनु, अधि, आ उपसर्ग पूर्वक वस् धातु का आधार कर्म हो जाता है ।

उपवसति वैकुण्ठं हरिः—(हरि वैकुण्ठ में बसते हैं) -यहाँ वैकुण्ठ उपपूर्वक 'वस्' धातु का आधार है । उपर्युक्त नियम से 'वैकुण्ठ' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार 'अनुवसति वैकुण्ठं हरिः', 'अधिवसति वैकुण्ठ हरिः', 'आवसति वैकुण्ठं हरिः' ।

अभुक्त्यर्थस्य न (वा)—जब उप पूर्वक 'वस्' धातु का अर्थ 'उपवास करना' (न खाना) होता है तो उसके आधार की कर्म संज्ञा नहीं होती ।

वने उपवसति (वन में उपवास करता है)—यहाँ उपपूर्वक 'वस्' धातु का प्रयोग है । 'वन' उसका आधार है । 'उपान्वध्याङ् वसः' सूत्र के अनुसार यहाँ कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति प्राप्त थी किन्तु इस वार्तिक के अनुसार उपवास अर्थ होने के कारण 'वन' की कर्म संज्ञा नहीं होती तथा अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है ।

* (वा) उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ॥
द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥

उभयतः कृष्णं गोपाः । सर्वतः कृष्णम् । धिक् कृष्णाभक्तम् । उपर्युपरि लोकं हरिः । अध्यधि लोकम् । अधोऽधो लोकम् ॥ * (वा) अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि ॥ अभितः कृष्णम् । परितः कृष्णम् । ग्रामं समया । निकषा लङ्काम् । हा कृष्णाभक्तम् । तस्य शोच्यते इत्यर्थः । बुभुक्षितं नप्रतिभाति किञ्चित् ॥

उपपद द्वितीया विभक्ति - ऊपर जो द्वितीया विभक्ति दिखलाई गई है, वहाँ 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' आदि सूत्रों से कर्म संज्ञा होकर 'कर्मणि द्वितीया' २।३।२ से कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति होती है। अतः वह 'कारक विभक्ति' है।

कभी-कभी उपपद (=पास में उच्चारण किए गये पद) के निमित्त से भी द्वितीया आदि विभक्तियाँ हुआ करती हैं। वे 'उपपद विभक्ति' कही जाती हैं। उपपद विभक्ति षष्ठी विभक्ति का अपवाद होती है। जैसे :—

उभसर्वतसोरिति (वा)—इस वार्तिक में चार वाक्यांश हैं। उनके अर्थ इस प्रकार हैं—(१) उभसर्वतसोः द्वितीया कार्या—जब उभ और सर्व शब्द से परे 'तस्' प्रत्यय होता है तो उसके योग में द्वितीया विभक्ति करनी चाहिए। (२) धिक् शब्दस्य प्रयोगे द्वितीया कार्या— धिक् शब्द के योग में द्वितीया, (३) उपर्यादिषु त्रिषु आम्रेडितान्तेषु द्वितीया कार्या —'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' ८।१।७ में कहे हुए तीन शब्द उपरि, अधि तथा अधः हैं। जहाँ द्विरुक्ति होती हैं वहाँ दूसरे को 'आम्रेडित' कहते हैं। उपर्यध्यधसः० सूत्र से सामीप्य अर्थ में उपरि आदि के स्थान में 'उपरि-उपरि' आदि द्विरुक्त प्रयोग का विधान किया गया है। प्रस्तुत नियम से उनके साथ द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये। (४) ततोऽन्यत्रापि दृश्यते—इनसे अन्य स्थलों पर भी द्वितीया देखी जाती है। क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(१) उभयतः कृष्णं गोपाः (कृष्ण के दोनों ओर गोपाल हैं;—यहाँ उभयतः

१५ । कर्मप्रवचनीयाः ।१।४।८३। इत्यधिकृत्य ॥

१६ । अनुर्लक्षणे ।१।४।८४। लक्षणे द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात् । गत्युपसर्गसंज्ञापवादः ।

मन्तरेण" (देवी वसुमती के विषय में), (काले ८०४), 'कोऽन्यस्त्वामन्तरेण शक्तः प्रतिकर्तुम् । (तुम्हें छोड़कर दूसरा कौन प्रतिकार करने में समर्थ है)—(आप्टे ३५), इन सभी प्रयोगों में 'अन्तरेण' के योग में 'हरिम्' आदि में द्वितीया विभक्ति होती है ।

१५ कर्मप्रवचनीयाः इति—इसका अधिकार करके—कर्मप्रवचनीयाः, यह अधिकार सूत्र है । आगे 'विभाषा कृञि १।४।९८ । तक के सूत्रों में इस पद का अन्वय होता है ।

पाणिनि व्याकरण में कुछ उपसर्गों की विशेष स्थलों पर कर्मप्रवचनीय संज्ञा की गई है । यह अन्वर्थ संज्ञा है । जो पहिले क्रिया को कह चुके हैं 'कर्म=क्रियां प्रोक्तवन्तः' वे कर्मप्रवचनीय कहलाते हैं । उपसर्ग अवस्था में ये क्रिया के अर्थ के द्योतक होते थे । क्रिया के पहिले ही इनका प्रयोग होता था । किन्तु अब क्रिया से पृथक् स्वतन्त्र रूप में इनका प्रयोग हुआ करता है । ये क्रिया के द्योतक नहीं होते, न सम्बन्ध के वाचक होते हैं, न किसी क्रिया पद का आक्षेप ही कराते हैं किन्तु (वाक्यस्थ पदों के) सम्बन्ध में भेद कराने वाले होते हैं ।* अर्थात् विभक्ति-विधान के निमित्त होते हैं ।

१६. अनुर्लक्षणे—किसी लक्षण को द्योतित करने में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । जिससे कोई बात जानी जाती है, उसे लक्षण (सूचक) कहते हैं—'लक्ष्यते ज्ञायतेऽनेनेति लक्षणम्' । यहाँ हेतु के रूप में होने वाला लक्षण विवक्षित है । कर्मप्रवचनीय संज्ञा गति और उपसर्ग संज्ञा का अपवाद है अर्थात् लक्षण अर्थ में अनु की गति और उपसर्ग संज्ञा न होकर कर्मप्रवचनीय संज्ञा ही होती है ।

---

*क्रियाया द्योतको नायं, सम्बन्धस्य न वाचकः ।
नापि क्रियापदाक्षेपी, सम्बन्धस्य तु भेदकः ॥ (वाक्यपदीय)

१७ । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ।२।३।८। एतेन योगे द्वितीया स्यात् । पर्जन्यो जपमनु प्रावर्षत् । हनुभूतजपोपलक्षितं वर्षण-मित्यर्थः । परापि हेताविति तृतीयाऽनेन बाध्यते । 'लक्षणेत्थं-भूत-२१, इत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात् ।

१८ । तृतीयार्थे । १।४।८।५ अस्मिन् द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात् । नदीमन्ववसिता सेना । नद्या सह संबद्धेत्यर्थः ॥ षिञ् बन्धने क्तः ॥

---

१७. कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया—कर्मप्रवचनीय के योग मे द्वितीया विभक्ति होती है ।

पर्जन्यो जपमनुप्रावर्षत् —इसका अर्थ है—हेतु रूप जप से उपलक्षित वर्षा, अर्थात् जप करने से उसके पश्चात् वर्षा हुई । यहाँ हेतु और ज्ञापकता (लक्षण) दोनो द्वितीया के अर्थ हैं, ये दोनों 'अनु' द्वारा प्रकट होते हैं । उपर्युक्त नियम से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग मे 'जप' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है ।

परापि हेतौ तृतीयेति—यद्यपि हेतौ-३७' सूत्र से होने वाली तृतीया इसमे परे है और पाणिनि व्याकरण मे दो तुल्य कार्यों का विरोध होने पर परे वाला कार्य होता है । * तथापि उसे बाध कर 'जपमनु' में, द्वितीया ही होती है, क्योंकि २१ 'लक्षणेत्थं० १।४।९०। से अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ही जाती फिर १६ 'अनुर्लक्षणे १।४।८४। से लक्षण अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा करने की क्या आवश्यकता थी । यह संज्ञा इसी लिये की गई है कि लक्षण द्योतित करने मे द्वितीया ही होनी चाहिये, तृतीया नही ।

१८. तृतीयार्थे—जब अनु' तृतीया के अर्थ अर्थात् सहभाव को प्रकट करता है तो उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

नदीमन्ववसिता सेना – इसका अर्थ है—'सेना नदी के साथ सम्बद्ध है ।" 'नदीम् अनु अवसिता' मे 'अवसित' शब्द अव उपसर्ग पूर्वक षिञ् ,बाधना धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर बना है अतः 'सम्बद्ध' अर्थ होता है । यहाँ ऊपर के नियम

---

* विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२।

१९। हीने १।४।८६। हीने द्योत्येऽनुः प्राग्वत्। अनु हरिं सुराः। हरेर्हीना इत्यर्थः॥

२०। उपोऽधिके च।१।४।८७। अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक्संज्ञं स्यात्। अधिके सप्तमी वक्ष्यते। हीने, उप हरिं सुराः॥

२१। लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः १।४।९०। एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादय उक्तसंज्ञाः स्युः। लक्षणे, वृक्षं प्रति पर्यनु वा विद्योतते विद्युत्। इत्थंभूताख्याने,

---

से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में 'नदीम्' में द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

१९ हीने—हीनता को द्योतित करने में अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

अनु हरिं सुराः—इसका अर्थ है देवलोग हरि से हीन हैं (घटकर हैं)। यहाँ अनु हीन अर्थ को द्योतित करता है अतः इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और इसके योग में (सूत्र १७ से) 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। जिस शब्द में द्वितीया होती है उससे भिन्न पदार्थ की हीनता प्रकट हुआ करती है। यहाँ हरि की अपेक्षा देवों की हीनता प्रकट हो रही है।

२०. उपोऽधिके च—अधिक या हीन का अर्थ द्योतित करने में 'उप' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जब वह 'अधिक' अर्थ को द्योतित करता है तो सप्तमी होती है, यह आगे कहा जाएगा।

उप हरिं सुराः—(देवता हरि से घटकर हैं)—यहाँ हीन अर्थ को द्योतित करने में 'उप' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है तथा इसके योग में 'हरि' से द्वितीया विभक्ति होती है।

२१. लक्षणेत्थम् इति—लक्षण आदि अर्थों में प्रति, परि तथा अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

(१) वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् (वृक्ष की ओर बिजली चमकती है)—यहाँ वृक्ष बिजली चमकने को लक्षित करता है। यह लक्षण (ज्ञापक) है। 'प्रति' लक्षण को प्रकट करता है अतः प्रति की उपर्युक्त नियम से कर्मप्रवचनीय संज्ञा ... इसके योग से 'वृक्ष' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार

भक्तो विष्णुं प्रति पर्यनु वा। भागे, लक्ष्मीर्हरिं प्रति पर्यनु वा। हरेर्भाग इत्यर्थः। वीप्सायां वृक्षं वृक्षं प्रति पर्यनु वा सिञ्चति। अत्रोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम्। एषु किम्? परिषिञ्चति॥

भक्तो विष्णुं प्रति (विष्णु के प्रति भक्त है)—यह इत्थं भूताख्यान का उदाहरण है। 'इत्थं' का अर्थ है—इस प्रकार। इत्थंभूतः—इस प्रकार का हुआ। जहाँ 'यह इस प्रकार का है' इसका आख्यान (कथन) किया जाता है वहाँ 'प्रति' आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है। इस प्रकार उपर्युक्त नियम से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'भक्तो विष्णुं परि', भक्तो विष्णुम् अनु'।

लक्ष्मीर्हरिं प्रति—इसका अर्थ है—लक्ष्मी हरि का भाग रहा। यहाँ लक्ष्मी के प्रति हरि का स्वामित्व 'प्रति' आदि से द्योतित होता है अतः 'भाग' अर्थ में उपर्युक्त नियम से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और उसके योग में 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'लक्ष्मीः हरिं परि' 'लक्ष्मीः हरिम् अनु'।

वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है)—यह वीप्सा का उदाहरण है। वीप्सा का अर्थ है—'व्याप्तुमिच्छा' अर्थात् किसी क्रिया का प्रत्येक वस्तु से सम्बन्ध करने की इच्छा। यहाँ वीप्सा अर्थ में 'प्रति' आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है अतएव उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती। उपसर्ग संज्ञा का अभाव होने से 'प्रति सिञ्चति' यहाँ 'स्' को 'ष्' नहीं होता। उपसर्ग से परे होने पर ही "उपसर्गात् सुनोति० ८।३।६५। सूत्र से षत्व होता है। यहाँ वृक्ष में द्वितीया विभक्ति कर्म में ही होती है। इसी प्रकार 'वृक्षं परि-सिञ्चति' 'वृक्षं वृक्षम् अनुसिञ्चति।'

एषु किमिति—'लक्षण' आदि चार अर्थों के विषय में ही प्रति आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि इनसे भिन्न अर्थ में नहीं होती, अतएव 'परिषिञ्चति' में लक्षण आदि अर्थ न होने के कारण 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती। उसकी उपसर्ग संज्ञा हो जाने से 'स्' को 'ष्' हो जाता है।

/ २२। अभिरभागे ।१।४।९१। भागार्थे सत्प्रत्यादावभि-रुक्तसंज्ञः स्यात्। हरिमभि वर्तते। भक्तो हरिमभि। देवं देव-मभिषिञ्चति। अभागे किम्? यदत्र ममाभिष्यात्तद्दीयताम्॥

२३। अधिपरी अनर्थकौ ।१।४।९३। उक्तसंज्ञौ स्तः। कुतोऽध्यागच्छति। कुतः पर्यागच्छति। गतिसंज्ञाबाधात् 'गतिर्गतौ ८।१।७०। इति निघातो न॥

२४। सुः पूजायाम् ।१।४।९४। सुसिक्तम्। सुस्तुतम्। अनुप-

---

२२ अभिरभागे -भाग को छोड़कर ऊपर कहे हुए शेष तीन अर्थों के विषय में अभि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

(१) हरिमभि वर्तते (लक्षण) (२ भक्तो हरिमभि (इत्थंभूताख्यान) यहाँ 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में द्वितीया होती है।

(३) देवं देवमभिषिञ्चति (वीप्सा)। यहाँ स् को ष् नहीं होता।

अभागे किम्? – भाग अर्थ के विषय में 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती। इसका परिणाम यह होता है कि 'यदत्र ममाभिष्यात् तद् दीयताम्' (जो यहाँ मेरा भाग हो वह दीजिए) यहाँ 'अभि' की उपसर्ग संज्ञा ही रहती है और 'स्यात्' के स् को ष् हो जाता है (उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः ८।३।८७।)

२३. अधिपरी अनर्थकौ—अनर्थक अधि, और परि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

कुतोऽध्यागच्छति (वह कहाँ से आता है?)—यहाँ 'अधि' की कर्म-प्रवचनीय संज्ञा हो जाने से गति' संज्ञा नहीं होती। गति संज्ञा के न होने से (गतिसंज्ञाबाधात्) 'गतिर्गतौ ८।१।७०' इस सूत्र से 'अधि' को आ (अधि+आ+गच्छति) परे होने पर सर्वानुदात्त (निघात) नहीं होता। आगच्छति में 'आ' गतिसंज्ञक है।

टिप्पणी –'निघात' शब्द का अर्थ है—सर्वानुदात्त (अर्थात् किसी शब्द के सभी स्वरों का अनुदात्त स्वर हो जाना)।

२४. सुः पूजायाम्—पूजा अर्थ मे सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

सुसिक्तम्—'भली भाँति सींचा है' इसी हेतु कर्ता मे पूज्यता है। यहाँ

सर्गत्वान्न षः । पूजायां किम् ? सुषिक्तं किं तवात्र । क्षेपोऽयम् ॥
२५. अतिरतिक्रमणे च ।१।४।९५। अतिक्रमणे पूजायां चातिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् । अति देवान् कृष्णः ॥
२६. अपिः पदार्थसंभावनाऽन्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु १।४।९६ एषु द्योत्येष्वपिरुक्तसंज्ञः स्यात् । सर्पिषोऽपि स्यात् । अनुपसर्ग-

---

'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से इसकी उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती तथा उपसर्ग संज्ञा के अभाव में स् को ष् नहीं होता । इसी प्रकार 'सुस्तुतम्' ।

पूजायां किमिति—पूजा अर्थ में ही सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । ऐसा क्यों ? इसलिए कि "सुषिक्तं किं स्यात् तवात्र" यहाँ क्षेप (निन्दा) का भाव निकलता है अतः सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती तथा उपसर्ग संज्ञा ही हो जाती है । उपसर्ग संज्ञा हो जाने से 'सुषिक्त' में 'स्' को ष्' हो जाता है ।[1]

२५. अतिरतिक्रमणे च—अतिक्रमण का अर्थ है—बढ़कर होना अथवा सीमा को लांघना । अतिक्रमण तथा पूजा अर्थ में 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

अति देवान् कृष्णः—(कृष्ण देवों से बढ़कर हैं या कृष्ण देवों के पूज्य हैं) । उपर्युक्त नियम से 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर, उसके योग में 'देवान्' में द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

२६. अपिः पदार्थं इति—पदार्थ, सम्भावना, अन्ववसर्ग, गर्हा तथा समुच्चय इन अर्थों को द्योतित करने में 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

सर्पिषोऽपि स्यात् (घृत का बिन्दु भी हो)—यह पदार्थ का उदाहरण है । पदार्थ का तात्पर्य है—पद का अर्थ । यहाँ 'अपि' अप्रयुक्त शब्द के अर्थ को द्योतित करता है । 'सर्पिषोऽपि स्यात्' का अर्थ है-सर्पिबिन्दुः स्यात्" । अपि बिन्दु का द्योतक है । इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से उपसर्ग संज्ञा नहीं होती तथा 'स्यात्' के स् को ष् नहीं होता, क्योंकि वह उपसर्ग से परे ही हो सकता था ।

---

१. उपसर्गात् सुनोति० ८।३।६५॥

२२। अभिरभागे।१।४।९१। भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात्। हरिमभि वर्तते। भक्तो हरिमभि। देवं देवमभिसिञ्चति। अभागे किम्? यदत्र ममाभिष्यात्तद्दीयताम्॥

२३। अधिपरी अनर्थकौ।१।४।९३। उक्तसंज्ञौ स्तः। कुतोऽध्यागच्छति। कुतः पर्यागच्छति। गतिसंज्ञाबाधात् 'गतिर्गतौ ८।१।७०। इति निघातो न॥

२४। सुः पूजायाम्।१।४।९४। सुसिक्तम्। सुस्तुतम्। अनुप-

---

२२ अभिरभागे —भाग को छोड़कर ऊपर कहे हुए शेष तीन अर्थों के विषय में अभि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

(१) हरिमभि वर्तते (लक्षण) (२) भक्तो हरिमभि (इत्थंभूताख्यान) यहाँ 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में द्वितीया होती है।

(३) देवं देवमभिषिञ्चति (वीप्सा)। यहाँ स् को ष् नहीं होता।

अभागे किमति —भाग अर्थ के विषय में 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती। इसका परिणाम यह होता है कि 'यदत्र ममाभिष्यात् तद् दीयताम्' (जो यहाँ मेरा भाग हो वह दीजिए) यहाँ 'अभि' की उपसर्ग संज्ञा ही रहती है और 'स्यात्' के स् को ष् हो जाता है (उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः ८।३।८७।)

२३. अधिपरी अनर्थकौ—अनर्थक अधि, और परि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

कुतोऽध्यागच्छति (वह कहाँ से आता है?)—यहाँ 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से गति' संज्ञा नहीं होती। गति संज्ञा के न होने से (गतिसंज्ञाबाधात्) 'गतिर्गतौ ८।१।७०' इस सूत्र से 'अधि' को आ (अधि+आ+गच्छति) परे होने पर सर्वानुदात्त (निघात) नहीं होता। आगच्छति में 'आ' गतिसंज्ञक है।

टिप्पणी – 'निघात' शब्द का अर्थ है—सर्वानुदात्त (अर्थात् किसी शब्द के सभी स्वरों का अनुदात्त स्वर हो जाना)।

२४. सुः पूजायाम्—पूजा अर्थ में सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। सुसिक्तम्—'भली भाँति सींचा है' इसी हेतु कर्ता में पूज्यता है। यहाँ

सर्गत्वान्न षः । पूजायां किम् ? सुषिक्तं किं तवाऽत्र । क्षेपोऽयम् ॥
२५ । अतिरतिक्रमणे च ।१।४।९५। अतिक्रमणे पूजायां चातिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् । अति देवान् कृष्णः ॥
२६ । अपिः पदार्थसंभावनाऽन्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु १।४।९६ एषु द्योत्येष्वपिरुक्तसंज्ञः स्यात् । सर्पिषोऽपि स्यात् । अनुपसर्ग-

---

'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से इसकी उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती तथा उपसर्ग संज्ञा के अभाव में स् को ष् नहीं होता । इसी प्रकार 'सुस्तुतम्' ।

पूजायां किमिति—पूजा अर्थ में ही सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। ऐसा क्यों ? इसलिए कि "सुषिक्तं किं स्यात् तवात्र" यहाँ क्षेप (निन्दा) का भाव निकलता है अतः सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती तथा उपसर्ग संज्ञा ही हो जाती है। उपसर्ग संज्ञा हो जाने से 'सुषिक्त' में 'स्' को ष्' हो जाता है।[1]

२५. अतिरतिक्रमणे च—अतिक्रमण का अर्थ है-बढ़कर होना अथवा सीमा को लांघना । अतिक्रमण तथा पूजा अर्थ में 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

अति देवान् कृष्णः—(कृष्ण देवों से बढ़कर हैं या कृष्ण देवों के पूज्य हैं)। उपर्युक्त नियम से 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर, उसके योग में 'देवान्' में द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

२६. अपिः पदार्थ इति—पदार्थ, सम्भावना, अन्ववसर्ग, गर्हा तथा समुच्चय इन अर्थों को द्योतित करने में 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

सर्पिषोऽपि स्यात् (घृत का बिन्दु भी हो)—यह पदार्थ का उदाहरण है। पदार्थ का तात्पर्य है-पद का अर्थ । यहाँ 'अपि' अप्रयुक्त शब्द के अर्थ को द्योतित करता है। 'सर्पिषोऽपि स्यात्' का अर्थ है-"सर्पिर्बिन्दुः स्यात्"। अपि बिन्दु का द्योतक है। इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से उपसर्ग संज्ञा नहीं होती तथा 'स्यात्' के स् को ष् नहीं होता, क्योंकि वह उपसर्ग से परे ही हो सकता था।

---

1. उपसर्गात् सुनोति० ८।३।६५॥

[illegible] संभावनायां लिङ् । तस्या एव विषयभूते भवने [illegible] दौर्लभ्यं द्योतयन्नपिशब्दः स्यादित्यनेन संबध्यते [illegible] तु अपिशब्दबलेन गम्यमानस्य बिन्दोरवय[illegible] । इदमेव ह्यपिशब्दस्य पदार्थद्योतकता [illegible] तु नेह प्रवर्तते । सर्पिषो बिन्दुना योगो न [illegible] । अपि स्तुयाद्विष्णुम्; संभावनं शक्त्युत्कर्ष[illegible] । अपि स्तुहि, अन्ववसर्गः कामचारा[illegible]

संभावनायां लिङ् इति—'सर्पिषोऽपि स्यात्' में [illegible] शब्द अस् धातु से [illegible] है। यहाँ संभावना अर्थ में लिङ् लकार है। '[illegible] इस अवस्था में अस् धातु का अर्थ 'होना' (भवन या सत्ता) [illegible]) उस संभावना का विषय हो जाता है अर्थात् होने [illegible] है। तब होना (भवन) के कर्ता (बिन्दु) को 'अपि' द्योतित [illegible] है और कर्ता की दुर्लभता के कारण होना क्रिया की दुर्लभता को भी [illegible] है तथा उस (अपि) का अन्वय 'स्यात्' से हो जाता है। यहाँ [illegible] बिन्दु अर्थ गम्यमान है। सर्पिस् (घृत) से बिन्दु का "अवयवावयवि-[illegible]' सम्बन्ध है अर्थात् सर्पिस् अवयवी है और बिन्दु अवयव है, इसी [illegible] में षष्ठी विभक्ति है। यही अपि की पदार्थ-द्योतकता है। यहाँ [illegible] (कर्मप्रवचनीय) के योग में 'सर्पिस्' शब्द से द्वितीया विभक्ति नहीं [illegible], क्योंकि 'सर्पिस्' का बिन्दु से सम्बन्ध है 'अपि' से नहीं, यह कहा जा [illegible] है।

अपि स्तुयाद्विष्णुम् (क्या विष्णु की स्तुति कर सकेगा ?)—यह [illegible] का उदाहरण है। सम्भावना का अर्थ है—शक्ति के उत्कर्ष को [illegible] करने के लिये अत्युक्ति करना। यहाँ भी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से [illegible] संज्ञा नहीं रहती और 'स्तुयात्' के 'स् को ष्' (उपसर्गात् ८।३।६५ [illegible] होता)।

अपि स्तुहि (अच्छा स्तुति करो अथवा नहीं)—यह अन्ववसर्ग का उदाहरण है। अन्ववसर्ग का अर्थ है—यथेष्ट कार्य करने की अनुमति देना। [illegible] कर्मप्रवचनीय संज्ञा का फल है—उपसर्ग संज्ञा का बाध हो जाता तथा [illegible]

नुज्ञा । धिग्देवदत्तम्, अपि स्तुयाद् वृषलम्, गर्हा । अपि सिञ्च, अपि स्तुहि; समुच्चये ॥

१७ । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ।२।३।५। इह द्वितीया स्यात् । मासं कल्याणी । मासमधीते । मासं गुडधानाः । क्रोशं कुटिला नदी । क्रोशमधीते । क्रोशं गिरिः । अत्यन्तसंयोगे किम् ?

धिग्देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम् (देवदत्त को धिक्कार है, वह शूद्र की स्तुति क[रे] है)–यहाँ गर्हा अर्थ 'अपि' द्वारा द्योतित किया गया है। गर्हा का अर्थ है–[ ]। कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से (उपसर्ग ८।३।८७) षत्व नहीं होता।

अपि सिञ्च, अपि स्तुहि (सींचो और स्तुति भी करो)– यहाँ अपि द्वारा समुच्चय द्योतित किया गया है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा के कारण 'स्' को 'ष्' (उपसर्गात् ८।३।६५) नहीं होता।

२७. कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे –अत्यन्त संयोग में समयवाची तथा मार्गवाची से द्वितीया विभक्ति होती है। अत्यन्त संयोग का अर्थ है–निरन्तर संयोग। किसी गुण, क्रिया या द्रव्य का किसी काल या मार्ग में पूर्ण रूप से रहना।

मासं कल्याणी (मास भर कल्याणकारिणी है)—यहाँ कल्याण (गुण) मास भर में लगातार रहता है—अतः उपर्युक्त नियम से मास (कालवाचक) में द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार—

क्रोशं कुटिला नदी (कोस भर तक नदी टेढ़ी है)–यहाँ मार्गवाची 'क्रोश' से भी द्वितीया होती है।

मासमधीते (मास भर पढ़ता है)—यहाँ अध्ययन क्रिया मास भर लगातार चलती है अतः मास शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार मार्गवाचक क्रोश शब्द से भी 'क्रोशमधीते' में द्वितीया होती है।

मासं गुडधानाः (मास भर गुड़धान है)—यहाँ गुड़धान (द्रव्य) मास भर लगातार चलते है अतः अत्यन्तसंयोग में मास शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'क्रोशं गिरिः' में भी।

अत्यन्तसंयोगे किम्—यदि गुण क्रिया और द्रव्य का कालवाचक या मार्गवाचक से लगातार सम्बन्ध (अत्यन्तसंयोग) होता है तो कालवाची या मार्गवाची से द्वितीया विभक्ति होती है, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि यदि कालवाची या मार्गवाची के एक अंश से [illegible]

मासस्य द्विरधीते । क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः ॥ इति द्वितीया ।

२८ । स्वतन्त्रः कर्ता ।१।४।५४। क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् ॥

२९ । साधकतमं करणम् ।१।४।४२। क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात् । तमब्ग्रहणं किम् ? गङ्गायां घोषः ॥

द्वितीया विभक्ति न होगी। जैसे—मासस्य द्विरधीते (महीने में दो बार पढ़ता है) यहाँ अध्ययन क्रिया का मास से लगातार सम्बन्ध नहीं अतः मास से द्वितीया विभक्ति नहीं होती अपितु सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति ही होती है। इसी प्रकार 'क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः' में भी। ॥ इति द्वितीया ॥

तृतीया विभक्ति। २८ स्वतन्त्रः कर्ता—क्रिया में स्वतन्त्रता से विवक्षित पदार्थ कर्ता कहलाता है।

कारक विवक्षा के आधीन है, नियत नहीं—'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति', अतः क्रिया का जो आश्रय है। उसे ही कर्ता कहते हैं, चाहे वह जड़ हो या चेतन। जैसे—'देवदत्तस्तिष्ठति' 'वृक्षस्तिष्ठति'।

२९ साधकतमं करणम्—क्रिया की सिद्धि में जो कारक सबसे अधिक सहायक होता है उसकी करण संज्ञा होती है।

साधकतम शब्द का अर्थ है—प्रकृष्ट उपकारक अर्थात् सबसे अधिक सहायक। जिस पदार्थ के व्यापार के अनन्तर क्रिया की सिद्धि हो जाती है, वही प्रकृष्ट उपकार है उसकी करण संज्ञा होती है।

तमब्ग्रहण किमिति—'साधकं करणम्' ? ऐसा ही कह देते, कारक का प्रकरण है ही और कारक और साधक पर्याय हैं अतः पुनः 'साधक' ग्रहण से प्रकृष्ट साधक यह अर्थ समझ लिया जाता—फिर प्रकृष्ट अर्थ को प्रकट करने के लिये तमप् प्रत्यय क्यों लगाया ? इसलिये कि तमप् ग्रहण करने से यह विदित होता है कि इस कारक प्रकरण में अन्वर्थ संज्ञा के बल से प्राप्त हुआ विशेष अर्थ नहीं लिया जाता। इस ज्ञापन का फल यह होता है कि 'आधारोऽधिकरणम्' से आधार मात्र की अधिकरण संज्ञा हो जाती है। केवल विशेष आधार की ही नहीं। अतः 'गङ्गायां घोषः'—(गङ्गा के तट पर ग्वाले रहते हैं) यहाँ भी अधिकरण संज्ञा होकर सप्तमी हो जाती है। अन्यथा 'तिलेषु तैलम्' आदि में जहाँ सर्वथा व्यापक आधार है वहीं सप्तमी होती।

३० । कर्तृकरणयोस्तृतीया ।२।३।१८। अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण बाणेन हतो बाली ।

* (वा) प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम् ॥ प्रकृत्या चारुः । प्रायेण याज्ञिकः । गोत्रेण गार्ग्यः । समेनैति । विषमेणैति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति । सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि ॥

---

३० कर्तृकरणयोरिति—अनुक्त कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है।

जहाँ कर्मवाच्य और भाववाच्य का प्रयोग होता है वहाँ कर्ता अनुक्त होता है; जैसे – "लक्ष्म्या सेव्यते" । अतः यहाँ 'लक्ष्म्या' में तृतीया विभक्ति है।

रामेण बाणेन हतो बाली—यहाँ 'हत' में कर्मवाच्य में 'क्त' प्रत्यय हुआ है, 'राम' का कर्तापन अनुक्त है; अतः राम में उपर्युक्त नियम से तृतीया हो जाती है। मारने का प्रकृष्ट साधन 'बाण' है इसकी 'साधकतमं करणम्' से करण संज्ञा होकर इसमें भी तृतीया विभक्ति होती है।

प्रकृत्यादिभ्य इति (वा)-प्रकृति आदि शब्दों से तृतीया विभक्ति होती है।

प्रकृत्या चारुः (स्वभाव से सुन्दर)—यहाँ प्रकृति शब्द से तृतीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार प्रायेण याज्ञिकः (प्रायः याज्ञिक है), गोत्रेण गार्ग्यः (गोत्र से गार्ग्य है), समेनैति (समगति से चलता है), विषमेणैति (विषम चलता है) आदि में भी तृतीया विभक्ति होती है। ये शब्द प्रायः क्रियाविशेषण हैं। क्रियाविशेषण के योग में द्वितीया प्राप्त थी। कहीं-कहीं ये करण के अर्थ को भी प्रकट करते हैं। जहाँ ये करण होते हैं वहाँ तो करण में तृतीया हो जाती है।

द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति (दो द्रोण सम्बन्धी अन्न खरीदता है)—यहाँ "दो द्रोण सम्बन्धी धान्य" इस अर्थ में षष्ठी प्राप्त थी, उपर्युक्त नियम से तृतीया विभक्ति होती है।

सुखेन दुःखेन वा याति (सुख पूर्वक या दुःखपूर्वक जाता है)—यहाँ 'सुख' आदि शब्द क्रियाविशेषण हैं। क्रियाविशेषण में द्वितीया विभक्ति हुआ करती है उसके स्थान पर उपर्युक्त (प्रकृत्यादिभ्यः) नियम से तृतीया विभक्ति हो जाती है।

टिप्पणी—'प्रकृति' आदि गण आकृति गण है अर्थात् इस प्रकार की तृतीया गणपाठ में अपठित शब्दों में भी देखी जाती है, इसलिये "नाम्ना सुतीक्ष्णः" "चरितेन दान्तः" यहाँ भी तृतीया होती है।

३१ । दिवः कर्म च ।१।४।४३। दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्याच्चात्करणसंज्ञम् । अक्षैरक्षान्वा दीव्यति ॥
३२ । अपवर्गे तृतीया ।२।३।६। अपवर्गः फलप्राप्तिस्तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात् । अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः । अपवर्गे किम् ? मासमधीतो नायातः ॥

३१ दिवः कर्म च—दिव् (खेलना) धातु के साधकतम कारक की कर्म संज्ञा होती है और करण संज्ञा भी ।

अक्षैः अक्षान् वा दीव्यति [पासों से खेलता है]—यहाँ अक्ष [पासे] जुआ खेलने के साधन हैं, अतः करण संज्ञा होकर तृतीया ही होनी चाहिये थी । इस नियम से विकल्प से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया भी होती है ।

३२ अपवर्गे इति—अपवर्ग का अर्थ है—फल-प्राप्ति । फल-प्राप्ति य कार्यसिद्धि का बोध कराने के लिये कालवाची तथा मार्गवाची शब्दो ं अत्यन्त-संयोग में तृतीया विभक्ति होती है ।

टिप्पणी—इस सूत्र के अर्थ में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' ।२।३।५। सूत्र का सम्बन्ध किया जाता है तभी यह अर्थ होता है । यह तृतीया विभक्ति द्वितीया की बाधक है ।

अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः—[दिन भर या कोस भर निरन्तर कार्य करके अनुवाक पढ़ लिया]—जितने समय या मार्ग में कार्य पूरा हो जाता है उस कालवाची या मार्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है । यदि दिन भर में अनुवाक नाम का वेद का अंश पूरा पढ़ लिया तो कालवाची अहन् [दिन] शब्द से तृतीया विभक्ति होगी तथा मार्गवाची 'क्रोश' शब्द से भी । इसी प्रकार 'द्वादशवर्षैर्व्याकरणं श्रूयते' आदि प्रयोग समझने चाहियें ।

अपवर्गे किमिति—'फल प्राप्ति होने पर' ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि यदि निरन्तर कार्य करते हुए भी कार्य की सिद्धि नहीं होती तो कालवाची या मार्गवाची से तृतीया नहीं होती अपितु पहले नियम के अनुसार [कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे] द्वितीया ही होती है । जैसे—मासमधीतो नायातः—'मास भर निरन्तर पढ़ा किन्तु आया नहीं ।' यहाँ 'मासं' में द्वितीया ही होती है ।

३१ । दिवः कर्म च ।१।४।४३। दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्याच्चात्करणसंज्ञम् । अक्षैरक्षान्वा दीव्यति ॥
३२ । अपवर्गे तृतीया ।२।३।६। अपवर्गः फलप्राप्तिस्तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात् । अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः । अपवर्गे किम् ? मासमधीतो नायातः ॥

---

३१ दिवः कर्म च – दिव् (खेलना) धातु के साधकतम कारक की कर्म संज्ञा होती है और करण संज्ञा भी।

अक्षैः अक्षान् वा दीव्यति [पासों से खेलता है]—यहाँ अक्ष [पासे] जुआ खेलने के साधन हैं, अतः करण संज्ञा होकर तृतीया ही होनी चाहिये थी। इस नियम से विकल्प से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया भी होती है।

३२ अपवर्गे इति – अपवर्ग का अर्थ है – फल-प्राप्ति। फल-प्राप्ति या कार्यसिद्धि का बोध कराने के लिये कालवाची तथा मार्गवाची शब्दों से अत्यन्त-संयोग में तृतीया विभक्ति होती है।

टिप्पणी – इस सूत्र के अर्थ में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' ।२।३।५। सूत्र का सम्बन्ध किया जाता है तभी यह अर्थ होता है। यह तृतीया विभक्ति द्वितीया की बाधक है।

अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः – [दिन भर या कोस भर निरन्तर कार्य करके अनुवाक पढ़ लिया]—जितने समय या मार्ग में कार्य पूरा हो जाता है उस कालवाची या मार्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है। यदि दिन भर में अनुवाक नाम का वेद का अंश पूरा पढ़ लिया तो कालवाची अहन् [दिन] शब्द से तृतीया विभक्ति होगी तथा मार्गवाची 'क्रोश' शब्द से भी। इसी प्रकार 'द्वादशवर्षैर्व्याकरणं श्रूयते' आदि प्रयोग समझने चाहियें।

अपवर्गे किमिति—'फल प्राप्ति होने पर' ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि यदि निरन्तर कार्य करते हुए भी कार्य की सिद्धि नहीं होती तो कालवाची या मार्गवाची से तृतीया नहीं होती अपितु पहले नियम के अनुसार [कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे] द्वितीया ही होती है। जैसे—मासमधीतो नायातः – 'मास भर निरन्तर पढ़ा किन्तु आया नहीं।' यहाँ 'मासं' में द्वितीया ही होती है।

३३। सहयुक्तेऽप्रधाने ।२।३।१९। सहार्थेन युक्ते अप्रधाने तृतीया स्यात्। पुत्रेण सहागतः पिता। एवं साकं-सार्धं-समं-योगेऽपि'। विनापि तद्योगं तृतीया। 'वृद्धो यूना ।१।२।६५'। इत्यादिनिर्देशात् ॥

३४। येनाङ्गविकारः ।२।३।२०। येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात्। अक्ष्णा काणः। अक्षि बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः। अङ्गविकारः किम्? अक्षि काणमस्य ॥

---

३३ सहयुक्तेऽप्रधाने—साथ [सह] के अर्थ के योग में अप्रधान [अर्थात् वाक्य के प्रधान कर्ता का साथ देने वाले] के वाचक शब्द में तृतीया विभक्ति होती है।

पुत्रेण सहागतः पिता (पुत्र के सहित पिता आया)—यहाँ आगमन क्रिया का मुख्य सम्बन्ध पिता से है अतः पिता प्रधान कर्ता है, पुत्र अप्रधान है, इसलिये पुत्र शब्द से तृतीया होती है। इसी प्रकार साकम्, सार्धम्, समम् के योग में भी तृतीया होती है। जैसे—आस्स्व साकं मया सौधे (भट्टि० ८।७०), वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः (रघु० १४ ६३), आहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः (शाकु० १, २७) (देखिये, काले सेक्शन ८१८)।

विनापीति—यदि सह आदि शब्दों का प्रयोग न हो और इनका अर्थ प्रकट होता हो तो भी तृतीया विभक्ति होती है। स्वयं आचार्य पाणिनि ने "वृद्धो यूना', (१।२।६५) इत्यादि सूत्र में युवन् शब्द में तृतीया का प्रयोग किया है इसी प्रयोग से यह बात पुष्ट होती है।

३४ येनाङ्गविकारः—जिस विकृत अङ्ग से अङ्गी का विकार लक्षित होता है उस अङ्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है।

अक्ष्णा काणः (आँख का काना या आँख से काना)—यहाँ आँख के विकृत होने से व्यक्ति (अङ्गी) का कानापन लक्षित होता है, अतः आंखवाची 'अक्षि' शब्द से तृतीया विभक्ति होती है। 'आँख सम्बन्धी कानेपन से युक्त है, यह अर्थ होता है। इसी प्रकार 'पादेन खञ्जः' 'शिरसा खल्वाटः' 'कर्णेन बधिरः' आदि।

अङ्गविकारः किमिति—सूत्र में अङ्गविकार शब्द का क्या तात्पर्य है? यहाँ अङ्ग' शब्द अङ्गी के अर्थ में है (अङ्गमस्यास्ति इति अङ्गः—अर्श

३१ । दिवः कर्म च ।१।४।४३। दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्याच्चात्करणसंज्ञम् । अक्षैरक्षान्वा दीव्यति ॥

३२ । अपवर्गे तृतीया ।२।३।६। अपवर्गः फलप्राप्तिस्तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात् । अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः । अपवर्गे किम् ? मासमधीतो नायातः ॥

---

३१ दिवः कर्म च—दिव् (खेलना) धातु के साधकतम कारक की कर्म संज्ञा होती है और करण संज्ञा भी ।

अक्षैः अक्षान् वा दीव्यति [पासों से खेलता है]—यहाँ अक्ष [पासे] जुआ खेलने के साधन हैं, अतः करण संज्ञा होकर तृतीया ही होनी चाहिये थी । इस नियम से विकल्प से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया भी होती है ।

३२ अपवर्गे इति—अपवर्ग का अर्थ है—फल-प्राप्ति । फल-प्राप्ति या कार्यसिद्धि का बोध कराने के लिये कालवाची तथा मार्गवाची शब्दों से अत्यन्त-संयोग में तृतीया विभक्ति होती है ।

टिप्पणी—इस सूत्र के अर्थ में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' ।२।३।५। सूत्र का सम्बन्ध किया जाता है तभी यह अर्थ होता है । यह तृतीया विभक्ति द्वितीया की बाधक है ।

अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः—[दिन भर या कोस भर निरन्तर कार्य करके अनुवाक पढ़ लिया]—जितने समय या मार्ग में कार्य पूरा हो जाता है उस कालवाची या मार्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है । यदि दिन भर में अनुवाक नाम का वेद का अंश पूरा पढ़ लिया तो कालवाची अहन् [दिन] शब्द से तृतीया विभक्ति होगी तथा मार्गवाची 'क्रोश' शब्द से भी । इसी प्रकार 'द्वादशवर्षैर्व्याकरणं श्रूयते' आदि प्रयोग समझने ...

अपवर्गे किमिति—'फल प्राप्ति होने पर' ऐसा क्यों कहा ? यदि निरन्तर कार्य करते हुए भी कार्य की सिद्धि नहीं हो... मार्गवाची से तृतीया नहीं होती अपितु पहले नियम के ...रत्यन्तसंयोगे] द्वितीया ही होती है । जैसे ... निरन्तर पढ़ा किन्तु आया नहीं ।' यहाँ 'मासं' में

३३। सहयुक्तेऽप्रधाने ।२।३।१९। सहार्थेन युक्ते अप्रधाने तृतीया स्यात्। पुत्रेण सहागतः पिता। एवं साकं-सार्धं-समं-योगेऽपि'। विनापि तद्योगं तृतीया। 'वृद्धो यूना ।१।२।६५'। इत्यादिनिर्देशात्॥

३४। येनाङ्गविकारः ।२।३।२०। येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात्। अक्ष्णा काणः। अक्षि-सम्बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः। अङ्गविकारः किम्? अक्षि काणमस्य॥

---

३३ सहयुक्तेऽप्रधाने—साथ [सह] के अर्थ के योग में अप्रधान [अर्थात् वाक्य के प्रधान कर्ता का साथ देने वाले] के वाचक शब्द में तृतीया विभक्ति होती है।

पुत्रेण सहागतः पिता (पुत्र के सहित पिता आया)—यहाँ आगमन क्रिया का मुख्य सम्बन्ध पिता से है अतः पिता प्रधान कर्ता है, पुत्र अप्रधान है, इसलिये पुत्र शब्द से तृतीया होती है। इसी प्रकार साकम्, सार्धम्, समम् के योग में भी तृतीया होती है। जैसे—आस्स्व साकं मया सौधे (भट्टि० ८।७०), वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः (रघु० १४ ६३), आह्वो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः (शाकु० १, २७) (देखिये, काले सेक्शन ८१८)।

· विनापीति—यदि सह आदि शब्दों का प्रयोग न हो और इनका अर्थ प्रकट होता हो तो भी तृतीया विभक्ति होती है। स्वयं आचार्य पाणिनि ने "वृद्धो यूना', (१।२।६५) इत्यादि सूत्र में युवन् शब्द में तृतीया का प्रयोग किया है इसी प्रयोग से यह बात पुष्ट होती है।

३४ येनाङ्गविकारः—जिस विकृत अङ्ग से अङ्गी का विकार लक्षित होता है उस अङ्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है।

अक्ष्णा काणः (आँख का काना या आँख से काना)—यहाँ आँख के विकृत होने से व्यक्ति (अङ्गी) का कानापन लक्षित होता है, अतः आंखवाची 'अक्षि' शब्द से तृतीया विभक्ति होती है। 'आंख सम्बन्धी कानेपन से युक्त है, यह अर्थ होता है। इसी प्रकार 'पादेन खञ्जः' 'शिरसा खल्वाटः' 'कर्णेन बधिरः' आदि।

अङ्गविकारः किमिति—सूत्र में अङ्गविकार शब्द का क्या तात्पर्य है? यहाँ अङ्ग शब्द अङ्गी के अर्थ में है (अङ्गमस्यास्ति इति अङ्गः—अर्श

३१ । दिवः कर्म च ।१।४।४३। दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्याच्चात्करणसंज्ञम् । अक्षैरक्षान्वा दीव्यति ॥
३२ । अपवर्गे तृतीया ।२।३।६। अपवर्गः फलप्राप्तिस्तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगेतृतीया स्यात् । अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः । अपवर्गे किम् ? मासमधीतो नायातः ॥

---

३१ दिवः कर्म च—दिव् (खेलना) धातु के साधकतम कारक की कर्म संज्ञा होती है और करण संज्ञा भी।

अक्षः अक्षान् वा दीव्यति [पासों से खेलता है]—यहाँ अक्ष [पासे] जुआ खेलने के साधन हैं, अतः करण संज्ञा होकर तृतीया ही होनी चाहिये थी। इस नियम से विकल्प से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया भी होती है।

३२ अपवर्गे इति—अपवर्ग का अर्थ है—फल-प्राप्ति। फल-प्राप्ति या कार्यसिद्धि का बोध कराने के लिये कालवाची तथा मार्गवाची शब्दों से अत्यन्त-संयोग में तृतीया विभक्ति होती है।

टिप्पणी—इस सूत्र के अर्थ में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' ।२।३।५। सूत्र का सम्बन्ध किया जाता है तभी यह अर्थ होता है। यह तृतीया विभक्ति द्वितीया की बाधक है।

अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः - [दिन भर या कोस भर निरन्तर कार्य करके अनुवाक पढ़ लिया]—जितने समय या मार्ग में कार्य पूरा हो जाता है उस कालवाची या मार्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है। यदि दिन भर में अनुवाक नाम का वेद का अंश पूरा पढ़ लिया तो कालवाची अहन् [दिन] शब्द से तृतीया विभक्ति होगी तथा मार्गवाची 'क्रोश' शब्द से भी। इसी प्रकार 'द्वादशवर्षैर्व्याकरणं श्रूयते' आदि प्रयोग समझने चाहिये।

अपवर्गे किमिति—'फल प्राप्ति होने पर' ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि यदि निरन्तर कार्य करते हुए भी कार्य की सिद्धि नहीं होती तो कालवाची या मार्गवाची से तृतीया नहीं होती अपितु पहले नियम के अनुसार [कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे] द्वितीया ही होती है। जैसे—मासमधीतो नायातः—'मास भर निरन्तर पढ़ा किन्तु आया नहीं।' यहाँ 'मास' में द्वितीया ही होती है।

३३। सहयुक्तेऽप्रधाने ।२।३।१९। सहार्थेन युक्ते अप्रधाने तृतीया स्यात्। पुत्रेण सहागतः पिता। एवं साकं-सार्धं-समं-योगेऽपि'। विनापि तद्योगं तृतीया। 'वृद्धो यूना ।१।२।६५'। इत्यादिनिर्देशात्॥

३४। येनाङ्गविकारः ।२।३।२०। येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात्। अक्ष्णा काणः। अक्षि निमित्तकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः। अङ्गविकारः किम्? अक्षि काणमस्य॥

---

३३ सहयुक्तेऽप्रधाने—साथ [सह] के अर्थ के योग में अप्रधान [अर्थात् वाक्य के प्रधान कर्ता का साथ देने वाले] के वाचक शब्द में तृतीया विभक्ति होती है।

पुत्रेण सहागतः पिता (पुत्र के सहित पिता आया)—यहाँ आगमन क्रिया का मुख्य सम्बन्ध पिता से है अतः पिता प्रधान कर्ता है, पुत्र अप्रधान है, इसलिये पुत्र शब्द से तृतीया होती है। इसी प्रकार साकम्, सार्धम्, समम् के योग में भी तृतीया होती है। जैसे—आस्स्व साकं मया सौधे (भट्टि० ८।७०), वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः (रघु० १४ ६३), आहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः (शाकु० १, २७) (देखिये, काले सेक्शन ८१८)।

• विनापीति—यदि सह आदि शब्दों का प्रयोग न हो और इनका अर्थ प्रकट होता हो तो भी तृतीया विभक्ति होती है। स्वयं आचार्य पाणिनि ने "वृद्धो यूना', (१।२।६५) इत्यादि सूत्र में युवन् शब्द में तृतीया का प्रयोग किया है इसी प्रयोग से यह बात पुष्ट होती है।

३४ येनाङ्गविकारः—जिस विकृत अङ्ग से अङ्गी का विकार लक्षित होता है उस अङ्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है।

अक्ष्णा काणः (आंख का काना या आंख से काना)—यहाँ आंख के विकृत होने से व्यक्ति (अङ्गी) का कानापन लक्षित होता है, अतः आंखवाची 'अक्षि' शब्द से तृतीया विभक्ति होती है। 'आंख सम्बन्धी कानेपन से युक्त है, यह अर्थ होता है। इसी प्रकार 'पादेन खञ्जः' 'शिरसा खल्वाटः' 'कर्णेन बधिरः' आदि।

अङ्गविकारः किमिति—सूत्र में अङ्गविकार शब्द का क्या तात्पर्य है? यहाँ अङ्ग' शब्द अङ्गी के अर्थ में है (अङ्गमस्यास्ति इति अङ्गः—अर्श

३५। इत्थंभूतलक्षणे ।२।३।२१। कञ्चित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात्। जटाभिस्तापसः। जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः॥

३६। संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि ।२।३।२२। संपूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया वा स्यात्। पित्रा पितरं वा संजानीते॥

३७। हेतौ ।२।३।२३। हेत्वर्थे तृतीया स्यात्। द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापारसाधारणं च हेतुत्वम्। करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं

आदि)' अतएव जहाँ अङ्ग के विकार से अङ्गी का विकार लक्षित होता है वहीं अङ्गवाची से तृतीया होती है। 'अक्षि काणमस्य' में आंख का कानापन ही कहा गया है। इससे किसी व्यक्ति का कानापन लक्षित नहीं होता अतः यहाँ अक्षि शब्द से तृतीया विभक्ति नहीं होती।

३५. इत्थंभूतलक्षणे—इत्थंभूत शब्द का अर्थ है—इस प्रकार हुआ, किसी विशेष दशा को प्राप्त हुआ। किसी विशेष दशा की प्राप्ति का बोध कराने वाले चिह्न में तृतीया विभक्ति होती है।

जटाभिस्तापसः (जटाओं से तपस्वी)- जिस व्यक्ति का तपस्वी होना जटाओं से लक्षित होता है उसके लिये यह प्रयोग है। यहाँ जटा तपस्वीपन का ज्ञापक (लक्षण) है। इससे उपर्युक्त नियमानुसार तृतीया विभक्ति होती है। जटाओं से लक्षित तपस्वीपन से युक्त है।' यह अर्थ होता है।

३६. संज्ञोन्यतरस्यामिति—सम् उपसर्ग पूर्वक ज्ञा धातु के कर्म में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है। पक्ष में द्वितीया होती है।

पित्रा पितरं वा संजानीते (पिता को सम्यक् जानता है)—यहाँ पितरं' कि कर्म होने से द्वितीया प्राप्त थी। उपर्युक्त नियम से विकल्प से तृतीया होकर 'पित्रा' प्रयोग भी होता है।

३७. हेतौ—कारण वाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है।

करण और हेतु में भेद है; अतः इस सूत्र से हेतु में तृतीया कही गई है 'करणयोस्तृतीया' से करण में। हेतु और करण में भेद यह है कि हेतु द्रव्य, गुण और क्रिया सभी का जनक हो सकता है, उसमें कोई

व्यापारनियतं च। दण्डेन घटः। पुण्येन दृष्टो हरिः। फलमपीह हेतुः। अध्ययनेन वसति। गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका। अलं श्रमेण। श्रमेण साध्यं नास्तीत्यर्थः। साधनक्रियां प्रति श्रमः करणम्। शतेन शतेन वत्सान्पाययति पयः। शतेन

व्यापार हो या न हो। किन्तु करण क्रिया का ही निमित्त होता है और उसमें नियत रूप से क्रिया का साधक व्यापार रहता है। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। 'बाणेन हतः वाली' इस उदाहरण में 'बाण' करण है। इसमें 'हनन' क्रिया का साधक व्यापार विद्यमान है। दूसरी ओर—

दण्डेन घटः (दण्ड से घड़ा)—यहाँ दण्ड में व्यापार तो है किन्तु यह घट (द्रव्य) का हेतु है क्रिया का जनक नहीं अतः करण नहीं।

पुण्येन दृष्टो हरिः (पुण्य के कारण हरि का दर्शन हुआ)—यहाँ, पुण्य हरिदर्शन (क्रिया) का हेतु है किन्तु इसमें व्यापार नहीं अतः यह करण नहीं है। यहाँ हेतु में तृतीया विभक्ति होती है।

फलमपीह इति—यहाँ फल या प्रयोजन का भी हेतु शब्द से ग्रहण किया जाता है। इसलिए 'अध्ययनेन वसति' (अध्ययन करने के प्रयोजन से रहता है) यहाँ अध्ययन शब्द से हेतु में तृतीया विभक्ति होती है।

गम्यमाना इति—यदि क्रिया का वाक्य में प्रयोग न हो और वह गम्यमान हो अर्थात् उसका अर्थ निकलता हो तो भी वह कारक-विभक्ति में प्रयोजिका होती है। जैसे—

अलं श्रमेण (श्रम से बस करो) इसका अर्थ है—'श्रमेण साध्यं नास्ति'। 'श्रम' यहाँ साधन क्रिया के प्रति करण है। साधन क्रिया-वाक्य में प्रयुक्त नहीं अपितु अध्याहार से जानी जाती है अर्थात् गम्यमान है। अतः 'श्रम' से तृतीया विभक्ति होती है।

टिप्पणी—यह भी कहा जा सकता है कि निषेधार्थक अलम्, कृतम् आदि के योग में तृतीया विभक्ति होती है—अलं कृतं वा श्रमेण।

शतेन शतेन वत्सान् पाययति—इसका अर्थ है—शतेन परिच्छिद्य, सौ सौ करके बछड़ों को (दूध) पिलाता है। यहाँ भी परिच्छिद्य क्रिया गम्यमान है। इसके प्रति 'शत' करण है। अत एव 'शतेन' में तृतीया विभक्ति होती है।

परिच्छिद्येत्यर्थः ॥ * (वा) अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया ॥ दास्या संयच्छते कामुकः। धर्म्ये तु भार्यायै संयच्छति ॥ इति तृतीया

३८. कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम् ।१।४।३२। दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानसंज्ञः स्यात्।

३९। चतुर्थी संप्रदाने ।२।३।१३। विप्राय गां ददाति।

अशिष्टव्यवहार इति (वा)—अशिष्ट व्यवहार में दाण् (देना) धातु के *प्रयोग में चतुर्थी के अर्थ मे तृतीया विभक्ति होती है।*

दास्या संयच्छते कामुकः (कामुक दासी को देता है)—यहाँ 'दास्या' में उपर्युक्त नियम से तृतीया विभक्ति हो जाती है। चतुर्थी प्राप्त थी। कामुकता के भाव से दासी को कुछ देना अशिष्ट व्यवहार है। संयच्छते में दाण् धातु का यच्छ् आदेश हुआ है।

भार्यायै संयच्छति—अशिष्ट व्यवहार में ही चतुर्थी के स्थान पर यह तृतीया होती है। जहाँ धर्म युक्त (धर्म्य) व्यवहार है वहाँ सम्प्रदान मे चतुर्थ विभक्ति ही होगी। अतएव 'भार्यायै' मे चतुर्थी विभक्ति होती है। ॥ इति तृतीया ॥

चतुर्थी विभक्ति। ३८. कर्मणा इति—दान के कर्म द्वारा कर्ता जिसे उद्देश्य बनाता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

, अन्वर्थ संज्ञा है—सम्प्रदीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम्—जिसे कुछ है वह सम्प्रदान कहलाता है।

चतुर्थी सम्प्रदाने—सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है।

गां ददाति (ब्राह्मण को गाय देता है)—यहाँ विप्र के लिए किया जाता है अतः विप्र की सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और 'विप्र' चतुर्थी विभक्ति होती है।

भिहित इत्येव। दानीयो विप्रः ॥ * (वा) क्रियया यमभिप्रैति पे सम्प्रदानम् पत्ये शेते। * (वा) यजेः कर्मणः करणसंज्ञा ग्रानस्य च कर्मसंज्ञा॥ पशुना रुद्रं यजते, पशुं रुद्राय ददा- र्थः॥ ४०। रुच्यर्थानां प्रीयमाणः १।४।३३। रुच्यर्थानां नां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः संप्रदानं स्यात्। हरये रोचते भक्तिः

अनभिहित इति—यहाँ भी 'अनभिहिते' २।३।१ सूत्र का प्रकरण है अतः जहाँ सम्प्रदान अनुक्त होगा वहीं चतुर्थी विभक्ति होगी। दानीयो विप्रः' न योग्य विप्र है] यहाँ 'दा' धातु से सम्प्रदान में। [दीयतेऽस्मै] अनीयर् य होकर 'दानीयः' शब्द बनता है, अत एव सम्प्रदान उक्त हो गया, क नहीं रहा। इसी से यहाँ 'विप्र' में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती, अपितु तपदिकार्थमात्रे प्रथमा होती है।

क्रियया इति [वा]—किसी क्रिया द्वारा कर्ता को जो अभिप्रेत होता है की भी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

पत्ये शेते—यहाँ शयन क्रिया का अभिप्रेत पति है। अतः उपर्युक्त म से पति की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति होती है।

यजेः कर्मणः इति [वा]—[यदि कर्म और सम्प्रदान एक वाक्य में हों] धातु के कर्म की करण संज्ञा तथा सम्प्रदान की कर्म संज्ञा हो जाती है।

पशुना रुद्रं यजते—इसका अर्थ है—पशुं रुद्राय ददाति। यहाँ 'पशु' है और 'रुद्र' सम्प्रदान है। उपर्युक्त नियम से कर्म [पशु] की करण ज्ञा होकर उसमें तृतीया विभक्ति हो जाती है तथा सम्प्रदान [रुद्र] की कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति होती है।

४०. रुच्यर्थानां प्रीयमाणः—रुचि अर्थ वाली धातुओं के योग में प्रसन्न होने वाला [प्रीयमाण] सम्प्रदान संज्ञक होता है। 'रुच्' धातु के दो अर्थ हैं—दीप्ति और अभिप्रीति। यहाँ प्रीयमाण शब्द के साहचर्य से अभिप्रीति अर्थ लिया जाता है।

हरये रोचते भक्तिः [हरि को भक्ति अच्छी लगती है]—यहाँ प्रसन्न होने वाला 'हरि' है। उपर्युक्त नियम से 'हरि' की सम्प्रदान संज्ञा होकर उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है।

अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः हरिनिष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्री। प्रीयमाणः किम्? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि॥

४१। श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः १।४।३४। एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः संप्रदानं स्यात्। गोपी स्मरात्कृष्णाय श्लाघते ह्नुते

अन्यकर्तृक इति—रुचि और अभिलाषा के अर्थ में अन्तर है। अन्य के द्वारा उत्पन्न की हुई अभिलाषा को रुचि कहते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में हरि में रहने वाली रुचि [प्रीति] को उत्पन्न करने वाली 'भक्ति' है। रुचि के इस विशेष अर्थ के कारण 'हरिः भक्तिमभिलषति' आदि में सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती।

प्रीयमाणः किम्?—जो प्रीयमाण अर्थात् प्रसन्न होने वाला है उसी की सम्प्रदान संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि यहाँ प्रीयमाण [प्रसन्न होने वाले] की ही सम्प्रदान संज्ञा होती है अन्य की नहीं, अतएव 'देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि' [देवदत्त को मार्ग में मोदक अच्छा लगता है] यहाँ पथिन् शब्द की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती, क्योंकि वह प्रीयमाण नहीं।

४१ श्लाघेति—श्लाघ् [स्तुति करना], ह्नुङ् [छिपाना, दूर करना] ष्ठा [ठहरना], शप [उलाहना देना] इन धातुओं के प्रयोग में, जिस पर कर्ता अपना भाव प्रकट करना चाहता है [ज्ञीप्स्यमान:— बोधयितुमिष्टः] उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते ह्नुते तिष्ठते, शपते वा [गोपी] काम-[illegible] से आत्मप्रशंसा द्वारा कृष्ण पर विरह वेदना प्रकट करती है [श्लाघते],

तिष्ठते शपते वा। श्लोप्स्यमानः किम् ? देवदत्ताय श्लाघते पथि।
४२। धारेरुत्तमर्णः १।४।३५। धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्ण उक्तसंज्ञः स्यात्। भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः। उत्तमर्णः किम् ? देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे॥
४३। स्पृहेरीप्सितः १।४।३६। स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः संप्रदानं स्यात्। पुष्पेभ्यः स्पृहयति। ईप्सितः किम् ? पुष्पेभ्यो वने

सपत्नी को हटाकर अपना भाव कृष्ण पर प्रकट करती है [ह्नुते], जाना चाहिये यह कहने पर भी ठहरते हुए अपना भाव कृष्ण पर प्रकट करती है [तिष्ठते], उपालम्भ द्वारा कृष्ण पर अपना भाव प्रकट करती है शपते)][१] यहाँ सर्वत्र 'कृष्ण' की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है तथा उससे चतुर्थी विभक्ति होती है।

श्लोप्स्यमानः किमिति—सूत्र में 'श्लोप्स्यमान' शब्द का क्या प्रयोजन है ? यह कि जिस पर कर्त्ता अपना भाव प्रकट करना नहीं चाहता उसकी सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती। जैसे—'देवदत्ताय श्लाघते पथि' यहाँ 'पथ' की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती।

४२. धारेरुत्तमर्णः धारि [णिजन्त धृ=ऋणी होना] धातु के योग में ऋणदाता [उत्तमर्ण] की सम्प्रदान संज्ञा होती है।

भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः [भगवान् भक्त के मोक्ष का ऋणी है]—यहाँ 'हरि' अधमर्ण [ऋण लेने वाला] है उस पर भक्त का भक्ति रूपी ऋण है जिसका निष्क्रय मोक्ष द्वारा सम्भव है। भक्त उत्तमर्ण है उपर्युक्त नियम से भक्त की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

उत्तमर्णः किमिति यह सम्प्रदान संज्ञा उत्तमर्ण [ऋणदाता] की ही होती है अतः 'देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे' यहाँ देवदत्त की सम्प्रदान संज्ञा होती है 'ग्राम' की नहीं।

४३. स्पृहेरीप्सितः—स्पृह [चाहना] धातु के योग मे चाहा हुआ [ईप्सित]

१. बालमनोरमा

स्पृहयति । ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा । प्रकर्षविवक्षायां तु परत्वात् कर्मसंज्ञा । पुष्पाणि स्पृहयति ॥

४४। क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः १।४।३७। क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्तसंज्ञः स्यात् । हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा । यं प्रति कोपः किम् ?

पदार्थ सम्प्रदान संज्ञक होता है ।

पुष्पेभ्यः स्पृहयति [फूलों की चाह करता है]—यहाँ 'पुष्प' की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है।

ईप्सितः किमिति—ईप्सित शब्द का क्या प्रयोजन है ? यह कि—स्पृह् धातु के योग में भी चाहे हुए पदार्थ की ही सम्प्रदान संज्ञा होती है, अतः "पुष्पेभ्य : वने स्पृहयति" मे वने की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती ।

ईप्सितमात्र इति—'स्पृहेरीप्सितः १।४।३६ सूत्र से केवल चाहे हुए [ईप्सितमात्र] की सम्प्रदान संज्ञा होती है। जहाँ चाह का आधिक्य विवक्षित होता है अर्थात् अत्यधिक चाहा हुआ [ईप्सिततम] कहना होता है वहाँ परे होने से [परत्वात्] कर्तुरीप्सिततमं कर्म १।४।४९ से कर्म संज्ञा ही होती है। 'पुष्पाणि स्पृहयति' में पुष्प में ईप्सिततम की विवक्षा है। अतः इसकी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है।

४२. क्रुधद्रुहेर्ष्येति—क्रुध् [क्रोध करना], द्रुह् [वैर करना], ईर्ष्य् [ईर्ष्या करना], असूय [गुणों में दोष देखना]—इन धातुओं तथा इनके समान अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में, जिसके ऊपर क्रोध आदि किया जाता है उसकी संप्रदान संज्ञा हो जाती है।

हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा [हरि पर क्रोध करता है, द्रोह करता है, ईर्ष्या करता है या उसके दोष निकालता है] यहाँ हरि की उपर्युक्त नियम से संप्रदान संज्ञा हो जाती है तथा उसमें चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

यं प्रति कोपः किमिति—जिसके प्रति कोप होता है उसकी ही

भार्यामीर्ष्यति मैनामन्योऽद्राक्षीदिति । क्रोधोऽमर्षः । द्रोहोऽपकारः । ईर्ष्याऽक्षमा । असूया गुणेषु दोषाविष्करणम् । द्रुहादयोऽपि कोपप्रभवा एव गृह्यन्ते । अतो विशेषणं सामान्येन यं प्रति कोप इति ।

४५ । क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म ।१।४।३८। सोपसर्गयोरनयोर्योगे यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । क्रूरमभिक्रुध्यति । अभिद्रुह्यति ॥

४६ । राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः ।१।४।३९। एतयोः कारकं सम्प्रदानं स्यात् । यदीयो विविधः प्रश्नः

सम्प्रदान संज्ञा होती है । 'भार्यामीर्ष्यति मैनामन्योऽद्राक्षीदिति' अर्थात् पत्नी को दूसरा देखे यह सहन नहीं करता । यहाँ भार्या के प्रति कोप नहीं, किन्तु उसका दूसरों के द्वारा देखा जाना असह्य है, अतः यहाँ भार्या की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती, किन्तु कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है ।

यद्यपि क्रोध, द्रोह आदि के अर्थ भिन्न-२ हैं, क्रोध का अर्थ है—अमर्ष, द्रोह का अर्थ है—अपकार करना, ईर्ष्या का अर्थ है—सहन न करना तथा गुणों में दोष निकालना असूया है तथापि 'यं प्रति कोपः' (जिसके प्रति कोप हो) यह सामान्य रूप से सभी का विशेषण है; क्योंकि कोप से पैदा होने वाले (कोपप्रभवा) द्रोह आदि ही यहाँ लिये जाते हैं । उन्हीं के योग में सम्प्रदान संज्ञा होती है जैसा कि "भार्यामीर्ष्यति" आदि उदाहरण में स्पष्ट है ।

४५. क्रुधद्रुहोरिति—उपसर्ग पूर्वक (उपसृष्ट) क्रुध् तथा द्रुह् धातु के योग में, जिसके प्रति कोप होता है उसकी कर्म संज्ञा होती है । यह नियम पहले नियम का अपवाद है ।

क्रूरमभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति (क्रूर के प्रति क्रोध करता है, द्रोह करता है)—यहाँ पूर्व सूत्र (४४) से 'क्रूर' की सम्प्रदान संज्ञा प्राप्त थी, उसे बाध कर प्रस्तुत नियम से 'क्रूर' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

४६. राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः—[राध् धातु आराधना या साधना अर्थ में है और ईक्ष् देखने अर्थ में, किन्तु यहाँ इनका शुभाशुभ प्रश्न अर्थ है] इन

क्रियते। कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा। पृष्टो गर्गः शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः॥

४७। प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता।१।४।४०। आभ्यां परस्य शृणोतेर्योगे पूर्वस्य प्रवर्तनरूपव्यापारस्य कर्ता सम्प्रदानं स्यात्। विप्राय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा। विप्रेण मह्यं देहीति प्रवर्तितः प्रतिजानीत इत्यर्थः॥

४८। अनुप्रतिगृणश्च।१।४।४१ आभ्यां गृणातेः कारकं

धातुओं के योग में जिसका विविध प्रकार का प्रश्न होता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा—इसका अर्थ है—पूछे जाने पर (गर्ग नाम का ज्योतिषी) कृष्ण के शुभाशुभ का विचार करता है। यहाँ कृष्ण की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और उससे चतुर्थी विभक्ति होती है।

४७. प्रत्याङ्भ्याम् इति—प्रति और आ (आङ्) पूर्वक श्रु (सुनना) धातु के योग में पहले (प्रेरणा रूप) व्यापार के कर्ता अर्थात् प्रवर्तित करने वाले की सम्प्रदान संज्ञा होती है।

विप्राय गां प्रतिशृणोति (आशृणोति वा)—इसका अर्थ है कि ब्राह्मण ने—"मुझे गाय दे दो" ऐसा कह कर किसी को प्रेरणा दी, तब उस व्यक्ति ने ब्राह्मण को गाय देने का वचन दिया (प्रति और आ पूर्वक श्रु धातु का अर्थ है–प्रतिज्ञा करना, वचन देना)। इस प्रकार यहाँ प्रेरणा रूप पूर्व व्यापार के कर्ता 'विप्र' की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो गई तथा सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति हुई।

४८. अनुप्रतिगृणश्च—अनु और प्रति पूर्वक गृ (शब्दे) धातु के पूर्व ... का कर्ता सम्प्रदान संज्ञक होता है।

पूर्वव्यापारस्य कर्तृभूतमु ज्ञं स्यात् । होत्रेऽनुगृणाति प्रतिगृणाति । होता प्रथमं शंसति तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीत्यर्थः । ४६ । परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् ।१।४।४४। नियतकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणं तस्मिन् साधकतमं कारकं सम्प्रदानसंज्ञं वा स्यात् । शतेन शताय वा परिक्रीतः ॥ * (वा) तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या ॥ मुक्तये हरिं भजति ।

होत्रेऽनुगृणाति (प्रतिगृणाति वा)—इसका अर्थ है—होता (चार यज्ञकर्ता या ऋत्विजों में से एक) पहले बोलता है उसे अध्वर्यु (अन्य यज्ञकर्ता) प्रोत्साहन देता है । यहाँ 'होतृ' बोलना (शंसन) रूप पूर्व व्यापार का कर्ता है अतः उपर्युक्त नियम से 'होतृ' की संप्रदान संज्ञा होकर उसमें चतुर्थी विभक्ति हो जाती है—(होत्रे) ।

४६. परिक्रयणे इति—परिक्रयण का अर्थ है—नियत काल के लिये किसी को वेतन पर रखना । परिक्रयण में साधकतम कारक अर्थात् करण की विकल्प से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है ।

शतेन शताय वा परिक्रीतः (सौ रुपये 'वेतन' से रखा हुआ)—यहाँ 'शत' परिक्रयण का साधन है उसकी उपर्युक्त नियम से विकल्प से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है तथा सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है । जब सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती तब करण में तृतीया विभक्ति हो जाती है ।

तादर्थ्ये इति (वा)—तादर्थ्य का अभिप्राय है—उसके लिये अर्थात् प्रयोजन । जिस (प्रयोजन) के लिए कोई कार्य या वस्तु होनी है उस (प्रयोजन) से चतुर्थी विभक्ति होती है, जैसे—

मुक्तये हरिं भजति (मुक्ति के लिये हरि को भजता है)—यहाँ हरि के भजन का प्रयोजन मुक्ति है अतः उपर्युक्त नियम से 'मुक्ति' शब्द में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार "कुण्डलाय हिरण्यम्" (कुण्डल बनाने के लिये सोना है) "काव्यं यशसे" (काव्य कीर्ति के लिये है) इत्यादि में कुण्डल तथा यशस् से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है

* (वा) क्लृपि संपद्यमाने च ॥ भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते जायते, इत्यादि ॥ * (वा) उत्पातेन ज्ञापिते च ॥ वाताय कपिला विद्युत् ॥ * (वा) हितयोगे च ॥ ब्राह्मणाय हितम् ॥

५० ।* क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः ।२।३।१४।

क्लृपि इति (वा)—क्लृप् (समर्थ होना, पैदा होना) अर्थ वाली धातु के प्रयोग में जो होने वाला (परिणाम) है उससे चतुर्थी विभक्ति होती है।

भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते (सम्पद्यते, जायते इत्यादि)—'भक्ति ज्ञान के लिए होती है', यहाँ ज्ञान सम्पद्यमान अर्थात् होने वाली वस्तु है। उपर्युक्त नियम से ज्ञान में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

उत्पातेन ज्ञापिते च (वा)—उत्पात का अर्थ है—अशुभसूचक अकस्मात् होने वाला भौतिक विकार। उत्पात से सूचित अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है।

वाताय कपिला विद्युत् (कपिल वर्ण की बिजली आँधी की सूचक होती है)—यहाँ उपर्युक्त नियम से 'वाताय' में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

हितयोगे च (वा)—हित के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे "ब्राह्मणाय हितम्" ब्राह्मण के लिये हितकर। इसी प्रकार 'ब्राह्मणाय सुखम्' आदि।

५०. क्रियार्थ इति—क्रियार्थोपपदस्य शब्द का अर्थ है—'क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य' किसी क्रिया के लिये होने वाली दूसरी क्रिया पास में सुनी जाती है जिसके इस शब्द से 'तुमुन्' प्रत्यय लक्षित होता है, क्योंकि क्रियार्था क्रिया के साथ होने पर तुमुन् का विधान किया गया है—"तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ३।३।१०। 'स्थानिनः' का अर्थ है जिसका स्थान हो किन्तु प्रयोग न किया गया हो (अप्रयुज्यमानस्य)। इस प्रकार सूत्र का अर्थ है—

---

*समीपे श्रूयमाणं पदम् उपपदम्, जो पद (शब्द) समीप में सुनाई देता ... उपपद कहलाता है।

क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यात् । फलेभ्यो याति । फलान्यहर्तुं यातीत्यर्थः । नमस्कुर्मो नृसिंहाय । नृसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः । एवं स्वयंभुवे नमस्कृत्येत्यादावपि ॥

५१ । तुमर्थाच्च भाववचनात् ।२।३।१५। 'भाववचनाश्च ३।३।११। इति सूत्रेण यो विहितस्तदन्ताच्चतुर्थी स्यात् । यागाय याति । यष्टुं यातीत्यर्थः ॥

यदि तुमुन् प्रत्ययान्त धातु का अर्थ प्रकट हो, किन्तु उसका प्रयोग न किया गया हो तो उसके 'कर्म' में चतुर्थी विभक्ति होती है।

फलेभ्यो याति—इसका अर्थ है 'फलानि आहर्तुं याति' (फल लेने के लिये जाता है।— यहाँ क्रियार्था क्रिया है—'याति' (क्योंकि जाना क्रिया फल लाने के लिये है)। आहर्तुं (तुमुन्प्रत्ययान्त) का अर्थ प्रकट होता है; किन्तु उसका प्रयोग नहीं किया गया। उसका 'कर्म' है—फल। उपर्युक्त नियम से 'फल' शब्द से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

नमस्कुर्मो नृसिंहाय— इसका अर्थ है 'नृसिंहम् अनुकूलयितुं नमस्कुर्मः' (नृसिंह को अनुकूल करने के लिये हम नमस्कार करते हैं)। यहाँ तुमुन् प्रत्ययान्त 'अनुकूलयितुम्' का भाव प्रकट होता है। 'अनुकूलयितुम्' का कर्म 'नृसिंह' है। इसलिये 'नृसिंह' शब्द से उपर्युक्त नियमानुसार चतुर्थी विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' (स्वयम्भुवं प्रीणयितुं नमस्कृत्य 'ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिये नमस्कार करके' आदि में भी चतुर्थी विभक्ति होती है।

५१. तुमर्थाच्चेति—भाववचनाश्च ३।३।११। इस सूत्र से कहा है कि भाववाची घञ् आदि प्रत्यय तुमुन् के अर्थ में भी होते हैं। उन घञ् प्रत्ययान्त आदि शब्दों से चतुर्थी विभक्ति होती है।

यागाय याति— इसका अर्थ है—'यष्टुं याति' अर्थात् यज्ञ करने के लिये जाता है। यहाँ 'याग' तुमुन् के अर्थ में भाववाची घञ् प्रत्ययान्त (यज्+घञ्) शब्द है। उपर्युक्त नियम के अनुसार 'याग' से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

५२। नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च।२।३।१६।
एभिर्योगे चतुर्थी स्यात् । हरये नमः (प) उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी ॥ नमस्करोति देवान्। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा ।

---

५२. नमः स्वस्ति इति—नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं तथा वषट् शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है । जैसे—'हरये नमः' (हरि के लिये नमस्कार) यहाँ 'नमः' शब्द के योग में 'हरये' में चतुर्थी विभक्ति है।

उपपद विभक्तेरिति—उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति बलवती होती है अर्थात् उपपद विभक्ति को बाधकर कारक विभक्ति हो जाती है। दो निमित्तों से विभक्ति का विधान किया गया है—एक तो क्रिया के सम्बन्ध से, जिसे कारक विभक्ति कहते हैं। यह कर्म आदि संज्ञा करके द्वितीया विभक्ति आदि के रूप में कही गई है। दूसरी है—उपपद विभक्ति : उपपद =समीप में स्थित पद। क्रिया से भिन्न अन्य शब्द (पद) के निमित्त से होने वाली विभक्ति उपपद विभक्ति कहलाती है। उपपद के सम्बन्ध से होने वाली विभक्ति की अपेक्षा क्रिया के सम्बन्ध से होने वाली विभक्ति बलवती होती है, जैसे—'नमस्करोति देवान्' (देवों को नमस्कार करता है) यहाँ 'नमः' के योग में 'देव' शब्द से चतुर्थी विभक्ति प्राप्त होती है किन्तु 'नमस्करोति' यह क्रियापद हो जाने पर इसके सम्बन्ध से 'देव' कर्म हो जाता है और द्वितीया विभक्ति प्राप्त होती है। यहाँ द्वितीया कारक विभक्ति है अतएव चतुर्थी (उपपद विभक्ति) को बाध कर द्वितीया विभक्ति होती है—(देवान्)।

प्रजाभ्यः स्वस्ति (प्रजाओं का कल्याण हो)—'नमः स्वस्ति' आदि नियम से 'स्वस्ति' के योग में 'प्रजा' शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है। इसी प्रकार—

अग्नये स्वाहा (अग्नि के लिये स्वाहा)। पितृभ्यः स्वधा (पितरों के लिये अन्नादि द्रव्य) में भी चतुर्थी विभक्ति होती है।

अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । तेन दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः समर्थः शक्त इत्यादि । प्रभ्वादियोगे षष्ठ्यपि साधुः । तस्मै प्रभवति ५।१।१०१। स एषां ग्रामणी ५।२।७८' इति निर्देशात् । तेन प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्येति सिद्धम् । वषडिन्द्राय । चकारः पुनर्विधानार्थः । तेनाशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषी'ति २।३।७३ षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति ॥ स्वस्तिगोभ्यो भूयात् ॥

अलमिति—सूत्र में 'अलम्' शब्द से पर्याप्त (समर्थ) अर्थ वाले शब्दों का ग्रहण किया जाता है । इसके दो फल होते हैं— (१) निषेध अर्थ में जो 'अलम्' शब्द है, उसके योग में चतुर्थी नहीं होती, जैसे—'अलं विवादेन' । (२) पर्याप्त (समर्थ) अर्थ वाले 'प्रभु' आदि शब्दों के योग मे चतुर्थी विभक्ति हो जाती है । जैसे—दैत्येभ्यो हरिः प्रभुः, समर्थः, शक्तः ।

दैत्येभ्यो हरिरलम्—यहाँ पर्याप्ति अर्थ वाले 'अलम्' शब्द के योग मे 'दैत्येभ्यः' में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

प्रभ्वादियोग इति—प्रभु आदि शब्दों के योग मे षष्ठी विभक्ति भी शुद्ध है । यद्यपि किसी सूत्र या वार्तिक से षष्ठी का विधान नहीं किया गया तथापि आचार्य पाणिनि के 'तस्मै प्रभवति' ५।१।१०१॥ प्रयोग से विदित होता है कि प्रभु आदि के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है । इसी प्रकार उनके 'स एषां ग्रामणीः' ५।२।७८॥ प्रयोग से ज्ञात होता है कि प्रभु आदि के योग में षष्ठी भी होती है । अतएव—प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य' (१·४९) माघ कवि की इस उक्ति मे 'भुवनत्रयस्य' में षष्ठी का प्रयोग भी व्याकरण सम्मत ही है ।

वषट्+इन्द्राय (इन्द्र के लिए हवि दान)—यहाँ 'नमः स्वस्ति' आदि नियम से 'वषट्' के योग में इन्द्र' शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है ।

चकार इति—सूत्र (२२) में च (योगात्+च) फिर से चतुर्थी कहने के लिये है । जैसे—

स्वस्ति गोभ्यो भूयात् (गायों का कल्याण हो)— यहाँ नमः स्वस्ति० २।३।१६ आदि नियम से चतुर्थी प्राप्त होती है । चतुर्थी चाशिषि०

५३। मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु।२।३।१७। प्राणिवर्जे मन्यतेः कर्मणि चतुर्थी वा स्यात्तिरस्कारे। न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा। श्यना निर्देशात्तानादिकयोगे न। न त्वां तृणं मन्वेऽहम्। अप्राणिष्वित्यपनीय ।*(वा) नौकाकान्नशुकशृगालवर्ज्येष्विति वाच्यम्॥ तेन न त्वां नावमन्नं वा मन्ये इत्यत्राप्राणित्वेऽपि चतुर्थी न। न त्वां शुने मन्ये इत्यत्र प्राणित्वेऽपि भवत्येव॥

२।३।७३ इस नियम से चतुर्थी और षष्ठी दोनों विकल्प से प्राप्त होती हैं। अष्टाध्यायी में चतुर्थी चाशिषि०' सूत्र नमः स्वस्ति० से परे (आगे) है और दो तुल्य नियमों के विरोध में परे वाला कार्य ही हुआ करता है (विप्रतिषेधे परं कार्यम्) अतः चतुर्थी और षष्ठी विकल्प से होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता 'स्वस्ति गोभ्यो भूयात्' प्रयोग में नित्य चतुर्थी विभक्ति ही होती है। इसका कारण यह है कि 'नमः स्वस्ति०' सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण किया गया है। यह बलपूर्वक पुनः चतुर्थी का विधान करता है इसलिये आशीर्वाद की विवक्षा में 'चतुर्थी चाशिषि०' इस षष्ठी को बाधकर नमः' स्वस्ति से होने वाली चतुर्थी विभक्ति ही होती है।

५३. मन्यकर्मणि इति—अनादर प्रकट करने में मन् (मानना, दिवादि) धातु के कर्म में, यदि वह प्राणी न हो तो, विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है, पक्ष में द्वितीया होती है।

न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा (मैं तुम्हें तिनके के तुल्य भी नहीं समझता)—यहाँ उपर्युक्त नियम से तृण' शब्द से विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है। पक्ष में कर्म में द्वितीया ही होती है।

श्यनेति श्यन् से निर्देश करने के कारण यहाँ दिवादि गण की मन (मन्यते) धातु ली जाती है, अतः तनादि गण की 'मन्' धातु के योग में यह चतुर्थी नहीं होती, 'न त्वा तृणं मन्वेऽहम्'।

अप्राणिषु० इति (वा)—वार्तिककार का कथन है कि सूत्र में से ... शब्द को हटाकर उसके स्थान में—नौ (नाव), काक (कौआ)

५४। गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि ।२।३।१२। अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मणि एते स्तश्चेष्टायाम् । ग्रमं ग्रामाय वा गच्छति । चेष्टायां किम् ? मनसा हरिं व्रजति । अनध्वनीति किम् ? पन्थानं गच्छति ।

अश्व, शुक तोता) शृगाल (सियार) को छोड़कर ऐसा कहना चाहिये । इसका फल यह होता है कि—

(१) न त्वां नाव मन्ये (तुझे नाव नहीं समझता(—यहाँ अप्राणि नाव) होने के कारण सूत्र के अनुसार 'नौ' से चतुर्थी प्राप्त होती है किन्तु इष्ट नहीं । वार्तिक में 'नौ' को वर्जित करने से नहीं होती ।

(२) न त्वां शुने मन्ये (तुझे कुत्ता भी नहीं समझता)—यहां श्वन् (कुत्ता) प्राणी है अतएव सूत्र के अनुसार चतुर्थी प्राप्त नहीं (अप्राणिषु); किन्तु चतुर्थी इष्ट है । वार्तिक मे 'श्वन्' को वर्जित नहीं किया गया अतः वार्तिक के अनुसार 'शुने' में प्राणी होते हुए भी चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

५४. गत्यर्थकर्मणि इति—यदि वह (कर्म) मार्ग न हो और शरीर की गति (चेष्टा) कही गई हो, तो गति अर्थ वाली धातुओं के कर्म में द्वितीया और चतुर्थी विभक्ति होती है ।

ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति (गांव को जाता है)—यहाँ 'ग्राम' मार्ग नहीं है और गांव जाने मे शरीर की चेष्टा करनी पड़ती है अतः उपर्युक्त नियम से 'ग्राम' या 'ग्रामाय' मे विकल्प से द्वितीया अथवा चतुर्थी विभक्ति होती है ।

चेष्टायां किमिति—'चेष्टा' में यह क्यों कहा ? इसलिये कि जहाँ शारीरिक व्यापार नहीं करना पड़ता वहाँ केवल द्वितीया विभक्ति ही होती है जैसे—'मनसा हरिं व्रजति' (मन से हरि के पास जाता है ।) इसी प्रकार 'नरपतिहितकर्त्ता द्वेष्यतां याति लोके' इत्यादि (आप्टे ७१) ।

अनध्वनीति—यदि गति अर्थ वाली धातु का कर्म अध्वन् (मार्ग) होता है तो कर्म मे केवल द्वितीया ही होती है, चतुर्थी नहीं । जैसे 'पन्थानं गच्छति' (मार्ग को जाता है) ।

गन्त्राधिष्ठितेऽध्वन्येवायं निषेधः। यदा तूत्पथात्पन्था एवाक्रमितुमिष्यते तदा चतुर्थी भवत्येव। उत्पथेन पथे गच्छति ॥ इति चतुर्थी।

५५। ध्रुवमपायेऽपादानम् ।१।४।२४। अपायो विश्लेषस्तस्मिन्साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात्॥

५६। अपादाने पञ्चमी ।२।३।२८। ग्रामादायाति।

गन्त्राधिष्ठित इति—यदि जाने वाले (गन्तृ) के द्वारा मार्ग अधिष्ठित (प्राप्त) होता है अर्थात् वह इष्ट मार्ग पर स्थित होता है तभी यह चतुर्थी विभक्ति नहीं होती; किन्तु जब उत्पथ (अनिष्ट मार्ग) से जाने में असमर्थ होकर वह उसे छोड़कर इष्ट मार्ग की ओर जाता है तब मार्गवाची में भी चतुर्थी विभक्ति होती ही है। जैसे—'उत्पथेन पथे गच्छति" (उत्पथ से पथ को जाता है) भाव यह है कि—यदि कोई देहली के लिये चला; किन्तु भ्रम से देहली का मार्ग छोड़कर अन्य मार्ग पर हो लिया, वही अन्य मार्ग उत्पथ कहलायेगा। उस मार्ग से जब अपने इष्ट देहली के मार्ग को प्राप्त करने के लिये चलेगा तो 'उत्पथेन पथे गच्छति' यह प्रयोग होगा। यहाँ 'पथे' में चतुर्थी विभक्ति होती ही है ॥ इति चतुर्थी ॥

पञ्चमी विभक्ति। ५५. ध्रुवमपायेऽपादानम्—अपाय का अर्थ है विश्लेष, अलग होना। किसी वस्तु या व्यक्ति के अलग होने में जो कारक ध्रुव अर्थात् अवधि (सीमा) रूप है वह अपादान कहलाता है।

५६. अपादाने पञ्चमी—अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति होती है।

ग्रामाद् आयाति (ग्राम से आता है)—कहाँ से आता है? ग्राम से। यहाँ ग्राम अवधिरूप है अतः इसकी अपादान संज्ञा होकर इससे पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।

धावतोऽश्वात्पतति । कारकं किम् ? वृक्षस्य पर्णं पतति ॥*
(वा) जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम् ॥ पापाज्जुगुप्सते । विरमति । धर्मात्प्रमाद्यति ॥

५७ । भीत्रार्थानां भयहेतुः ।१।४।२५। भयार्थानां त्राणार्थानां च प्रयोगे भयहेतुरपादानं स्यात् । चोराद् बिभेति ।

धावतोऽश्वात्पतति [दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है]—यहाँ यद्यपि घोड़ा स्थिर नहीं, दौड़ता हुआ है तथापि वह पतन क्रिया के प्रति अवधि है ही अतएव 'अश्व' की अपादान संज्ञा होकर, इससे पञ्चमी विभक्ति होती है।

टिप्पणी—'धावतोऽश्वात् पतति' आदि प्रयोगों में अश्व आदि की अपादान संज्ञा होनी चाहिये इसलिये सूत्र के 'ध्रुव' शब्द का अर्थ 'स्थिर' नहीं अपितु 'अवधिभूत' माना जाता है।

कारकं किमिति—कारक अपादान संज्ञक होता है ऐसा क्यों कहा गया ? इसलिये कि जो कारक नहीं होता, अर्थात् जिसका क्रिया से सम्बन्ध नहीं होता, उसकी अपादान संज्ञा नहीं होती, जैसे 'वृक्षस्य पर्णं पतति' में 'वृक्ष' का पतन क्रिया से सम्बन्ध विवक्षित नहीं, अपितु 'पर्ण' से सम्बन्ध है। अतएव यहाँ वृक्ष की अपादान संज्ञा नहीं होती।

जुगुप्सेति (वा)—जुगुप्सा (घृणा) विराम (हटना, अलग होना) प्रमाद (असावधानी करना) अर्थ वाली धातुओं के योग में जुगुप्सा आदि के विषय की अपादान संज्ञा होती है।

पापात् जुगुप्सति (पाप से घृणा करता है)—यहाँ पाप जुगुप्सा का विषय है अतः उपर्युक्त नियम से इनकी अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार (पापाद् विरमति) (पाप से बचता है) धर्मात् प्रमाद्यति (धर्म से प्रमाद करता है) आदि।

टिप्पणी—प्रमादार्थक के साथ सप्तमी भी आती है। जैसे—'न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः' (आप्टे ७६ टि०)।

५७. भीत्रार्थानां भयहेतुः—'भय' अर्थ वाली तथा 'रक्षा' (त्राण) अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में भय का हेतु अपादान कहलाता है।

चोराद् बिभेति (चोर से डरता है)—यहाँ चोर भय का हेतु है। उसकी

चौरात् त्रायते । भयहेतुः किम् ? अरण्ये बिभेति त्रायते इति वा ।

५८ । पराजेरसोढः ।१।४।२६। पराजेः प्रयोगेऽसह्योऽर्थोऽपादानं स्यात् । अध्ययनात्पराजयते । ग्लायतीत्यर्थः । असोढः किम् ? शत्रून्पराजयते । अभिभवतीत्यर्थः ॥

५९ । वारणार्थानामीप्सितः ।१।४।२७। प्रवृत्तिविघातो वारणम् । वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽपादानं स्यात् ।

उपर्युक्त नियम से अपादान संज्ञा होकर अपादान में पञ्चमी विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार 'चौरात् त्रायते' (चोर से रक्षा करता है) ।

भयहेतुः किमिति—भय के कारण की ही अपादान संज्ञा होती है यह क्यों कहा ? इसलिये कि 'अरण्ये बिभेति' में अरण्य (वन) की अपादान संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि अरण्य भय का हेतु नहीं । यदि अरण्य को भय का हेतु माना जाये तो अरण्य से भी पञ्चमी विभक्ति हो ही सकती है ।

५८ पराजेरसोढः—परा (उपसर्ग) पूर्वक जि धातु के योग में असह्य वस्तु की अपादान संज्ञा होती है ।

अध्ययनात् पराजयते (अध्ययन से हार मान रहा है)—जब किसी के लिये अध्ययन असह्य या कष्टकर हो गया है तो उपर्युक्त नियम से पराजयते के योग में अध्ययन की अपादान संज्ञा होती है और उसमें पञ्चमी विभक्ति हो जाती है । इसका भाव है—अध्ययन से थक गया है ।

असोढः किमिति—असह्य वस्तु की ही अपादान संज्ञा होती है ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि 'शत्रून् पराजयते'—शत्रुओं को हराता है (अभिभवति = पराजित करता है), यहाँ शत्रु की अपादान संज्ञा नहीं होती, क्योंकि वह असह्य नहीं । 'शत्रून्' में कर्म में द्वितीया हुई है ।

५९. वारणार्थानामीप्सितः—वारण का अर्थ है—प्रवृत्ति का विघात [illegible] वारण अर्थ वाली धातुओं के

।पादान संज्ञ

यवेभ्यो गां वारयति । ईप्सितः किम् ? यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे ॥

६० । अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति ।१।४।२८। व्यवधाने सति यत्कर्तृकस्यात्मनो दर्शनस्याभावमिच्छति तदपादानं स्यात् । मातुर्निलीयते कृष्णः । अन्तर्धौ किम् ? चौरान्न दिदृक्षते । इच्छतिग्रहणं किम् । अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात् ॥

यवेभ्यो गां वारयति (यवों से गाय को हटाता है —'यव' से गाय को हटाना चाहता है अतः उपर्युक्त नियम से 'यव' की अपादान संज्ञा होती है और अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

ईप्सितः किम् —जिससे किसी को दूर करना अभीष्ट होता है । वहीं अपादान होता है ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि 'यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे' में 'क्षेत्र' अभीष्ट नहीं बल्कि यव है । अतः क्षेत्र की अपादान संज्ञा नहीं होती ।

'६०. 'अन्तर्धौ' इति—अन्तर्धि का अर्थ है, व्यवधान (ओट) । व्यवधान होने पर जिससे अपना अदर्शन चाहता है अर्थात् जिससे अपने आपको छिपाना चाहता है; उसकी अपादान संज्ञा होती है ।

मातुर्निलीयते कृष्णः (कृष्ण माता से छिपता है —कृष्ण दीवार आदि का व्यवधान करके माता से छिपना चाहता है अतः उपर्युक्त नियम से 'माता' की अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

अन्तर्धौ किमिति—अन्तर्धि शब्द रखने का क्या प्रयोजन है ? यह कि जहाँ व्यवधान होने पर कोई अपने आप को छिपाना चाहता है वहीं यह अपादान संज्ञा होती है अतएव "चौरान् न दिदृक्षते" (चोर मुझे न देख लें इस विचार से चोरों को देखना नहीं चाहता) यहाँ 'चोर' की अपादान संज्ञा नहीं होती; क्योंकि यहाँ व्यवधान-निमित्तक छिपने का भाव नहीं है ।

इच्छतिग्रहणं किमिति—सूत्र में 'इच्छति' (चाहता है) का ग्रहण क्यों

६१। आख्यातोपयोगे ।१।४।२९। नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्संज्ञः स्यात्। उपाध्यायादधीते। उपयोगे किम् ? नटस्य गाथां शृणोति॥

६२। जनिकर्तुः प्रकृतिः ।१।४।३०। जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात्, ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते॥

किया ? इसलिये कि यदि किसी के छिपने की इच्छा है तो उसे देख लिया जाने पर भी अपादान संज्ञा हो ही जाती है। जैसे 'देवदत्ताद् यज्ञदत्तो निलीयते।' –देवदत्त से यज्ञदत्त छिपता है।

६१. आख्यातोपयोगे—यहाँ उपयोग शब्द का (रूढ़) अर्थ है—नियमपूर्वक विद्याग्रहण करना। नियमपूर्वक विद्या ग्रहण करने में अध्यापक या शिक्षक (आख्याता, वक्ता) की अपादान संज्ञा होती है।

उपाध्यायाद् अधीते (उपाध्याय से पढ़ता है)—उपर्युक्त नियम से उपाध्याय की अपादान संज्ञा होकर उसमें पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।

उपयोगे किमिति—जहाँ नियमपूर्वक शिक्षा ग्रहण की जाती है वहीं वक्ता की अपादान संज्ञा होती है, यह क्यों ? इसलिये कि 'नटस्य गाथां शृणोति' नट की गाथा सुनता है। यहाँ 'नटस्य' में पञ्चमी विभक्ति नहीं होती, क्योंकि यहाँ नियमपूर्वक शिक्षा प्राप्ति नहीं है।

६२. जनिकर्तुः प्रकृतिः—जनि का अर्थ है–जन्म उत्पत्ति। जनिकर्ता—उत्पन्न होने वाले (जायमान) का हेतु अपादान संज्ञक होता है।

ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते [ब्रह्मा से प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं]—यहाँ ... कर्ता [उत्पन्न होने वाला] प्रजा है। इसका हेतु 'ब्रह्म' है; अतः ... से 'ब्रह्म' की अपादान संज्ञा होकर उससे पञ्चमी विभक्ति हो

६३ । भुवः प्रभवः ।१।४।३१। भवनं भूः । भूकर्तुः प्रभवस्तथा । हिमवतो गङ्गा प्रभवति । तत्र प्रकाशत इत्यर्थः ।*(वा) ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च ॥ प्रासादात् प्रेक्षते । आसनात्प्रेक्षते । प्रासादमारुह्य आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः । श्वशुराज्जिह्रेति श्वशुरं वीक्ष्येत्यर्थः । गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तीनां निमित्तम् । कस्मात्त्वं नद्याः ॥

---

६६. भुवः प्रभवः— (भू) शब्द का अर्थ है होना (भू का षष्ठी (एक० भुव.) 'प्रभव' का अर्थ है—प्रथम प्रकाश स्थान । यहाँ पूर्व सूत्र से 'कर्तुः' पद की अनुवृत्ति होती है । भू के कर्ता के उत्पत्ति स्थान की अपादान संज्ञा होती है।

हिमवतो गङ्गा प्रभवति—इसका अर्थ है—हिमालय से गङ्गा निकलती है अथवा वहाँ प्रथम दिखलाई देती है । यहाँ उपर्युक्त नियम से 'हिमवत्' को अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

ल्यब्लोप इति (वा)—ल्यप् या क्त्वा प्रत्ययान्त के छिपे रहने पर (उसका अर्थ प्रकट होने पर) उसके कर्म तथा आधार में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

प्रासादात् प्रेक्षते—इसका अर्थ है—'प्रासादमारुह्य प्रेक्षते' (महल पर चढ़कर देखता है) । यहाँ 'आरुह्य' ल्यप् प्रत्ययान्त का प्रयोग नहीं, उसका कर्म है—'प्रासाद' । उपर्युक्त नियम से 'प्रासाद' में पञ्चमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार—

आसनात् प्रेक्षते अर्थात् 'आसने उपविश्य प्रेक्षते' (आसन पर बैठकर देखता है) यहाँ आसन 'उपविश्य' का आधार है । इसमें पञ्चमी विभक्ति होती है ।

श्वशुराज्जिह्रेति (श्वशुर से लज्जा करती है) अर्थात् श्वशुर को देखकर लज्जित होती है यहाँ 'श्वशुर' ल्यप् प्रत्ययान्त (वीक्ष्य) का कर्म है ।

गम्यमाना इति—जिस क्रिया का वाक्य में प्रयोग नहीं होता अपितु प्रकरण आदि से जान ली जाती है, उसे 'गम्यमाना क्रिया' कहा गया है । ऐसी क्रिया भी कारक विभक्ति का निमित्त होती है । जैसे—'कस्मात् त्वम् ?' (तुम कहाँ से आये ?) 'नद्याः' (नदी से) यहाँ प्रकरण आदि से आना (आग-

* (वा) यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पञ्चमी ॥ * तद्युक्ताद-ध्वनः प्रथमासप्तम्यौ ॥ * कालात्सप्तमी च वक्तव्या ॥
वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा। कार्तिक्या आग्रहायणी मासे ॥
६४ । अन्याराादितर्ते दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते ।२।३।२।६ एतैर्योगे पञ्चमी स्यात् । अन्य इत्यर्थग्रहणम् ।

मन) क्रिया का बोध होता है। उसके निमित्त से 'कस्मात्' और 'नद्याः' में पञ्चमी विभक्ति होती है।

यतश्चेति (वा)— जिससे (आरम्भ करके) मार्ग या समय की गणना (माप) की जाती है उस स्थान या समय-वाची से पञ्चमी विभक्ति होती है। यहाँ निर्माण का अर्थ है—निमान, माप।

तद्युक्तादिति (वा)— उस पञ्चम्यन्त से अन्वित दूरी या मार्गवाची शब्द में प्रथमा अथवा सप्तमी विभक्ति होती है।

कालादिति (वा)—उस पञ्चम्यन्त से अन्वित कालवाची शब्द में सप्तमी विभक्ति होती है।

वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा (वन से ग्राम एक योजन है)— यहाँ 'वन' से ग्राम की दूरी दिखाई गई है। 'यतश्च०' इत्यादि नियम के अनुसार 'वन' पञ्चमी विभक्ति में है। पञ्चम्यन्त से अन्वित मार्गवाची शब्द 'योजन' में प्रथमा या सप्तमी विभक्ति है।

कार्तिक्या आग्रहायणी मासे—(कार्तिक की पूर्णिमा से अगहन की पूर्णिमा एक महीने में होती है)—यहाँ 'कार्तिकी' से 'आग्रहायणी' का अन्तर दिखाया गया है अतः कार्तिकी में पञ्चमी विभक्ति है और मास भर का अन्तर दिखलाया है अतः 'मास' से सप्तमी विभक्ति होती है।

६४. 'अन्यारात्' इति अन्य, आरात् (दूर या समीप), इतर (अन्य), ऋते (विना, दिशावाची शब्द, अञ्चु' धातु से बना हुआ है उत्तरपद जिनमें ऐसे प्राक्, प्रत्यक्, आदि शब्द, आच्' (तद्धित) प्रत्ययान्त 'दक्षिणा' आदि शब्द तथा 'आहि' (तद्धित) प्रत्ययान्त 'दक्षिणाहि' आदि शब्द–इनके योग में पञ्चमी होती है।

[illegible] । अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात् । आराद्वनात् । ऋते कृष्णात् । पूर्वो ग्रामात् । दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः । तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना योगेऽपि भवति । चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः । अवयववाचि योगे तु न । तस्य परमाम्रेडितम् ।८।१।२। इति निर्देशात् । पूर्वं कायस्य । अञ्चूत्तरपदस्य तु दिक्शब्दत्वेऽपि 'षष्ठ्यतसर्थ २।३।३० इति षष्ठीं बाधितुं पृथग्ग्रहणम् ।

अन्येति – सूत्र में 'अन्य' शब्द से 'भिन्न' अर्थ वाले सभी शब्दों (भिन्न, पर इतर आदि) का ग्रहण होता है । इतर' शब्द भी अन्यार्थक है, इसका पृथक् ग्रहण दिग्दर्शन मात्र के लिये किया गया है । (अथवा अनावश्यक है ।

अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात् (कृष्ण से भिन्न - यहाँ उपर्युक्त नियम के अनुसार 'कृष्ण' शब्द से पञ्चमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'आराद् वनात्' (वन के समीप अथवा वन से दूर) 'ऋते कृष्णात्' कृष्ण के बिना), पूर्वो ग्रामात् (ग्राम से पूर्व) ।

(१) दिशि दृष्ट इति—सूत्र में दिक् शब्द का अर्थ है-दिशा में देखा गया शब्द, इसलिये जो शब्द दिशा के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु इस समय देश या काल में उसका प्रयोग किया गया है उसके साथ भी पञ्चमी विभक्ति हो जाती है । जैसे— [illegible]

चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः—में पूर्व शब्द का अर्थ है—पहले, अतः यह काल का वाचक है । पर यह दिशा में देखा गया शब्द है इसलिये इसके साथ भी 'चैत्रात्' में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

(२) अवयवेति—अवयववाची पूर्व, पर आदि शब्दों के योग में पञ्चमी नहीं होती । आचार्य पाणिनि का 'तस्य परमाम्रेडितम्' ८।१। प्रयोग ही इसमें प्रमाण है । यहाँ 'तस्य परम्' में 'पर' के योग में पञ्चमी नहीं । फलतः 'पूर्व कायस्य' शरीर का पूर्व भाग मे पञ्चमी विभक्ति नहीं होती अपितु सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति होती है ।

(३) अञ्चूत्तरपदस्येति—यद्यपि अञ्चूत्तरपद 'प्राक्' 'प्रत्यक्' आदि शब्द दिक् शब्द ही है, अतः दिक् शब्द से अञ्चूत्तरपद का भी ग्रहण हो जाता है

प्राक् प्रत्यग्वा ग्रामात्। प्राच्, दक्षिणा ग्रामात्। आहि, दक्षिणाहि ग्रामात्। 'अपादाने पञ्चमी २।३।२८ इति सूत्रे कार्तिक्याः प्रभृतीति भाष्यप्रयोगात् प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी। भवात्प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः। 'अपपरिबहिः-२।१।१२, इति समासविधानाज्ज्ञापकाद् बहिर्योगे पञ्चमी। ग्रामाद् बहिः॥

तथापि सूत्र में उनका पृथक् ग्रहण षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन २।३।३० सूत्र (७८) से प्राप्त होने वाली षष्ठी का बाध करने के लिये किया गया है। इसका फल यह होता है कि प्राक्, प्रत्यक् आदि के योग में पञ्चमी विभक्ति ही होती है षष्ठी नहीं, जैसे—प्राक्, प्रत्यग् वा ग्रामात्।

टिप्पणी—यहाँ प्राक्, प्रत्यक् आदि शब्दों से स्वार्थ में अस्ताति प्रत्यय (अ० ५।३।२७) होता है और उसका लुक् (अञ्चेर्लुक् ५।३।३०) हो जाता है। अस्ताति' प्रत्यय अतसर्थक है (देखिये सू० ७८)।

दक्षिणा ग्रामात् (ग्राम से दक्षिण दिशा में)—यह आच् प्रत्यय का उदाहरण है। दक्षिण शब्द से आच् प्रत्यय होकर दक्षिण + आ—दक्षिणा अव्यय शब्द बनता है। इसके योग में ग्रामात् में पञ्चमी विभक्ति होती है।

दक्षिणाहि ग्रामात् (ग्राम से दूर दक्षिण दिशा में)—यह 'आहि' प्रत्यय का उदाहरण है। दक्षिण शब्द से 'आहि' (आहि च दूरे) प्रत्यय होकर 'दक्षिणाहि' शब्द बनता है। इसके योग में ग्रामात् में पञ्चमी विभक्ति होती है।

अपादान इति—अपादाने पञ्चमी २।३।२८ इस सूत्र पर 'कार्तिक्याः प्रभृति' इस भाष्य के प्रयोग से प्रभृति अर्थ वाले शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।

भवात् प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः (जन्म से लेकर (आमरण) हरि की भक्ति करनी चाहिये)—यहाँ प्रभृति के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। यद्यपि किसी नियम से यह कही नहीं गई किन्तु 'अपादाने' पञ्चमी २।३।२८।' इस सूत्र के भाष्य में 'कार्तिक्याः प्रभृति' यह प्रयोग किया गया है, इससे यह बात सूचित होती है कि प्रभृत्यर्थक शब्दों के योग में पञ्चमी होती है।

अपपरीति—अपपरि० २।१।१२ इस सूत्र के द्वारा 'बहिः' का पञ्चम्यन्त के साथ समास विधान किया गया है, इस ज्ञापन से बहिः के

६५। अपपरी वर्जने २।४।८८। एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयौ स्तः।

६६। आङ् मर्यादावचने।१।४।८९। मर्यादायामुक्तसंज्ञः स्यात्। वचनग्रहणादभिविधावपि।

६७। पञ्चम्यपाङ्परिभिः।२।३।१०। एतैः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात्। अप हरेः, परि हरेः संसारः। परिरत्र वर्जने।

योग में पञ्चमी होती है।

ग्रामाद् बहिः (ग्राम के बाहर)—यहाँ 'बहिः' शब्द के योग में 'ग्राम' शब्द से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। यद्यपि किसी सूत्र आदि से 'बहिः' शब्द के साथ पञ्चमी विभक्ति का विधान नहीं किया गया तथापि अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या २।१।१२ इस सूत्र में 'बहिः' शब्द का पञ्चम्यन्त के साथ समास विधान किया गया है। उससे ज्ञात होता है कि 'बहिः' के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। यदि इसके साथ पञ्चमी विभक्ति न होगी तो पञ्चम्यन्त से समास कैसे होगा?

६५. अपपरि वर्जने—वर्जन अर्थ को द्योतित करने में 'अप' और 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

६६. आङ्मर्यादावचने—मर्यादा अर्थ में 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। 'आङ्मर्यादायाम्' ऐसा कहने से ही ऊपर लिखा अर्थ निकल आता फिर 'वचन' शब्द अधिक दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि 'अभिविधि' में भी 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा इष्ट है। मर्यादा का अर्थ है—उसके बिना (तेन विनेति मर्यादा)। अभिविधि का अर्थ है उसके सहित (तेन सहेत्यभिविधिः)

६७. पञ्चम्यपाङ्परिभिः—अप, आङ्, परि इन कर्मप्रवचनीय संज्ञकों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।

अप हरेः, परि हरेः संसारः—(भगवान् को छोड़कर जन्म मरण का संसार चक्र है)। यहाँ 'अप' तथा 'परि' वर्जन अर्थ में है अतः इनके का

लक्षणादौ तु-हरिं परि । आमुक्तेः संसारः । आ सकलाद् ब्रह्म ।

६८ । प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः १।४।९२। एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसंज्ञः स्यात् ।

६९ । प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् ।२।३।११। अत्र कर्मप्रवचनीययोगे पञ्चमी स्यात् । प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति । तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् ।

प्रवचनीय संज्ञा होती है तथा उपर्युक्त नियम से इनके योग में 'हरेः' में पञ्चमी विभक्ति होती है।

लक्षणादाविति—जहाँ 'परि' शब्द लक्षण इत्थंभूताख्यान आदि अर्थ में होगा वहाँ तो इसकी 'लक्षणेत्थंभूताख्यान० (२१) आदि सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया (१७ इससे द्वितीया ही होगी। जैसे—हरिं परि।

आमुक्तेः संसारः (मुक्ति तक अथवा मुक्ति से पहले संसार है)—यहाँ 'आ' मर्यादा अर्थ में है। मुक्ति होने पर जन्ममरण रूपी संसरण नहीं रहता अतः मुक्ति मर्यादा है। इस 'आङ् की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'मुक्ति' शब्द से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।

आ सकलाद् ब्रह्म (सकल पर्यन्त या सबको व्याप्त करके ब्रह्म है)—यहाँ 'आङ्' अभिविधि अर्थ में है क्योंकि सकलवस्तु में ही ब्रह्म है। इस 'आङ् की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में उपर्युक्त नियम से 'सकलाद्' में पञ्चमी विभक्ति होती है।

६८ प्रतिरिति—प्रतिनिधि तथा प्रतिदान अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

६९. प्रतिनिधीति—जिसकी ओर से कोई प्रतिनिधि होता है अथवा जिससे कोई वस्तु बदली जाती है उससे कर्मप्रवचनीय (उपर्युक्त 'प्रति') के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।

७०। अकर्तर्यृणे पञ्चमी २।३।२४। कर्तृवर्जितं यदृणं हेतुभूतं ततः पञ्चमी स्यात्। शताद् बद्धः। अकर्तरि किम्? शतेन बन्धितः॥

प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति (प्रद्युम्न कृष्ण के प्रतिनिधि हैं)—यहाँ 'प्रति' प्रतिनिधित्व को प्रकट करता है अतः इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और प्रतिनिधि० ६ ' आदि नियम से इसके योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।

तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् (तिलों से उड़दों को बदलता है)—यहाँ तिलों से उड़द बदले जाते हैं इस प्रतिदान को प्रति शब्द द्योतित करता है अतः प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और इसके योग में 'तिलेभ्यः' शब्द मे पञ्चमी विभक्ति होती है।

७०. अकर्तर्यृणे, इति—कर्ता से भिन्न जो ऋण (किसी का) हेतु हो, उससे पञ्चमी विभक्ति होती है।

शताद् बद्धः—इसका अर्थ है—सौ (रुपये आदि) का ऋण न लौटाने के कारण बन्धा गया। यहाँ 'शत' (ऋण) बन्धन का हेतु है अतः उपर्युक्त नियम से इससे पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।

अकर्तरि किमिति—अकर्तरि शब्द का क्या प्रयोजन है? यह कि ऋण अर्थ मे विद्यमान जिस शब्द की 'कर्ता' संज्ञा हो जाती है चाहे वह हेतु भी हो तो भी उसके योग मे पञ्चमी विभक्ति नहीं होती। जैसे—'शतेन बन्धितः'; इसका अर्थ है—"सौ रुपये ने ऋणदाता से कर्जदार को बंधवा दिया" शतेन बन्धितः अधमर्णः उत्तमर्णेन इत्यर्थः। बन्धितः' शब्द णिजन्त (प्रेरणार्थक) बन्ध् धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय होकर बना है 'अधमर्ण उत्तमर्णेन बद्धः' "कर्जदार को ऋणदाता ने बांधा", यह साधारण दशा (अणिजन्त) का रूप होगा। 'शत' बांधने की प्रेरणा देता है यह प्रयोजक कर्ता है और हेतु भी (तत्प्रयोजको हेतुश्च)। यहाँ शत की कर्तृसंज्ञा हो जाने के कारण इससे पञ्चमी विभक्ति नहीं होती।

७१। विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् ।२।३।२५। गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात् ॥ जाड्याज्जाड्येनवाबद्धः। गुणे किम् ? धनेन कुलम्। अस्त्रियां किम् ? बुद्धया मुक्तः। विभाषेति योगविभागादगुणे स्त्रियां च क्वचित्। धूमादग्निमान्। नास्ति घटोऽनुपलब्धेः॥

---

७१ विभाषेति—जो गुणवाचक शब्द हेतु को प्रकट करता है और स्त्रीलिङ्ग नहीं है उससे विकल्प से पञ्चमी विभक्ति होती है। पक्ष में तृतीया विभक्ति होती है।

जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः (जड़ता के कारण बंध गया)—यहाँ 'जाड्य' बन्धन का हेतु है। यह गुणवाचक शब्द है और स्त्रीलिङ्ग में भी नहीं। अतएव इसमें पञ्चमी तथा तृतीया विभक्ति होती है।

गुणे किमिति—गुणवाचक शब्द से पञ्चमी होती है, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि जो शब्द गुणवाचक नहीं उससे पञ्चमी विभक्ति नहीं होती; अपितु हेतु में तृतीया विभक्ति ही होती है, जैसे—धनेन कुलम् (धन के कारण कुल)।

अस्त्रियां किमिति—सूत्र में अस्त्रियां शब्द का क्या प्रयोजन है ? यह कि जो शब्द गुणवाचक हो किन्तु स्त्रीलिङ्ग हो उससे पञ्चमी विभक्ति न होगी; अपितु हेतु में तृतीया विभक्ति होगी; जैसे—बुद्ध्या मुक्तः (बुद्धि के कारण मुक्त हो गया)। यहाँ 'बुद्धि' में तृतीया विभक्ति होती है।

विभाषा इति योगविभागाद् इति—"विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्" इस सूत्र में विभाग करके 'विभाषा' एक सूत्र मान लेते हैं। उसमें ऊपर से 'हेतौ' और 'पञ्चमी' शब्द की अनुवृत्ति हो जाती है तथा उसका अर्थ होता है—हेतु में विकल्प से पञ्चमी विभक्ति होती है। इसका फल यह होता है—

(१) कहीं-२ गुणवाचक शब्द न होने पर भी पञ्चमी विभक्ति हो, जैसे—'धूमाद् अग्निमान्' (धुआं होने से अग्नि वाला है)—यह यहाँ तथापि पञ्चमी विभक्ति होती है।

७२। पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् ।२।३।३२।
एभिर्योगे तृतीया स्यात्पञ्चमीद्वितीये च। अन्यतरस्यां ग्रहणं
समुच्चयार्थम्। पञ्चमीद्वितीये चानुवर्तेते। पृथग् रामेण रामात्
रामं वा। एवं विना नाना।

७३। करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य

---

(१) यहाँ स्त्रीलिङ्ग शब्द से भी हेतु में पञ्चमी विभक्ति हो जाती है, जैसे—'नास्ति घटोऽनुपलब्धेः' (उपलब्धि न होने से घट नहीं है) यहाँ "अनुपलब्धि" शब्द स्त्रीलिङ्ग है तथापि इससे पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।

७२. पृथग्विनेति—पृथक्, विना, नाना के योग से विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है और (पक्ष में) पञ्चमी तथा द्वितीया विभक्ति भी होती है।

अन्यतरस्यामिति—सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' शब्द (जिसका अर्थ [illegible] [illegible] है) —पञ्चमी और द्वितीया विभक्ति के समावेश के लिए है। पञ्चमी और द्वितीया दोनों की अनुवृत्ति आ रही है, पञ्चमी की [illegible] [illegible] 'अपादाने पञ्चमी २।३।२८' से और द्वितीया की [illegible] सूत्र [illegible] [illegible] २।३।१२' से।

पृथग् रामेण, रामात्, रामं वा (राम से अलग)—यहाँ पृथक् शब्द के योग से 'राम' शब्द से तृतीया अथवा पञ्चमी अथवा द्वितीया विभक्ति हुई है। इसी प्रकार—

रामात्, रामेण, रामं वा विना [illegible] [illegible] (राम के बिना है [illegible] [illegible]) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] (नाना के [illegible] [illegible] [illegible] है) [illegible] ([illegible] [illegible] [illegible]) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तृतीया, पञ्चमी अथवा द्वितीया विभक्ति होती है।

७३. करणे चेति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] (कृछ्र) इन शब्दों का [illegible] [illegible] के लिए [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

।२।३।३३। एभ्योऽद्रव्यवचनेभ्यः करणे तृतीयापञ्चम्यौ स्तः। स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः। द्रव्ये तु—स्तोकेन विषेण हतः।

७४। दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च ।२।३।३५। एभ्यो द्वितीया स्याच्चात्पञ्चमीतृतीये। प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयम्। ग्रामस्य दूरं-दूरात्-दूरेण वा। अन्तिकम्-अन्तिकात् अन्तिकेन वा।

करण में तृतीया अथवा पञ्चमी विभक्ति (विकल्प से) होती है। असत्त्ववचनस्य का अर्थ है—'अद्रव्यवाची का' अर्थात् जब इनका प्रयोग द्रव्य के समानाधिकरण रूप में नहीं होता।

स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः—इसका अर्थ है—थोड़े से (प्रयास) से ही मुक्त हो गया। यहाँ 'स्तोक' शब्द किसी द्रव्य का विशेषण नहीं है अतः, उपर्युक्त नियम से इसमें तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति विकल्प से हो जा है। इसी प्रकार—'अल्पेन अल्पाद् वा मुक्तः', 'कृच्छ्रेण कृच्छ्राद् वा मुक्त 'कतिपयेन कतिपयाद् वा मुक्तः' आदि प्रयोग होते हैं।

द्रव्ये त्विति—जहाँ 'स्तोक' आदि शब्दों का द्रव्य के लिए प्रयोग कि जाता है अर्थात् ये किसी द्रव्यवाची शब्द के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हो हैं वहाँ इनमें केवल तृतीया विभक्ति ही होती है, पञ्चमी नहीं, जैसे—'स्तोके विषेण हतः' (थोड़े से विष से मारा गया) यहाँ 'स्तोक' शब्द 'विष' क विशेषण है। 'विष' वैशेषिक की परिभाषा के अनुसार द्रव्य है।

७४. दूरान्तिकेति—दूर तथा समीप (अन्तिक) अर्थ वाले शब्दों द्वितीया होती है और पञ्चमी तथा तृतीया विभक्ति भी। ये विभक्तिय केवल प्रातिपदिकार्थ में होती हैं इनका अन्य कोई अर्थ नहीं होता। य नियम प्रथमा विभक्ति का अपवाद है।

ग्रामस्य दूरम्, दूरात्, दूरेण वा (गाम से दूर)—यहाँ उपर्युक्त नियम के अनुसार 'दूर' शब्द से द्वितीया, पञ्चमी तथा तृतीया विभक्ति होती है

असत्त्ववचनस्येत्यनुवृत्तेर्नेह । दूरः पन्थाः ॥ इति पञ्चमी ॥

७५ । षष्ठी शेषे ।२।३।५०। कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषस्तत्र षष्ठी स्यात् । राज्ञः पुरुषः । कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव,

---

इसी प्रकार—'[illegible], अन्तिकम्, अन्तिकात्, अन्तिकेन वा' [पास के लिए] में भी ।

असत्त्वेति—'दूरान्तिकार्थेभ्य०' सूत्र [७४] में भी असत्त्ववचनस्य [अद्रव्य-वाची] की अनुवृत्ति आती है इसलिये जो दूर और अन्तिक अर्थ वाले शब्द 'द्रव्य' के विशेषण नहीं उनमें ही ऊपर का नियम लागू होता है तथा "दूरः पन्थाः" में 'दूर' शब्द से प्रथमा विभक्ति ही होगी द्वितीया आदि नहीं। यहाँ 'दूर' शब्द 'पन्थाः' का विशेषण है और 'पन्थाः' द्रव्यवाची शब्द है। इति पञ्चमी ॥

षष्ठी विभक्ति। ७५. षष्ठी शेषे—शेष शब्द का अर्थ है—जो कहा जा चुका है उससे बचा हुआ [उक्तादन्यः शेषः]। कर्म, कर्ता, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण कारक और प्रातिपदिकार्थ का इससे पूर्व प्रकरणों में वर्णन किया जा चुका है, अतः इससे बचा हुआ, जो स्व [अपनी वस्तु का वर्णन] तथा स्वामी आदि का सम्बन्ध है, वह शेष है। इस सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है।

टिप्पणी—षष्ठी विभक्ति प्रत्येक पदार्थ और पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रकट करती है और यह 'सम्बन्ध' वस्तुतः में 'कारक' नहीं। कारक क्या है यह पहले कहा जा चुका है।

राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष)—यहाँ राजा स्वामी है। उसका स्वामित्व पुरुष पर दिखलाया गया है, अतः पुरुष 'स्व' है। इस प्रकार स्वामी का सम्बन्ध दिखलाने के लिए (जिसे स्व) स्वामित्व दिखलाया जाता है उसके षष्ठी विभक्ति हो जाती है, इसीलिये 'राज्ञः' में षष्ठी विभक्ति है।

कर्मादीनामपि, इति—कर्म आदि कारकों से केवल सम्बन्ध मात्र को प्रकट करने की इच्छा होती है (कर्मत्व आदि की विवक्षा नहीं होती) तो वहाँ (वे)

सतां गतम् । सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति । एधो दकस्योपस्कुरुते । भजे शम्भोश्चरणयोः । फलानां तृप्तः ॥

७६ । षष्ठी हेतुप्रयोगे ।२।३।२६। हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात् । अन्नस्य हेतोर्वसति ।

षष्ठी विभक्ति ही होती है । जैसे - 'सतां गतम्—यहाँ भाव में क्त प्रत्यय है । "सत्पुरुषों का गमन" यह अर्थ होता है अतः सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में कर्ता सत् शब्द से षष्ठी विभक्ति होकर 'सताम्' शब्द बनता है । इसी प्रकार—

सर्पिषो जानीते – इसका अर्थ है—"सर्पिषा उपायेन प्रवर्तते" अर्थात् 'घृत के द्वारा प्रवृत्त होता है' । यहाँ 'सर्पिस्' (घृत) प्रवृत्ति का करण है । उसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

मातुः स्मरति (माता को स्मरण करता है।—यहाँ 'माता' स्मरण का कर्म है । कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

एधोदकस्य उपस्कुरुते (काष्ठ जल को परिष्कृत करता है अथवा काष्ठ और जल को परिष्कृत करता है) — एध" शब्द अकारान्त पुं० है । अथवा 'एधस्' सकारान्त नपुं० इसका अर्थ है काष्ठ । पहिले अर्थ में 'एधः' पृथक् शब्द है । यह कर्ता है । दक शब्द का अर्थ है—जल (उदक), यह कर्म है । कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति हो जाती है । दूसरे अर्थ में 'एधाश्च उदकं चैषां समाहारः एधोदकम्' यहाँ एध शब्द अकारान्त है । 'एधोदक' समस्त पद कर्म है । उसमें सम्बन्ध की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति होती है ।

भजे शम्भोश्चरणयो (शम्भु के चरणों का भजन करता हूँ) यहाँ 'चरण' कर्म है । इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

फलानां तृप्तः (फलों से तृप्त हुआ)—यहाँ 'फल' करण है । इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

७६. षष्ठी हेतुप्रयोगे इति—यदि हेतु शब्द का प्रयोग हो तथा कारणता प्रकट करनी हो तो (हेतु शब्द तथा कारणबोधक शब्द दोनों में) षष्ठी विभक्ति होती है । जैसे—

७७। सर्वनाम्नस्तृतीया च। २।३।२७। सर्वनम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात् षष्ठी च। केन हेतुना वसति। कस्य हेतोः। * (वा) निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्॥ किं निमित्तं वसति। केन निमित्तेन। कस्मै निमित्तायेत्यादि। एवं किं कारणम्, को हेतुः, किं प्रयोजनमित्यादि। प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः।

अन्नस्य हेतोर्वसति (अन्न के लिये बसता है)—यहाँ रहने का प्रयोजन अन्न है। हेतु शब्द का प्रयोग भी किया गया है। इसलिये 'अन्न' शब्द तथा हेतु शब्द दोनों से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

७७ सर्वनाम्नस्तृतीया चेति सर्वनाम के साथ हेतु शब्द का प्रयोग होने पर हेतु प्रकट करने के लिये (सर्वनाम और हेतु शब्द दोनों में) तृतीया तथा षष्ठी विभक्ति होती है।

केन हेतुना वसति (किस लिये रहता है?)- यहाँ हेतु शब्द का सर्वनाम के साथ प्रयोग किया गया है तथा हेतु प्रकट करना है, अतएव उपर्युक्त नियम से 'केन तथा हेतुना' दोनों में तृतीया विभक्ति होती है। पक्ष में षष्ठी विभक्ति होती है 'कस्य हेतोः'।

निमित्तेति (वा)—निमित्त शब्द के पर्यायवाची (कारण, प्रयोजन आदि) शब्दों का प्रयोग होने पर प्रायः सभी विभक्तियाँ देखी जाती हैं। जैसे—

किं निमित्तं वसति (किस लिये रहता है)—यहाँ प्रथमा या द्वितीया विभक्ति है।

केन निमित्तेन (तृतीया) कस्मै निमित्ताय चतुर्थी इसी प्रकार—कस्मात् निमित्तात्, कस्य निमित्तस्य, कस्मिन् निमित्ते इत्यादि तथा निमित्त के पर्यायवाची शब्द के प्रयोग में "किं कारणम्" इत्यादि होते हैं।

प्रायग्रहणात् इति—वार्तिक में प्राय शब्द का ग्रहण किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ सर्वनाम का प्रयोग नहीं होता (असर्वनाम्नः) वहाँ प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति नहीं होती, अन्य सब विभक्तियाँ होती हैं। जैसे—

ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः । ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि ॥

७८ । षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन ।२।३।३०। एतद्योगे षष्ठी स्यात् 'दिक्शब्द—६४' इति पञ्चम्या अपवादः । ग्रामस्य दक्षिणतः पुरः पुरस्तात् । उपरि उपरिष्टात् ।

ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः [ज्ञान के लिये हरि की सेवा कर चाहिए]—यहाँ 'ज्ञान' तथा 'निमित्त' दोनों शब्दों से उपर्युक्त नियम अनुसार तृतीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'ज्ञानाय निमित्ताय' आदि चतुर्थी इत्यादि हो जाती है । किन्तु 'ज्ञान' शब्द सर्वनाम नहीं है अतः य प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति नहीं होती ।

७८. षष्ठ्यतसर्थ, इति—अतस् (अतसुच्) प्रत्यय तथा उसके अ वाले प्रत्यय लगाकर बने हुए (दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात् इत्यादि) शब्दों योग में षष्ठी विभक्ति होती है ।

'अन्यारात्० ६४' ।२।३।२९। सूत्र में दिक् शब्द का ग्रहण करने दक्षिणतः आदि के योग में पञ्चमी प्राप्त थी उसका यह सूत्र अपवाद अर्थात् उस पञ्चमी को बाधकर षष्ठी का विधान करता है ।

ग्रामस्य दक्षिणतः (ग्राम के दक्षिण ओर)—यहाँ दक्षिणतः में अतसु (दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्) ५।३।२८। प्रत्यय है । यह प्रत्यय दिग्देशकालवाची शब्दों से स्वार्थ में कहा गया है । उपर्युक्त नियम के अनुसार दक्षिणतः के योग में 'ग्राम' शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है ।

इसी प्रकार—ग्रामस्य पुरः, यहाँ पुरः शब्द पूर्व शब्द से 'असि' प्रत्यय होकर बना है । पूर्व को पुर् आदेश होकर पुर+अस्→पुरः हो जाता है । पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् ५।३।३९। असि प्रत्यय भी अतसुच् अर्थ में ही है । पुरस्तात्→पूर्व+अस्ताति* →पुर्+अस्तात्→पुरस्तात् । उपरि तथा उपरिष्टात् दोनों शब्द अतसर्थ प्रत्यय के प्रकरण में ऊर्ध्व शब्द से

*दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः ५।३।२७

७९। एनपा द्वितीया २।३।३१। एनबन्तेन योगे द्वितीया स्यात्। एनपेति योगविभागात्षष्ठ्यपि। दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा। एवमुत्तरेण।

८०। दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् ।२।३।३४। एतैर्योगे षष्ठी स्यात्पञ्चमी च। दूरं निकटं ग्रामस्य ग्रामाद्वा ॥

८१। ज्ञोऽविदर्थस्य करणे ।२।३।५१। जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात्। सर्पिषो ज्ञानम् ॥

[रिल् तथा रिष्टाति प्रत्यय और ऊर्ध्व को 'उप' आदेश] निपातन द्वारा बनाये गये हैं। इनके योग में षष्ठी विभक्ति होती है—"ग्रामस्य उपरि", "ग्रामस्य उपरिष्टात्" इत्यादि।

७९. एनपेति—एनप् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। यहाँ 'एनपा' इतना सूत्र अलग मानकर उसमें षष्ठ्यतसर्थ० २।३।३० से षष्ठी की अनुवृत्ति लाते हैं इस प्रकार 'एनप्' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति भी होती है।

दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा [ग्राम के दक्षिण]—दक्षिणेन शब्द दक्षिण शब्द से एनप प्रत्यय [एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः] ५।३।३५। होकर बना है। इसके योग में उपर्युक्त नियम के अनुसार 'ग्राम' या 'ग्रामस्य' में द्वितीया या षष्ठी विभक्ति होती है।

८०. दूरान्तिकार्थैरिति—दूर और समीप [अन्तिक] अर्थ वाले शब्दों के योग में षष्ठी तथा पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे—दूरं निकटं ग्रामस्य, ग्रामाद् वा [ग्राम से दूर या समीप]।

८१. ज्ञोऽविदर्थस्येति—अविदर्थस्य का अर्थ है—ज्ञान से भिन्न अर्थ वाली। ज्ञान से भिन्न अर्थ वाली जानाति [ज्ञा] के करण में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

सर्पिषो ज्ञानम्—इसका अर्थ है—घृत सम्बन्धी [घृत द्वारा होने वाली] प्रवृत्ति। यहाँ ज्ञा धातु ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति अर्थ में है। 'सर्पिस्' [घृत]

---

* उपर्युपरिष्टात् ५।३।३१।

ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः । ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि ॥

७८ । षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन ।२।३।३०। एतद्योगे षष्ठी स्यात् । 'दिक्शब्द—६४' इति पञ्चम्या अपवादः । ग्रामस्य दक्षिणतः । पुरः पुरस्तात् । उपरि उपरिष्टात् ।

ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः [ज्ञान के लिये हरि की सेवा करनी चाहिए]—यहाँ 'ज्ञान' तथा 'निमित्त' दोनों शब्दों से उपर्युक्त नियम के अनुसार तृतीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'ज्ञानाय निमित्ताय' आदि में चतुर्थी इत्यादि हो जाती है । किन्तु 'ज्ञान' शब्द सर्वनाम नहीं है अतः यहाँ प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति नहीं होती ।

७८. षष्ठ्यतसर्थ, इति—अतस् (अतसुच्) प्रत्यय तथा उसके अर्थ वाले प्रत्यय लगाकर बने हुए (दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात् इत्यादि) शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति होती है ।

'अन्यारात्० ६४' ।२।३।२९। सूत्र में दिक् शब्द का ग्रहण करने से दक्षिणतः आदि के योग में पञ्चमी प्राप्त थी उसका यह सूत्र अपवाद है, अर्थात् उस पञ्चमी को बाधकर षष्ठी का विधान करता है ।

ग्रामस्य दक्षिणतः (ग्राम के दक्षिण ओर)—यहाँ दक्षिणतः में अतसुच् (दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्) ५।३।२८। प्रत्यय है । यह प्रत्यय दिग्देशकालवाची शब्दों से स्वार्थ में कहा गया है । उपर्युक्त नियम के अनुसार दक्षिणतः के योग में 'ग्राम' शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है ।

इसी प्रकार—ग्रामस्य पुरः, यहाँ पुरः शब्द पूर्व शब्द से 'असि' प्रत्यय होकर बना है । पूर्व को पुर् आदेश होकर पुर् + अस् → पुरः हो जाता है । पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् ५।३।३९। असि प्रत्यय भी अतसुच् अर्थ में ही है । पुरस्तात् → पूर्व + अस्ताति → पुर् + अस्तात् → पुरस्तात् । उपरि तथा उपरिष्टात् दोनों शब्द अतसर्थ प्रत्यय के प्रकरण में ऊर्ध्व शब्द से

[illegible]

७९ । एनपा द्वितीया २।३।३१। एनबन्तेन योगे द्वितीया स्यात् । एनपेति योगविभागात्षष्ठ्यपि । दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा । एवमुत्तरेण ।

८० । दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् ।२।३।३४। एतैर्योगे षष्ठी स्यात्पञ्चमी च । दूरं निकटं ग्रामस्य ग्रामाद्वा ॥

८१ । ज्ञोऽविदर्थस्य करणे ।२।३।५१। जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात् । सर्पिषो ज्ञानम् ॥

[रिल् तथा रिष्टाति प्रत्यय और ऊर्ध्व को 'उप' आदेश] निपातन द्वारा बनाये गये हैं । इनके योग में षष्ठी विभक्ति होती है—"ग्रामस्य उपरि", "ग्रामस्य उपरिष्टात्" इत्यादि ।

७९. एनपेति—एनप् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है । यहाँ 'एनपा' इतना सूत्र अलग मानकर उसमें षष्ठ्यतसर्थ० २।३।३०। से षष्ठी की अनुवृत्ति लाते हैं इस प्रकार 'एनप्' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति भी होती है ।

दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा [ग्राम के दक्षिण]—दक्षिणेन शब्द दक्षिण शब्द से एनप् प्रत्यय [एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः] ५।३। ३५। होकर बना है । इसके योग में उपर्युक्त नियम के अनुसार 'ग्राम' या 'ग्रामस्य' में द्वितीया या षष्ठी विभक्ति होती है ।

८०. दूरान्तिकार्थैरिति—दूर और समीप [अन्तिक] अर्थ वाले शब्दों के योग में षष्ठी तथा पञ्चमी विभक्ति होती है । जैसे—दूरं निकटं ग्रामस्य, ग्रामाद् वा [ग्राम से दूर या समीप] ।

८१. ज्ञोऽविदर्थस्येति—अविदर्थस्य का अर्थ है—ज्ञान से भिन्न अर्थ वाली । ज्ञान से भिन्न अर्थ वाली जानाति [ज्ञा] के करण में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ।

सर्पिषो ज्ञानम्—इसका अर्थ है—घृत सम्बन्धी [घृत द्वारा होने वाली] प्रवृत्ति । यहाँ ज्ञा धातु ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति अर्थ में है । 'सर्पिस्' [घृत]

---

* उपर्युपरिष्टात् ५।३।३१।

८२ । अधीगर्थदयेशां कर्मणि ।२।३।५२। एषां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् । मातुः स्मरणम् । सर्पिषो दयनम् ईशनं वा ।
८३ । कृञः प्रतियत्ने ।२।३।५३। कृञः कर्मणि शेषे षष्ठी स्याद् गुणाधाने । एधोदकस्योपस्करणम् ॥
८४ । रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः ।२।३।५४। भावकर्तृ-

करण है । इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है ।

टिप्पणी—ज्ञोऽविदर्थस्य करणे २।३।५१। से लेकर अवहृपणोः समर्थयोः २।३।५७। तक के सूत्रों में तथा कृत्वोऽर्थप्रयोगे० २।३।६४। इस सूत्र में 'शेषे' की अनुवृत्ति आती है अतः 'षष्ठीशेषे' सूत्र से ही इसके विषय में षष्ठी विभक्ति सिद्ध है । इन सूत्रों से फिर षष्ठी का विधान इसलिये किया गया है कि "सर्पिषो ज्ञानम्" आदि मे षष्ठी समास न हो, जैसा कि कहा है—"प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते" ।

८२. अधीगर्थ इति—[अधि पूर्वक इ धातु (इक् स्मरणे)=अधीक्, अधीगर्थ का अर्थ है—स्मरणार्थक] । स्मरणार्थक धातुएं तथा दय् (दान-गतिरक्षणेषु, ईश [ऐश्वर्ये] इनके कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ।

मातुः स्मरणम् [माता को याद करना], सर्पिषो दयनम् [घृत का दान देना], सर्पिषो ईशनं [घृत का यथेष्ट प्रयोग] इनमें 'मातुः' तथा सर्पिषः में षष्ठी विभक्ति हो जाती है तथा यहाँ षष्ठी समास नहीं होता [देखिये ऊपर टिप्पणी] ।

८३. कृञः प्रतियत्न इति-[प्रतियत्न का अर्थ है— गुणाधान अर्थात् किसी वस्तु में अन्य गुणों की स्थापना करना, जैसे—जल में उष्णता पैदा करना] । कृञ् धातु के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर गुणाधान अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है । जैसे—"एधोदकस्य उपस्करणम्" [देखिये ऊपर षष्ठी शेषे की व्याख्या] ।

८४. रुजार्थानाम् इति—ज्वरि धातु को छोड़ कर अन्य रोगार्थक

काणां ज्वरिवर्जितानां रुजार्थानां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् । चौरस्य रोगस्य रुजा ॥ * (वा) अज्वरिसंताप्योरिति वाच्यम् ॥ रोगस्य चौरज्वरः चौरसन्तापो वा । रोगकर्तृकं चौरसम्बन्धि ज्वरादिकमित्यर्थः ॥

८५ । आशिषि नाथः २।३।५५। आशीरर्थस्य नाथतेः शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । सर्पिषो नाथनम् । आशिषीति किम् ? माणवकनाथनम् । तत्सम्बन्धिनी याच्ञेत्यर्थः ॥

धातुओं के कर्म मे सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है जबकि उनका कर्ता भाववाचक शब्द हो ।

चौरस्य रोगस्य रुजा (रोग द्वारा की हुई चौर की पीड़ा)—यहाँ भाववाचक 'रोग' शब्द रुजा अर्थात् पीडा का कर्त्ता है, चौर पीड़ा का कर्म है । उससे सम्बन्ध मात्र की विवक्षा मे षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

अज्वरि-इति (वा)—सूत्र में 'अज्वरेः' के स्थान पर "अज्वरिसन्ताप्योः" यह कहना चाहिये अर्थात् ज्वरि और सन्तापि धातु को छोडकर । इसलिये—'रोगस्य चौरज्वरः' अथवा 'चौरसन्तापः' यहाँ चौरस्य ज्वरः (चौरज्वरः) मे इस नियम से षष्ठी नही हुई, अपितु 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति हुई तथा 'चौरज्वरः' में षष्ठी समास हो गया । इस सूत्र से षष्ठी होने पर तो समास न होता । (देखिये पृष्ठ ७२, टिप्पणी) । यहाँ भी अर्थ उसी प्रकार होता है—'रोग द्वारा किया हुआ चौर सम्बन्धी ज्वर आदि' ।

८५. आशिषीति —आशीः अर्थ वाली नाथ् धातु के के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है । 'आशीः' का अर्थ अभिलाषा ।

सर्पिषो नाथनम् (कमरूप घृत सम्बन्धी अभिलाषा)—यहाँ 'मेरे घृत होवे' यह अच्छा है । 'सर्पिस्' नाथ् धातु का कर्म है । इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा मे षष्ठी विभक्ति होती है । यहाँ भी समास नही होता ।

आशिषि किमिति—सूत्र मे 'आशिषि' शब्द का क्या प्रयोजन है ? यह कि जब नाथ् धातु "आशीः" अर्थ में होती है तभी उपर्युक्त नियम से षष्ठी

८६ । जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् २।३।५६।
हिंसार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । चौरस्योज्जासनम् । निप्रौ संहतौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा । चौरस्य निप्रहणनम् । प्रणिहननम् । निहननम् । प्रहणनं वा । नट अवस्कन्दने चुरादिः । चौरस्योन्नाटनम् । चौरस्य क्राथनम् । वृषलस्य पेषणम् । हिंसायां किम् ? धानापेषणम् ॥

होती है, अन्यथा नहीं । जैसे—माणवकनाथम् यहाँ पर यह षष्ठी नहीं होती। इसका अर्थ है—माणवक सम्बन्धी याचना । यहाँ माणवक से कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में (षष्ठी शेषे) षष्ठी विभक्ति होती है और षष्ठी समास हो ही जाता है ।

८६. जासीति—हिंसार्थक जासि (णिजन्त 'जसु ताडने' तथा 'जसु हिंसायाम्') नि तथा प्र पूर्वक हन्, नाट् (णिजन्त नट्) क्राथ (णिजन्त क्रथ) पिष् इन धातुओं के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ।

चौरस्य उज्जासनम् (चोर सम्बन्धी हिंसा)—यहाँ चोर उज्जासन का कर्म है । इसमें सम्बन्धमात्र की विवक्षा होने पर उपर्युक्त नियमानुसार षष्ठी विभक्ति होती है ।

निप्रौ, इति - नि और प्र उपसर्ग इसी क्रम से मिले हुए (निप्र) विपरीत क्रम से मिले हुए (विपर्यस्तौ— प्रनि इति) तथा पृथक्-२ रूप में (व्यस्तौ) लिये जाते हैं; अतएव "चौरस्य निप्रहणनम्", "चौरस्य प्रणिहननम्", "चौरस्य निहननम्", "चौरस्य प्रहणनम्" सर्वत्र षष्ठी विभक्ति होती है ।

चौरस्य उन्नाटनम्—यहाँ "नट अवस्कन्दने" चुरादिगण की धातु ली जाती है । अवस्कन्दन का अर्थ नाट्य है किन्तु उपसर्ग लगने से इसका अर्थ हिंसा हो जाता है । इसी प्रकार चौरस्य क्राथनम्, वृषलस्य पेषणम् में भी षष्ठी होती है ।

हिंसायां किमिति - हिंसा अर्थ में ही यह षष्ठी होती है ऐसा क्यों

८७। व्यवहृपणोः समर्थयोः ।२।३।५७। शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता। शतस्य व्यवहरणं पणनं वा। समर्थयोः किम् ? शलाकाव्यवहारः। गणनेत्यर्थः ब्राह्मणपणनं स्तुतिरित्यर्थः।

८८। दिवस्तदर्थस्य ।२।३।५८। द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्या-

कहा ? इसलिये कि—

'धानापेषणम्' (धानानां पेषणम्) यहाँ कृदन्त के योग में ही (कर्तृकर्मणोः कृति ६२ अथवा षष्ठी शेषे ७५ से) षष्ठी होती है तथा यहाँ षष्ठी समास हो जाता है। जासि० ८६, इत्यादि सूत्र से जहाँ षष्ठी होती है वहाँ षष्ठी समास नहीं होता यह कहा जा चुका है (देखिये ऊपर टिप्पणी)।

८७. व्यवहृ इति—समान अर्थ वाली वि+अव पूर्वक हृ हरणे) तथा पण व्यवहारे स्तुतौ च) धातु के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

द्यूत इति—जुआ खेलना और क्रय विक्रय करना इन दो अर्थों में व्यवहृ तथा पण धातु समान अर्थ वाली हैं।

शतस्य व्यवहरणं पणनं वा [सौ का क्रय विक्रय या जुआ]—यहाँ 'शतस्य व्यवहरति' इस अर्थ में 'शत' कर्म है इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

समर्थयोः किमिति—सूत्र में समान अर्थ वाली [समर्थयोः] क्यों कहा ? इसलिये कि द्यूत तथा क्रय विक्रय व्यवहार से भिन्न अर्थ में इन धातुओं के कर्म में, इस नियम से, षष्ठी नहीं होती। जैसे– शलाकाव्यवहारः यहाँ 'व्यवहार' का अर्थ गणना है। यहाँ 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति होकर षष्ठी समास हो जाता है। इसी प्रकार 'ब्राह्मणपणनम्' अर्थात् 'ब्राह्मण की स्तुति' यहाँ भी।

८८. दिव इति—[तदर्थस्य] अर्थात् द्यूत और क्रयविक्रय व्यवहार अर्थ में दिव् धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है।

वहारार्थस्य दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात् । शतस्य दीव्यति । तदर्थस्य किम् ? ब्राह्मणं दीव्यति । स्तौतीत्यर्थः ॥

८९ । विभाषोपसर्गे ।२।४।५९। पूर्वयोगापवादः । शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति ॥

९० । प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासंप्रदाने ।२।३।६१। देवतासंप्रदानेऽर्थे वर्तमानयोः प्रेष्यब्रुवोः कर्मणो हविर्विशेषस्य वाचकाच्छब्दात्षष्ठी स्यात् । अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा ॥

शतस्य दीव्यति [सौ को दाव पर या व्यवहार मे लगाता है]—यहां 'शत' दीव्यति का कर्म है। इसमे उपर्युक्त नियम से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

टिप्पणी—इस सूत्र में 'शेषे' की अनुवृत्ति नही आती, अतः यह षष्ठी-विधान भास की निवृत्ति के लिये नहीं है, इसी से 'दीव्यति' यह तिङन्त का प्रयोग दिया है, पहले सूत्रों के समान कृदन्त का नहीं।

तदर्थस्य किम् इति—द्यूत तथा क्रयविक्रय व्यवहार इन अर्थों में प्रयुक्त 'दिव्' धातु के कर्म मे षष्ठी होती है जहाँ इन दोनो अर्थों से भिन्न अर्थ में दिव् धातु का प्रयोग होता है वहाँ कर्म में षष्ठी नही होती, अतएव 'ब्राह्मणं दीव्यति' मे कर्म में द्वितीया ही होती है। यहाँ दीव्यति का अर्थ है—स्तुति करता है।

८९. विभाषेति —उपसर्ग पूर्वक दिव धातु के कर्म मे विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है। यह पहिले नियम का अपवाद है। जैसे—शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति—यहाँ षष्ठी तथा द्वितीया विभक्ति विकल्प से होती है।

९० प्रेष्यब्रुवोरिति—[देवतासम्प्रदाने शब्द का अर्थ है—'देवता सम्प्रदानं यस्य तस्मिन्' अर्थात् जहाँ देवता को उद्देश्य करके कुछ दिया जाता है। प्रेष्य शब्द प्र पूर्वक इष् धातु (दिवादि) का लोट् लकार मध्यम पुरुष का एकवचन है। इसके साहचर्य से 'ब्रूञ्' धातु का भी लोट् मध्यमपुरुष का एकवचन ही लिया जाता है]—देवतासम्प्रदान अर्थ में विद्यमान प्रेष्य तथा ब्रू (ब्रूहि) के कर्म हविः वाचक शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

९१ । कृत्वोर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे २।३।६४। कृत्वोर्थानां प्रयोगे कालवाचिन्यधिकरणे शेषे षष्ठी स्यात् । पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम् । द्विरह्नो भोजनम् । शेषे किम् ? द्विरहन्यध्ययनम् ॥

९२ । कर्तृकर्मणोः कृति २।३।६५। कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात् । कृष्णस्य कृतिः । जगतः कर्ता कृष्णः ॥

आग्नेयं छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा — यहाँ हविः विशेषवाचक वपा तथा मेदस् शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है और हविस् शब्द से भी ।

९१. कृत्वोऽर्थेति—कृत्व अर्थ वाले प्रत्ययों के प्रयोग मे कालवाचक अधिकरण मे सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ।

क्रिया की आवृत्ति को प्रकट करने के लिए संख्या से कृत्वसुच् [कृत्व] प्रत्यय होता है—'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' ।५।४।१७।

पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम् [दिन मे पाच बार भोजन]—यहाँ कालवाचक 'अहन्' शब्द वास्तव में अधिकरण है । उपर्युक्त नियम से कृत्वप्रत्ययान्त 'पञ्चकृत्वः' शब्द के योग में 'अहन्' शब्द से षष्ठी विभक्ति [अह्नः] हो गई है।

द्विरह्नो भोजनम् [दिन में दो बार भोजन]—यहाँ द्वि शब्द से कृत्वसुच् प्रत्यय के अर्थ मे सुच् प्रत्यय हुआ है[1] । इसके योग मे 'अहन्' शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है ।

शेषे किम् इति—सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में ही षष्ठी विभक्ति होती है अतएव 'द्विः अहनि अध्ययनम्' यहाँ अहनि मे सप्तमी विभक्ति हुई क्योंकि यहाँ अधिकरण की विवक्षा है ।

९२. कर्तृकर्मणोः कृति कृदन्त के योग मे कर्त्ता तथा कर्म मे षष्ठी विभक्ति होती है ।

कृष्णस्य कृतिः [कृष्ण का कार्य]—यहाँ पर 'कृति' शब्द कृदन्त है । यह कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय जोडने से बना है । इसका कर्त्ता कृष्ण है ।

---

१. द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ५।४।१८।

* (वा) गुणकर्मणि वेष्यते ॥ नेताश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा । कृति किम् ? तद्धिते मा भूत् । कृतपूर्वी कटम् ॥ ६३ । उभयप्राप्तौ कर्मणि ।२।३।६६। उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन्

अतः कृदन्त शब्द [कृति] के योग में कर्ता 'कृष्ण' शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

जगतः कर्ता कृष्णः [जगत् का कर्ता कृष्ण]--यहाँ पर कर्ता शब्द कृदन्त है। यह 'कृ' धातु से तृच् प्रत्यय होकर बना है। इसका कर्म 'जगत्' है। उपर्युक्त नियम के अनुसार जगत् शब्द से कृत्प्रत्ययान्त [कर्तृ] के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

गुणकर्मणीति [वा] --कृत्प्रत्ययान्त द्विकर्मक धातु के योग में गौण कर्म में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है। मुख्य कर्म में नित्य षष्ठी होती है; जैसे--

नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा [स्रुघ्न नामक स्थान को घोड़ा ले जाने वाला]--नी धातु द्विकर्मक है। इसका मुख्य कर्म 'अश्व' है और गौण कर्म ['अकथितं च' के अनुसार] स्रुघ्न है। उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार स्रुघ्न शब्द से विकल्प से षष्ठी विभक्ति हो जाती है पक्ष में द्वितीया ही होती है--स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा।

कृति किम् इति- सूत्र में 'कृति' शब्द का ग्रहण क्यों किया? इसलिए कि कृदन्त के प्रयोग में ही कर्ता और कर्म में षष्ठी हो तद्धितान्त के प्रयोग में नहीं। इसका फल यह होता है कि "कृतपूर्वी कटम्" यहाँ कट शब्द से षष्ठी विभक्ति नहीं होती। 'पूर्वं कृतमनेन' इस अर्थ में 'कृत+पूर्व' शब्द से तद्धित इनि [पूर्वादिनिः ५।२।८६ सपूर्वाच्च ५।२।८७।] प्रत्यय होकर कृतपूर्वी शब्द बनता है। फिर कर्म की अपेक्षा होने पर 'कट' शब्द का कर्म रूप में अन्वय होता है। 'कट' शब्द कृदन्त 'कृत' शब्द का कर्म है अतः षष्ठी प्राप्त होती है, किन्तु 'कृति' ग्रहण से तद्धितमात्र भी अधिक हो जाने पर षष्ठी विभक्ति नहीं हो पाती।

३. उभयेति—जहाँ कृदन्त के योग में कर्त्ता और कर्म दोनों में षष्ठी है वहाँ कर्म में ही षष्ठी होती है कर्त्ता में नहीं।

कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी स्यात् । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन ॥ *(वा) स्त्रीप्रत्ययोरकाकारयोर्नायं नियमः ॥ भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः ॥ (वा) शेषे विभाषा ॥ स्त्रीप्रत्यय इत्येके । विचित्रा जगतः कृतिर्हरेर्हरिणा वा । केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति । शब्दानामनुशासनमाचार्येणाचार्यस्य वा ॥

आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन (गोपाल से भिन्न व्यक्ति के द्वारा गोदोहन आश्चर्य की बात है)—यहाँ 'दोहः' कृदन्त है (दुह् + घञ्) इसके योग में अगोप कर्त्ता में तथा 'गो' कर्म में षष्ठी प्राप्त है । उपर्युक्त नियम से कर्म में ही षष्ठी होती है कर्त्ता (अगोपेन) मे नहीं ।

स्त्रीप्रत्ययोरिति (वा)—स्त्रीलिङ्ग में होने वाले कृत् प्रत्यय 'अक' (ण्वुल् आदि) तथा 'अ' में यह नियम (उभयप्राप्तौ कर्मणि) नहीं लगता अर्थात् वहाँ कर्त्ता में भी षष्ठी विभक्ति हो जाती है और साथ ही कर्म में भी ।

भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः–'यहाँ भेदिका' शब्द भिद् धातु से ण्वुल् प्रत्यय होकर (ण्वुल् → वु = अक) तथा स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय होकर बना है ।[1] बिभित्सा सन्नन्त भिद् धातु (बि + भिद् + स) से 'अ' प्रत्यय[2] + टाप् प्रत्यय होकर बना है । इन दोनों के योग में उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार कर्त्ता (रुद्रस्य) तथा कर्म (जगत.) दोनों में ही षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

शेषे विभाषेति (वा)—'अक' 'अ प्रत्यय से भिन्न स्त्रीलिङ्ग कृत् प्रत्ययों के प्रयोग में कर्म मे नित्य षष्ठी तथा कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है ऐसा कुछ आचार्यों का मत है, जैसे विचित्रा जगतः कृतिर्हरेः (हरिणा वा) यहाँ हरि कर्त्ता है । इससे कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है तथा पक्ष मे तृतीया होती है ।

केचिद् इति—कुछ आचार्यों का मत है कि 'शेषे विभाषा' यह विकल्प अक, अ से भिन्न स्त्री प्रत्ययों के प्रयोग मे ही नहीं होता अपितु सामान्य-रूप से (अविशेषेण) सभी प्रत्ययों के प्रयोग में होता है, अतएव

---

१. धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः (वा० ३२०१)

२. अ प्रत्ययात् ३।३।१००

६४ । क्तस्य च वर्तमाने २।३।६७। वर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । न लोक-२।३।६९। इति निषेधास्यापवादः। राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा ॥

६५ । अधिकरणवाचिनश्च ।२।३।६८। क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । इदमेषामासितं शयितं गतं भुक्तं वा ॥

'शब्दानामनुशासनमाचार्येण आचार्यस्य वा' यहाँ अनुशासन (ल्युट् प्रत्यय, नपुं०) के योग में भी आचार्य शब्द से विकल्प से षष्ठी विभक्ति हो जाती है। 'अनुशासन' शब्द नपुंसक लिङ्ग है।

६४. क्तस्य चेति—वर्तमान अर्थ में कहे हुए 'क्त' प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च ३।२।१८८। से वर्तमान अर्थ में 'क्त' प्रत्यय कहा गया है, उसी का यहाँ ग्रहण है। 'न लोक-इति ।२।३।६९। सूत्र (६९) में क्त (निष्ठा) प्रत्यय के योग में षष्ठी का निषेध किया जायेगा। उसका यह अपवाद है।

राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा (राजाओं द्वारा माना जाता है, जाना जाता है और पूजा जाता है)—यहाँ मतः (मन्+क्त) बुद्धः (बुध्+क्त) और पूजित (पूज्+क्त) तीनो शब्द वर्तमान में क्त प्रत्यय होकर बने हैं। इनके योग में उपर्युक्त नियम से 'राज्ञाम्' में षष्ठी में विभक्ति होती है।

६५. अधिकरणेति—अधिकरणवाची क्त प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः' ३।४।७६। इस सूत्र से अधिकरण में क्त प्रत्यय का विधान किया गया है, उसी का यहाँ ग्रहण है। यह भी 'न लोक' इस निषेध का अपवाद है।

इदमेषामासितं शयितं गतं भुक्तं वा—यहाँ 'आसित' इत्यादि में क्त प्रत्यय अधिकरण में हुआ है आसते अस्मिन् इति आसितम्, शेते अस्मिन् इति शयितम्। इनके योग में 'एषाम्' में षष्ठी विभक्ति होती है। यह कर्ता में षष्ठी है।

६६ । न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् ।२।३।६९। एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात् । लादेशः—कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः । उः—हरिं दिदृक्षुः । अलंकरिष्णुर्वा । उक—दैत्यान् घातुको हरिः ॥ * कमेरनिषेधः

६६. न लोकेति—ल+उ+उक यह पदच्छेद है । ल (ल के आदेश शतृ, शानच् आदि), उ, उक कृदन्त अव्यय (क्त्वा आदि), निष्ठा [क्त, क्तवतु], खल् प्रत्यय के अर्थ वाले प्रत्यय तथा तृन्—इनके प्रयोग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती । [यह नियम 'कर्तृकर्मणोः कृति' से प्राप्त षष्ठी का निषेध करता है] ।

कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः [सृष्टि करता हुआ हरि]—यहाँ कुर्वन् शब्द शतृ प्रत्ययान्त है [कृ+शतृ→कुर्वन्] । तथा कुर्वाणः' शानच् प्रत्ययान्त है [कृ+शानच्←कुर्वाण] । शतृ और शानच् लट् लकार [ल] के आदेश हैं ।[1] ये कृत्संज्ञक भी हैं । इनके योग मे 'कर्तृकर्मणोः कृति ६२ से षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है । उपर्युक्त नियम से षष्ठी का निषेध हो जाता है और कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ।

हरिं दिदृक्षुः [हरि के दर्शन का इच्छुक]—यहाँ दिदृक्षु सन्नन्त दृश् धातु से 'उ' प्रत्यय होकर बना है ।[2] [दि+दृश्+स+उ], इसके योग मे हरि में षष्ठी विभक्ति नहीं होती अपितु द्वितीया ही होती है ।

हरिम् अलङ्करिष्णुः—यहाँ अलं पूर्वक कृञ् धातु से इष्णुच् प्रत्यय [३।२।१३६] हुआ है [अलं+कृ+इष्णु] । सूत्र में 'उ' से उकारान्त कृदन्त लिया जाता है इसलिये यहाँ भी षष्ठी विभक्ति का निषेध होता है ।

दैत्यान् घातुको हरिः [दैत्यों के घातक हरि]—'घातुक' शब्द 'हन्' धातु से 'उकञ्' प्रत्यय होकर बना है ।[3] यह कृत्प्रत्यय है । इसके योग में षष्ठी प्राप्त थी । इस नियम से षष्ठी का निषेध हो जाता है और कर्म में द्वितीया होती है ।

कमेरिति [वा]—'उक' प्रत्ययान्त 'कम' धातु के योग में षष्ठी का निषेध नहीं होता अतएव 'लक्ष्म्याः कामुको हरिः' यहाँ 'कामुक' [कृदन्त] के

१. लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे ३।२।१२४।

२. सनाशंसभिक्ष उः ३।२।१६८

३. लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशॄभ्य उकञ् ३।२।१५४।

लक्ष्म्याः कामुको हरिः। अव्ययम्—जगत् सृष्ट्वा। सुखं कर्तुम्। निष्ठा—विष्णुना हता दैत्याः। दैत्यान् हतवान् विष्णुः। खलर्थः—ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा। तृन्निति प्रत्याहारः शतृशानचाविति तृशब्दादारभ्यातृनो नकारात्।

योग में सकर्मक शब्द से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

जगत् सृष्ट्वा [जगत् को रचकर] यहाँ सृष्ट्वा शब्द सृज् धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर बना है और क्त्वा प्रत्ययान्त[1] अव्यय होते हैं, न लोकाव्यय सूत्र ६९ से अव्यय शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति का निषेध किया गया है, अतः यहाँ षष्ठी विभक्ति न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'सुखं कर्तुम्'। कर्तुम् = कृ + तुमुन् और तुमुन्[2] प्रत्ययान्त भी अव्यय होते हैं।

विष्णुना हता दैत्याः [विष्णु के द्वारा दैत्य मारे गये] तथा दैत्यान् हतवान् विष्णुः [विष्णु ने दैत्यों को मारा] — यहाँ 'हत.' शब्द हन् धातु से क्त [हन् + क्त] प्रत्यय होकर बना है और 'हतवान्' हन् धातु से क्तवतु [हन् + क्तवतु]। क्त क्तवतु की पाणिनिव्याकरण में निष्ठा[3] संज्ञा है। उपर्युक्त नियम से निष्ठा के योग में षष्ठी का निषेध किया गया है। विष्णुना हता, दैत्याः यहाँ क्त कर्म में हुआ है यहाँ कर्म अनुक्त है उसमें षष्ठी नहीं होती अपितु तृतीया विभक्ति होती है और 'दैत्यान् हतवान् विष्णुः' यहाँ क्तवतु कर्ता में हुआ। कर्म अनुक्त है। उस कर्म (दैत्य) में षष्ठी नहीं होती अपितु द्वितीया विभक्ति होती है।

ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा [हरि के लिये संसार-प्रपञ्च करना सरल है] — यहाँ ईषत्कर—ईषत् [illegible] कृ धातु। खल् प्रत्यय कर्म में हुआ है। इसके योग से कर्ता (हरि) में षष्ठी प्राप्त होती थी उसका न लोकाव्यय॰ ६९' नियम से निषेध किया गया है अतः कर्ता [हरिणा] में तृतीया विभक्ति होती है।

तृन् तृन्निति—सूत्र में तृन् शब्द प्रत्याहार है। इसका लट्शतृशानचौ ३।२।१२४ के तृ अक्षर से लेकर 'तृन् ३।२।१३५' के नकार तक के प्रत्यय लिए जाते हैं।

[illegible]

---

१ क्त्वातोसुन्कसुनः १।१।४०। २ कृन्मेजन्तः १।१।३९
३ क्तक्तवतू निष्ठा १।१।२६। ४ ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ३।३।१२६

शानन्—सोमं पवमानः। चानश्—आत्मानं मण्डयमानः। शतृ—वेदमधीयन्। तृन्—कर्ता लोकान्। *द्विषः शतुर्वा। मुरस्य मुरं वा द्विषन्॥ सर्वोऽयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः॥ शेषे षष्ठी तु स्यादेव। ब्राह्मणस्य कुर्वन्। नरकस्य जिष्णुः॥

षष्ठी विभक्ति नहीं होती, जैसे—सोमं पवमानः–सोम को पवित्र करता हुआ, (पवमानः=पू+शानन्), आत्मानं मण्डयमानः–अपने आप को भूषित करता हुआ (मण्डि+चानश्), वेदमधीयन्–वेद को पढ़ता हुआ (अधि+इ+शतृ), कर्ता लोकान्–संसार को बनाने वाला (कृ+तृन्)। यहाँ 'सोमम्', 'आत्मानम्', 'वेदम्' तथा 'लोकान्' सर्वत्र षष्ठी न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

टिप्पणी—तृन् प्रत्याहार के अन्तर्गत 'लट्' के स्थान में होने वाले शतृ शानच् नहीं लिये जाते 'अधीयन्' मे दूसरा ही 'शतृ'[1] प्रत्यय है।

द्विषः इति (व)—शतृ प्रत्ययान्त द्विष् धातु के योग में षष्ठी विभक्ति का निषेध विकल्प से होता है, अतएव मुरस्य मुरं वा द्विषन् (मुर नामक राक्षस का शत्रु)—यहाँ द्विषन् शब्द शतृ[2] प्रत्ययान्त है। 'मुर' शब्द से विकल्प से षष्ठी तथा द्वितीया विभक्ति होती है।

सर्वोऽयम् इति - न लोकाव्यय ०९६। इस सूत्र से कारक षष्ठी (कर्तृकर्मणोः कृति ९०' आदि से प्राप्त) का ही निषेध होता है। शेषे षष्ठी (अर्थात् किसी कारक में, सम्बन्ध मात्र की विवक्षा हो जाने पर) तो हो ही जाती है, अतएव 'ब्राह्मणस्य कुर्वन्' 'नरकस्य जिष्णु' में षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

टिप्पणी—यह प्राचीनों का मत है उनके मत में यहाँ 'कारक षष्ठी' न होने और शेषे षष्ठी हो जाने में शाब्द-बोध का अन्तर है। नवीनों (नागेश भट्ट आदि) के मत में तो यहाँ शेषे षष्ठी भी नहीं होती। (सि० कौ० टिप्पणी)।

---

१. इङ्धार्योः शत्रकृच्छ्रिणि।३।२।१३०। २. द्विषोऽमित्रे।३।२।१३१।

९७। अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः।२।३।७०। भविष्यदर्थक भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न स्यात्। सतः पालकोऽवतरति। व्रजं गामी। शतं दायी॥

९८। कृत्यानां कर्तरि वा।२।३।७१। षष्ठी वा स्यात् मया मम वा सेव्यो हरिः।

---

९७. अकेनोरिति—भविष्यत् अर्थ में कहे हुए 'अक' प्रत्यय तथा भविष्य और आधमर्ण्य [अधमर्ण (कर्जदार) का भाव आधमर्ण्य] अर्थ में, उक्त 'इ प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती। कर्तृकर्मणोः कृति ९२ अपवाद है।

सतः पालकोऽवतरति (जो सज्जनों का पालन करेगा वह अवतरित हो है)—यहाँ पालक शब्द भविष्यत् अर्थ में ण्वुल् (अक) प्रत्यय होकर बना है। इसके योग में सत् शब्द से षष्ठी न होकर द्वितीया (सतः) ही होती है।

व्रजं गामी (भविष्य में व्रज को जाने वाला)—'गामी'[2] शब्द गम् धा से भविष्यत् काल में णिनि प्रत्यय (गम्+इन्) होकर बना है। इसके योग षष्ठी विभक्ति न होकर 'व्रज' से द्वितीया विभक्ति ही होती है।

शतं दायी (सौ-रुपये-का देनदार)—'दायी' शब्द 'दा' धातु से आधमर्ण्य अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होकर बना है (दा+इन्)।[3] इसके योग में 'शत' शब्द से षष्ठी विभक्ति न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

९८. कृत्यानाम् इति— कृत्य प्रत्ययों के योग में कर्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है।

कृत् प्रत्ययों के अन्तर्गत कुछ प्रत्ययों की 'कृत्य' संज्ञा[4] है। उनके योग में कर्तृकर्मणोः कृति ९२' से नित्य षष्ठी प्राप्त थी। यह सूत्र विकल्प से षष्ठी करता है।

मया मम वा सेव्यो हरिः (मेरे द्वारा हरि सेवनीय है) यहाँ 'सेव्य' शब्द सेव् (षेवृ सेवायाम्) धातु से कर्म में ण्यत् (कृत्य) प्रत्यय होकर बना है। कर्ता अनुक्त है। कर्ता में उपर्युक्त नियम से विकल्प में षष्ठी (मम)

---

१. तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ३।३।१०। ४. देखि। कृदन्त प्रकरण।

२. भविष्यति गम्यादयः।३।३।३।

३. आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः ३।३।१७०।

रीति किम् ? गेयो माणवकः साम्नाम् । 'भव्य-गेय- ३।४।६८' । कर्तरि यद्विधानादनभिहितं कर्म । अत्र योगो विभज्यते ॥ यानाम् ॥ उभयप्राप्ताविति नेति चानुवर्तते । तेन नेतव्या ; गावः कृष्णेन । ततः ॥ कर्तरि वा ॥ उक्तोऽर्थः ॥

६६ । तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् ।२।३।७२।

। पक्ष में तृतीया विभक्ति होती है ।

कर्तरीति इति— सूत्र में 'कर्तरि' (कर्ता में) शब्द का क्या ोजन है ? यह कि कर्ता में प्राप्त होने वाली षष्ठी का ही विकल्प होता है एव जहाँ 'कृत्य' के योग से कर्म में षष्ठी प्राप्त है वहाँ इस नियम से विकल्प ों होगा; जैसे—

'गेयो माणवकः साम्नाम्' (माणवक साम का गायक है)— यहाँ य' शब्द 'गा' धातु से भव्यगेय० आदि सूत्र से कर्ता में 'यत्' प्रत्यय (कृत्य) कर बना है। कर्म (सामन्) अनभिहित है अतः 'साम्नाम्' (सामन् ष० ु०) में नित्य ही षष्ठी विभक्ति होती है। [1]

अत्रेति— कृत्यानां कर्तरि वा' सूत्र में योग-विभाग किया जाता है र्थात् कृत्यानाम्' यह एक सूत्र माना जाता है जिसमें 'उभयप्राप्तौ' और ' की अनुवृत्ति आती है तथा यह अर्थ होता है—'कृत्यों के योग में कर्ता ोर कर्म दोनों में प्राप्त होने वाली षष्ठी नहीं होती'। जैसे—

'नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन' (कृष्ण को गाय व्रज में ले जानी है)—यहाँ ावः' प्रधान कर्म है। 'तव्य' प्रत्यय प्रधान कर्म में हो हुआ है (प्रधानेनीहृकृष्व- ाम्)। 'व्रज' गौण कर्म है तथा कृष्ण कर्ता है। ये दोनों अनुक्त है। अतः ानों में षष्ठी प्राप्त है। इस नियम से 'व्रज' (कर्म) तथा 'कृष्णेन' (कर्ता) में ष्ठी विभक्ति नहीं होती अपितु क्रमशः द्वितीया और तृतीया विभक्तियाँ होती हैं।

'कर्तरि वा' यह दूसरा सूत्र मानना चाहिये। इसमें 'कृत्यानां' की अनुवृत्ति रके सूत्र का ऊपर कहा हुआ (६८) अर्थ होगा।

६६ तुल्यार्थैरिति—तुला और 'उपमा' दो शब्दों को छोड़ कर शेष ुल्य अर्थ वाले शब्दों के योग में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है पक्ष में ष्ठी होती है।

1. कर्तृकर्मणोः कृति २।३।६५।

तुल्यार्थैर्योगे तृतीया वा स्यात्पक्षे षष्ठी । तुल्यः सदृशः समो व
कृष्णस्य कृष्णेन वा । अतुलोपमाभ्यां किम् ? तुला उपमा व
कृष्णस्य नास्ति ।

१०० । चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः ।२।३।७३। एतदर्थैर्योगे चतुर्थी वा स्यात्पक्षे षष्ठी आशिषि आयुष्यं चिरंजीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् । एवं मद्रं भद्रं कुशलं निरामयं सुखं शं अर्थः प्रयोजनं हितं पथ्यं वा भूयात्

तुल्य. कृष्णस्य कृष्णेन वा (कृष्ण के समान) यहाँ 'तुल्य' शब्द के साथ 'कृष्ण' शब्द से षष्ठी अथवा तृतीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'सदृश कृष्णस्य कृष्णेन वा' 'सम कृष्णस्य कृष्णेन वा' ।

अतुलोपमाभ्यां किम् इति - तुला और उपमा के योग में केवल षष्ठी विभक्ति ही होती है, जैसे 'तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति ।'

टिप्पणी —संस्कृत के उच्चकोटि के कवियों ने तुला और उपमा के साथ भी तृतीया का प्रयोग किया है, जैसे - 'नभसा तुला समारुरोह (रघु० ८-१५), 'स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना (शिशु० १-४) । (भट्टि ११७)

१०० चतुर्थी च —आशीर्वाद में— आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ, और हित इन अर्थ वाले शब्दों के साथ विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है, पक्ष में षष्ठी होती है ।

आयुष्यं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् (कृष्ण की दीर्घ आयु हो)—यहाँ 'आयुष्य' के योग में 'कृष्ण' शब्द से चतुर्थी अथवा षष्ठी विभक्ति होती है । इसी प्रकार - 'चिरञ्जीवितं' कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्' तथा "मद्रं भद्रं कुशलं निरामयं सुखं शम् अर्थं प्रयोजनं हितं पथ्यं वा कृष्णस्य, कृष्णाय वा भूयात् ।"

आशिषि किम् इति—आशीर्वाद देने में चतुर्थी अथवा षष्ठी विभक्ति होती है ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि अन्य स्थान में केवल षष्ठी विभक्ति ही होती है, जैसे —'देवदत्तस्य आयुष्यमस्ति' (देवदत्त की दीर्घायु है) ।

व्याख्यानम् इति—यद्यपि व्याकरण में शब्द के उच्चारण का ही ग्रहण

पामिति किम् । देवदत्तस्यातुल्यमस्ति । व्याख्यानात्प-
क्षम् । सदृशयोः पर्यायस्त्वाद्यन्यतरो न पठनीयः । दो॰

१०१ । आधारोऽधिकरणम् १।४।४५। कर्तृकर्मद्वारा तन्नि-
ष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञः स्यात् ॥

१०२ । सप्तम्यधिकरणे च २।३।३६। अधिकरणे सप्तमी
स्यात् । चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभि-

किया जाता है (... [illegible]) [illegible] के [illegible] नहीं इस [illegible] है अर्थ [illegible] किये जाते हैं । [illegible] और [illegible] ([illegible]) शब्द समानार्थक हैं अतः इनमें से एक को सूत्र से [illegible] चाहिए अतः यह एक [illegible] है ॥ इति षष्ठी विभक्ति ॥

सप्तमी विभक्ति —

१०१. आधार (कर्ता और कर्म के द्वारा उनमें स्थित क्रिया का आधार) अधिकरण कारक कहलाता है ।

टिप्पणी — अधिकरण क्रिया का साक्षात् आधार नहीं होता, किन्तु कर्ता और कर्म के द्वारा क्योंकि वह कर्ता और कर्म का आधार होता है और क्रिया कर्ता या कर्म में रहती है ।

१०२. सप्तमी होती — अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है ।

चकारात् इति — सूत्र के 'च' शब्द के पढ़ने से [illegible] २।३।३५ से [illegible] शब्द की अनुवृत्ति करने से दूर और अन्तिक (समीप) अर्थ वाले शब्दों से भी सप्तमी विभक्ति होती है ।

औपश्लेषिक इति — आधार तीन प्रकार का होता है —

(१) औपश्लेषिक, (२) वैषयिक तथा (३) अभिव्यापक ।

(१) जो [illegible] — [illegible] का अर्थ है [illegible] । [illegible] जहाँ [illegible] [illegible] आधार के [illegible] [illegible] है, वह आधार औपश्ले-षिक है, जैसे —

[illegible]

व्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन्नात्मास्ति । वनस्य दूरे अन्तिके वा 'दूरान्तिकार्थेभ्यः ७४, इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः ॥ * (वा) क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युप-

---

आधार (कट) के साथ संयोग सम्बन्ध है। 'कट' औपश्लेषिक आधार है। इसकी अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है।

स्थाल्यां पचति (देगची में पकाता है)—यहाँ 'स्थाली' पाकक्रिया के कर्म (तण्डुल आदि) का संयोग सम्बन्ध से आधार है। इसकी अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है।

(२) वैषयिक आधार— विषयता सम्बन्ध से होने वाला आधार वैषयिक आधार कहलाता है अर्थात् उसके साथ कर्त्ता का बौद्धिक सम्बन्ध होता है; जैसे—

मोक्षे इच्छाऽस्ति (मोक्ष में इच्छा है)—यहाँ कर्त्ता को मोक्ष के विषय में इच्छा है। मोक्ष इच्छा का विषय है अतः यह वैषयिक आधार है। इसकी अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है।

(३) अभिव्यापक—वह आधार है, जिसमें कोई वस्तु समस्त अवयवों में व्याप्त होकर रहती हो; जैसे—

सर्वस्मिन् आत्माऽस्ति (सब में आत्मा है)—आत्मा सब में व्यापक है अतः 'सर्व' अभिव्यापक आधार है। इसकी अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार "तिलेषु तैलम्" इत्यादि।

वनस्य दूरे अन्तिके वा (वन से दूर या निकट)—यहाँ दूर और अन्तिक में सप्तमी विभक्ति होती है। इस प्रकार दूरान्तिकार्थेभ्यः ७४, इस सूत्र से होने वाली तीन विभक्तियों (द्वितीया, पञ्चमी तथा तृतीया) सहित दूर और समीप अर्थ वाले शब्दों में चार विभक्तियाँ (द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी तथा सप्तमी) होती हैं।

क्तस्येति (वा)—क्त प्रत्ययान्त शब्दों के इन् प्रत्यय होकर बने हुए शब्दों के कर्म में सप्तमी विभक्ति कहनी चाहिए।

संख्यानम् ॥ अधीती व्याकरणे   अधीतमनेनेति वि इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८ इति कर्तरीनिः ॥ * (वा) साध्व-साधुप्रयोगे च ॥ साधुः कृष्णो मातरि । असाधुर्मातुले ॥ * (वा) निमित्तात्कर्मयोगे ॥ निमित्तमिह फलम् । योगः संयोगसमवायात्मकः ॥

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ॥१॥

(इति भाष्यम्)

अधीती व्याकरणे (व्याकरण पढ़ा हुआ)—यहाँ 'अधीती' शब्द 'अधीत (अधि+इङ्+क्त) से कर्ता में 'इनि' प््रत्यय[1] होकर बना है (अधीत+इन—अधीतिन्=अधीती प्र० एक०)। 'व्याकरणम् अधीतवान्' यह अर्थ होता है यहाँ व्याकरण कर्म है और उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार कर्म में सप्तमी विभक्ति हो जाती है।

साधु इति (वा)—साधु और असाधु शब्द के प्रयोग में सप्तमी विभक्ति होती है।

साधुः कृष्णो मातरि (कृष्ण माता के प्रति अच्छा है)—यहाँ साधु के योग में 'मातृ' शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'असाधुः मातुले' (वह मामा के प्रति बुरा है)—यहाँ 'मातुले' में भी सप्तमी है।

टिप्पणी—'साधुनिपुणाभ्याम् अर्चायाम्' २।३।४३ से पूजार्थ में ही साधु शब्द के साथ सप्तमी होती है, अतः श्रेष्ठ, हितकारी आदि अर्थों में इस सूत्र से सप्तमी कही गई है।

निमित्तात् इति (वा)—इस वार्तिक में निमित्त का अर्थ है—फल। योग कहते हैं सम्बन्ध को, वह यहाँ संयोग या समवाय लिया जाता है। निमित्त अर्थात् फलवाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है यदि उस फलवाचक शब्द का कर्म के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध हो।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति (चर्म के लिये व्याघ्र को मारता है)—यह

---

१. इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८।

हेतौ तृतीयाऽत्र प्राप्ता तन्निवारणार्थमिदम्। सीमाऽण्डकोशः। पुष्कलको गन्धमृगः। योगविशेषे किम्? वेतनेन धान्यं लुनाति।

१०३। यस्य च भावेन भावलक्षणम् ।२।३।३७। यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात्। गोषु दुह्यमानासु गतः॥

'चर्म' [चमड़ा] के लिये व्याघ्र की हत्या की जाती है। चर्म द्वीपी [व्याघ्र] का कर्म में समवेत है अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहता है। अतः उपर्युक्त नियम के अनुसार 'चर्मणि' में सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार—'दन्तयो: हन्ति कुञ्जरम्' [दाँतों के लिये हाथी को मारता है]—यहाँ 'दन्तयो:' में, 'केशेषु चमरीं हन्ति' [केशों के लिये चमरी नामक मृगविशेष को मारता है]—यहाँ 'केशेषु' में तथा 'सीम्नि पुष्कलको हत:' [सीमा अण्डकोश=कस्तूरी को कहते हैं। पुष्कलक नाम का एक मृगविशेष है जिसे गन्धमृग भी कहते हैं] यहाँ 'सीम्नि' में सप्तमी विभक्ति होती है। यहाँ भी दन्त, केश तथा सीम का कर्म [हस्ती, चमरी, पुष्कलक] के साथ समवाय सम्बन्ध है।

हेत्वर्थेति—यहाँ सभी प्रयोगों में 'हेतौ' इस सूत्र से हेतु में तृतीया विभक्ति प्राप्त हुई थी। उसके स्थान पर इस वार्तिक से सप्तमी कही गई है।

योगविशेषे किमिति—जहाँ 'हेतु' का कर्म के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध होता है वहीं उपर्युक्त नियम से फलवाचक शब्दों में सप्तमी विभक्ति होती है ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि 'वेतनेन धान्यं लुनाति' वेतन के लिये धान्य काटता है।—यहाँ 'वेतन' शब्द का 'धान्य' से संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध नहीं अत: यहाँ सप्तमी नहीं होती, अपितु 'हेतु' में तृतीया विभक्ति होती है।

१ ३. यस्य चेति—जिसकी क्रिया से कोई दूसरी क्रिया लक्षित होती है, उससे सप्तमी विभक्ति होती है। क्रिया किसी कर्ता या कर्म में रहती है अत: जिस कर्ता या कर्म में स्थित प्रसिद्ध क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित होती है उस कर्ता या कर्म में सप्तमी विभक्ति होती है।

टिप्पणी—इस नियम से होने वाली सप्तमी को 'सति सप्तमी' या 'भावे सप्तमी' (Locative absolute) कहते हैं।

* (वा) अर्हाणां कर्तृत्वेऽनर्हाणामकर्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च ॥
सत्सु तरत्सु असन्त आसते । असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति ।
सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति । असत्सु तरत्सु सन्तस्तिष्ठन्ति ॥

गोषु दुह्यमानासु गतः (जब गाएँ दुही जा रही थीं तब वह गया) यहाँ 'गायों' की दोहन क्रिया से किसी की गमन क्रिया लक्षित होती है अतः उपर्युक्त नियम के अनुसार 'गोषु' में सप्तमी विभक्ति होती है और विशेष्य के अनुसार ही 'दुह्यमानासु' में सप्तमी विभक्ति हो जाती है। यहाँ क्रिया कर्मस्थ है। कर्तृस्थ क्रिया का उदाहरण है—ब्राह्मणेषु अधीयानेषु गतः।

अर्हाणाम् इति—जिस कार्य के लिये जो योग्य या उपयुक्त हैं, वे 'अर्ह' कहे जाते हैं तथा जो अयोग्य या अनुपयुक्त हैं वे अनर्ह'। योग्यों का कर्तृत्व प्रकट करने में तथा अयोग्यों का अकर्तृत्व प्रकट करने में और इसकी विपरीतता में सप्तमी विभक्ति होती है। इस वार्तिक के चार भाग हैं।

(१) अर्हाणाम् कर्तृत्वे—क्रिया में उचित व्यक्तियों के कर्तृत्व की विवक्षा होने पर उनमें सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे—'सत्सु तरत्सु असन्त आसते' (सज्जन तरते हैं और असज्जन बैठे हैं) यहाँ सत्पुरुषों का तरना उचित है, वे तरण क्रिया के कर्ता हैं अतः 'सत्सु' में उपर्युक्त नियम के अनुसार सप्तमी विभक्ति होती है तथा 'सत्सु' के समान इसके विशेषण 'तरत्सु' में भी सप्तमी हो जाती है।

(२) अनर्हाणाम् अकर्तृत्वे—जिस क्रिया में जिनका कर्तृत्व अनुचित है उनके अकर्तृत्व को बतलाने के लिये उनसे सप्तमी विभक्ति होती है, जैसे—'असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति' असज्जनों का तरना अनुचित है तथा 'तिष्ठत्सु' से तरण क्रिया में अकर्तृत्व का बोध होता है अतः 'असत्सु' में सप्तमी विभक्ति हो जाती है और उसके विशेषण 'तिष्ठत्सु' में भी :
तद्वैपरीत्ये च – और उसकी विपरीत दशा में; जैसे—

(३) जिनका करना उचित है उनके अकर्तृत्व को प्रकट करने में उनसे सप्तमी विभक्ति होती है; जैसे—'सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति'—सज्जनों का तरण उचित है किन्तु उनका न तरना (अकर्तृत्व) 'तिष्ठत्सु' से प्रकट हो रहा है अतः 'सत्सु तिष्ठत्सु' यहाँ सप्तमी विभक्ति होती है।

(४) जिनका करना उचित नहीं उनका करना (कर्तृत्व) बतलाने में

१०४। षष्ठी चानादरे २।३।३८। अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्। रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः॥

१०५। स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च।२।३।३९। एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिकसप्तम्यर्थं वचनम्। गवां गोषु वा स्वामी। गवां गोषु वा प्रसूतः। गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः॥

उनमें सप्तमी विभक्ति होती है; जैसे—असत्सु तरत्सु सन्तस् तिष्ठन्ति' यहाँ असज्जनों का तरना अनुचित है किन्तु उनका तरना 'तरत्सु' से प्रकट हो रहा है। अतः असत्सु तथा उसके विशेषण तरत्सु में सप्तमी विभक्ति होती है।

टिप्पणी—कुछ आचार्यों का मत है कि इस वार्तिक के उदाहरणों में 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' से ही सप्तमी सिद्ध हो जाती है अतएव इसकी आवश्यकता नहीं[1]। किन्तु दूसरों का कथन है कि यहाँ एक की क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित नहीं होती; 'यदा सन्तस्तरन्ति तदा असन्त आसते' इस प्रकार का अर्थ उपर्युक्त उदाहरणों का नहीं होता अपितु 'सन्तस्तरन्ति, असन्त आसते' इत्यादि अर्थ ही होता है (दे० शारदारञ्जन, सिद्ध० पृ० १०३)

१०४. षष्ठीति—यदि अनादर भी प्रकट हो तो जिसकी क्रिया से अन्य क्रिया लक्षित होती है उसमें षष्ठी या सप्तमी विभक्ति हो जाती है।

रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्—इसका अर्थ है—'रोते हुए पुत्र आदि की उपेक्षा करके संन्यास ग्रहण कर लिया'। यहाँ 'रुदन' क्रिया से प्रव्रजन क्रिया लक्षित होती है। साथ ही 'रुदन' का तिरस्कार या उपेक्षा भी प्रकट हो रही है, अतएव रुदति' या 'रुदतः' में सप्तमी तथा षष्ठी विभक्ति होती है।

१०५. स्वामीति—स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू तथा प्रसूत इन शब्दों के योग में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है। संबन्ध में केवल षष्ठी प्राप्त थी, पक्ष में सप्तमी के लिये यह सूत्र कहा गया है।

गवां गोषु वा स्वामी (गायों का स्वामी) यहाँ उपर्युक्त नियम से 'स्वामी' शब्द के योग में 'गवाम्' तथा 'गोषु' में विकल्प से षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है।

---

१. सि० कौ० तत्त्वबोधिनी।

१०६। आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् ।२।३।४०। आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येऽर्थे । आयुक्तो व्यापारितः। आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा । आसेवायां किम् ? आयुक्तो गौः शकटे । ईषद्युक्तः इत्यर्थः ॥

१०७। यतश्च निर्धारणम् ।२।३।४१। जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः । गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा ।

गवां गोषु वा प्रसूतः (गायों में उत्पन्न हुआ है)—इसका भाव है—गायों को प्राप्त करने के लिये ही उत्पन्न हुआ है । यहाँ भी षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार पृथिव्याः पृथिव्यां वा ईश्वरः, 'ग्रामाणां ग्रामेषु वाऽधिपतिः' 'चित्रांशस्य चित्रांशे वा दायादः' 'व्यवहारस्य व्यवहारे वा साक्षी' 'दर्शनस्य दर्शने वा प्रतिभूः' ।

१० आयुक्तेति—तत्परता अर्थ में आयुक्त और कुशल शब्द के योग में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे—'आयुक्तः हरिपूजने हरिपूजनस्य वा' आयुक्त का अर्थ है—लगाया हुआ । इसी प्रकार 'कुशलो हरिपूजने हरिपूजनस्य वा' ।

आसेवायाम् किम् इति—जहाँ तत्परता अर्थ होता है वहीं आयुक्त, कुशल के योग में षष्ठी, सप्तमी होती है, यह क्यों कहा ? इसलिये कि अन्य अर्थ में केवल सप्तमी होती है ; जैसे — 'आयुक्तो गौः शकटे'-इसका अर्थ है-बैल गाड़ी में जोड़ा गया । यहाँ तत्परता का बोध नहीं होता ।

१०७. यतश्चेति— निर्धारण का अर्थ है— जाति, गुण क्रिया तथा संज्ञा आदि की विशेषता के कारण किसी वस्तु को अपने समुदाय से पृथक् करना । जिसमें से निर्धारण किया जाता है उससे षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है ।

नृणां, नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः (मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है) —यहाँ मनुष्य-समुदाय से जाति की विशेषता के कारण ब्राह्मण को विशिष्ट दिखाया

गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः। छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः॥

१०८। पञ्चमी विभक्ते।२।३।४२। विभागो विभक्तम्। निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी स्यात्। माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः॥

१०९। साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः।२।३।४३। आभ्यां योगे सप्तमी स्यादर्चायां न तु प्रतेः प्रयोगे। मातरि साधुर्निपु-

---

गया है, वह मनुष्य समुदाय का ही एक अङ्ग है। यही निर्धारण है, अतः समुदाय रूप 'नृ' शब्द से षष्ठी अथवा सप्तमी विभक्ति होती है।

इसी प्रकार—'गवां गोषु वा कृष्णा' बहुक्षीरा (गायों में कृष्णा बहुत दूध वाली होती है)—यहाँ गुण के द्वारा पृथक्करण है। 'गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः' (जाने वालों में दौड़ता हुआ शीघ्र जाता है)—यहाँ क्रिया के द्वारा पृथक्करण है 'छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः' (छात्रों में मैत्र चतुर है)—यहाँ संज्ञा (मैत्र) के द्वारा पृथक्करण है। इन सभी उदाहरणों में अपने समुदाय में एक भाग को विशिष्ट दिखलाया गया है।

१०८. पञ्चमी इति—विभक्त का अर्थ है—विभाग या भेद। जहाँ विशिष्ट रूप में दिखलाई हुई वस्तु (निर्धार्यमाण) वस्तुतः भिन्न ही होती है वहाँ (जिससे भेद दिखलाया जाता है उसमें) पञ्चमी विभक्ति होती है।

माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतराः (मथुरा-निवासी पाटलिपुत्र के लोगों से सम्पन्न हैं)—यहाँ माथुर (मथुरा के रहने वाले) पाटलिपुत्रकों (पटना के रहने वालों) से भिन्न हैं। माथुरों में दूसरों की अपेक्षा सम्पन्नता दिखाई गई है। अतः 'पाटलिपुत्रक' से पञ्चमी विभक्ति होती है।

१०९. साधु इति—साधु और निपुण के योग में सप्तमी होती है पूजा अर्थ में, किन्तु 'प्रति' शब्द के प्रयोग में नहीं होती।

पुणो वा। अर्चायां किम् ? निपुणो राज्ञो भृत्यः। इह तत्त्वकथने तात्पर्यम्। * (वा) अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्॥ साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति पर्यनु वा॥

११०। प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च।२।३।४४। आभ्यां योगे तृतीया स्याच्चात्सप्तमी प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा॥

१११। नक्षत्रे च लुपि।२।३।४५। नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे यो लुप्सं-

---

मातरि साधुर्निपुणो वा—यहाँ 'साधु' और निपुण शब्द के योग मे 'मातरि' मे सप्तमी विभक्ति होती है।

अर्चायां किम् इति—जहाँ पूजा या आदर का भाव नही होता वहाँ सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति ही होती है, जैसे—'निपुणो राज्ञो भृत्यः' (राजा का सेवक कुशल है)। यहाँ तथ्यकथन मे तात्पर्य है, पूजा का भाव नहीं।

टिप्पणी—अर्चा से भिन्न अर्थ मे भी साधु शब्द के साथ 'साध्वसाधु-प्रयोगे च' (वा) से सप्तमी विभक्ति हो ही जाती है। यहाँ 'साधु' शब्द के ग्रहण का फल यह है कि 'अर्चा अर्थ में प्रति' आदि के योग मे साधु शब्द के साथ सप्तमी विभक्ति नहीं होती।

अप्रत्यादीति (वा)—सूत्र में 'अप्रते.' के स्थान पर 'अप्रत्यादिभिः कहना चाहिए अतः 'प्रति' 'परि' 'अनु' के प्रयोग में साधु और निपुण शब्द के साथ अर्चा अर्थ में भी सप्तमी विभक्ति नहीं होती अपितु द्वितीया होती है (कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया); जैसे 'साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति परि अनु वा'।

११०. प्रसितेति—प्रसित और उत्सुक शब्द के योग मे तृतीया विभक्ति होती है और सप्तमी भी।

प्रसितो हरिणा हरौ वा (हरि मे लवलीन)—यहाँ 'प्रसित' शब्द के योग मे 'हरिणा' मे तृतीया तथा 'हरौ' मे सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार "उत्सुको हरिणा हरौ वा।"

१११. नक्षत्रे चेति—जहाँ नक्षत्रवाची शब्द लुप् संज्ञा से लुप्त प्रत्यय

श्रया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्तमानात्तृतीयासप्तम्यौ स्तोऽधिकरणे । मूलेनावाहयेद्‌देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् । मूले श्रवणे इति वा । लुपि किम् ? पुष्ये शनिः ॥

११२ । सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये ।२।३।७। शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यामेते स्तः । अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे द्व्यहाद्वा भोक्ता।कर्तृशक्त्योर्मध्येऽयं कालः। इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद्वा लक्ष्यं

के अर्थ में वर्तमान होता है; अर्थात् जहाँ नक्षत्र वाची शब्द काल विशेष को प्रकट करता है वहाँ उससे अधिकरण में तृतीया तथा सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं ।

'मूलेन आवाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् (मूले श्रवणे इति वा)' यहाँ 'मूल' शब्द मूलनक्षत्र से युक्त काल का बोधक है । नक्षत्रवाची मूल शब्द से 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' ४।२।३ इससे 'अण्' प्रत्यय हुआ और 'लुबविशेषे ४।२।४' से उसका लुप् हो गया है । इसी प्रकार 'श्रवण' शब्द है । ऊपर के नियम (१११) से इन दोनों में तृतीया और सप्तमी विभक्ति हुई है ।

लुपि किम् इति—जहाँ अण् प्रत्यय होकर उसका लुप् नहीं होता अर्थात् नक्षत्रवाची शब्द कालविशेष के लिये नहीं आता, अपने (नक्षत्र) अर्थ में ही रहता है वहाँ अधिकरण में सप्तमी विभक्ति ही होती है तृतीया नहीं, जैसे 'पुष्ये शनिः' (पुष्यनक्षत्र में शनि है ।

११२. सप्तमीति—दो कारक शक्तियों के बीच में जो काल और मार्ग हों उनके वाचक शब्दों से सप्तमी या पञ्चमी विभक्ति होती है ।

अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता— (आज खाकर यह दो दिन में खाएगा)—यहाँ काल (द्व्यह) दो कर्तृ शक्तियों के बीच में है एक कर्तृ शक्ति का आज (अद्य) के भोजन से सम्बन्ध है और दूसरी का दो दिन पश्चात् के भोजन से । इसलिये कालवाची शब्द 'द्व्यह' से सप्तमी या पञ्चमी विभक्ति होती है ।

इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् (यहाँ स्थित होकर यह कोश पर स्थित लक्ष्य को वेध देगा)—यहाँ कर्ता और कर्म कारक

विध्येत् । कर्तृकर्मशक्त्योर्मध्येऽयं देशः । अधिकशब्देन योगे सप्तमीपञ्चम्याविष्येते । तदस्मिन्नधिकम् ५।२।४५' इति 'यस्मादधिकम् २।३।९। इति च सूत्रनिर्देशात् । लोके लोकाद्वाधिको हरिः' ॥

११३ । अधिरीश्वरे ।१।४।९७। स्वस्वामिभावसम्बन्धेऽधिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् ॥

११४ । यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी २।३।९। अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी स्यात् । उप परार्धे हरेर्गुणाः ।

की दो शक्तियों ('अयम् तथा लक्ष्य') के बीच मे मार्ग (क्रोश) है अत. क्रोश शब्द से सप्तमी या पञ्चमी विभक्ति होती है ।

अधिकशब्देनेति— आचार्य पाणिनि ने "तदस्मिन् अधिकम्०' ५।२।४५ 'इस सूत्र मे अधिक' के साथ सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया है और "यस्माद् अधिकम्०" २।३।९ इस सूत्र मे 'अधिक' के साथ पञ्चमी का प्रयोग किया है । इस निर्देश से ज्ञात होता है कि अधिक शब्द के योग मे सप्तमी और पञ्चमी दोनों विभक्तियाँ इष्ट हैं । अतएव 'लोके लोकाद् वा अधिको हरिः' (हरि लोक की अपेक्षा श्रेष्ठ है)—यहाँ 'लोके' 'लोकाद्' मे सप्तमी और पञ्चमी विभक्ति है ।

११३. अधिरीश्वर इति—स्व और स्वामी के सम्बन्ध को प्रकट करने मे 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

११४. यस्माद् इति – जिससे अधिक हो और जिसका स्वामित्व कहा जाये उसमे कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति होती है ।

उप परार्धे हरेर्गुणाः— इसका अर्थ है— परार्ध से अधिक अर्थात् संख्यातीत (असंख्य) । परार्ध सबसे बड़ी संख्या को कहते हैं । यहाँ 'उप कर्मप्रवचनीय संज्ञक है (उपोऽधिके च १।४।८७) । 'परार्ध' से अधिक हरि के गुणों का कथन किया गया है अतः 'उप' के योग मे 'परार्धे' मे सप्तमी विभक्ति होती है ।

ऐश्वर्ये त्विति—स्वामित्व को प्रकट करने के लिये तो स्व और स्वामी शब्दों मे पर्याय से सप्तमी होती है । जैसे—

परार्धादधिका इत्यर्थः। ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्याये सप्तमी। अधि भुवि रामः। अधि रामे भूः। सप्तमी शौण् रिति समासपक्षे तु रामाधीना। 'अषडक्ष-५।४।७' इत्यादिना ख

११५। विभाषा कृञि १।४।९८। अधिः करोतौ प्राक्संज्ञो स्यादीश्वरेऽर्थे। यदत्र मामधिकरिष्यति। विनियोक्ष्यत इत्यर्थः इह विनियोक्तुरीश्वरत्वं गम्यते। अगतित्वात् 'तिङि चोदात्त वति-८।१।७१' इति निघातो न॥ इति सप्तमी॥

॥ इति कारकप्रकरणम्॥

अधि भुवि रामः (राम भूमि के स्वामी हैं)—यहाँ 'स्व' वाची भू शब्द से अधि कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति होती है।

अधि रामे भूः (भूमि राम की स्व है)—यहाँ स्वामी वाचक 'राम' श मे कर्मप्रवचनीय 'अधि' के योग में सप्तमी विभक्ति होती है।

सप्तमीति—'अधि रामे' इस विग्रह में "सप्तमी शौण्डैः" २।१।४ इस सूत्र से समास[1] होकर राम+अधि→रामाधि से 'ख'[2] प्रत्यय हो जात है 'ख' को 'ईन' होकर रामाधि+ईन=रामाधीन स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' होक "रामधीना भूः" यह प्रयोग होता है।

११५. विभाषेति—कृञ् धातु परे होने पर 'अधि' की स्व-स्वामिभा सम्बन्ध में विकल्प से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

यदत्र मामधिकरिष्यति (जो यहाँ मुझे नियुक्त करेगा)—यह 'अधिकरिष्यति' का अर्थ है—विनियोक्ष्यते (नियुक्त करेगा)। यहाँ विनियोक्त का स्वामित्व प्रकट होता है। इसी से 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जात है और 'गति' संज्ञा का बाध हो जाता है। गति संज्ञा न होने से "ति चोदात्तवति" ८।१।७१ इस सूत्र से 'अधि' को निघात (सर्वानुदात्त) नह होता। 'माम्' में द्वितीया तो कर्म होने से ही सिद्ध है। यह सूत्र अधि के निघात-निषेध के लिये है; इसका प्रयोजन स्वर प्रक्रिया में है, कारक में नहीं।

॥ इति कारकप्रकरणम्॥

---

१ अधि शब्द शौण्डादिगण में पढ़ा गया है।

२ अषडक्षाशितङ्ग्वलंकर्मालंपुरुषाध्युत्तरपदात्खः।५।४।७

द्वितीयः। प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीय। तत्पुरुषभेदः कर्मधारयः। कर्मधारयभेदो द्विगुः। प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिश्च-

---

यहाँ प्रायेण इसलिये कहा है कि कहीं-कहीं अव्ययीभाव समास में पूर्वपद प्रधान नहीं भी होता, जैसे—'उन्मत्तगङ्गम्' (उन्मत्ता गङ्गा यत्र-जहाँ गङ्गा उन्मत्त है) यहाँ अन्य पदार्थ प्रधान है। (सि० कौ०)

(३) प्रायेणोत्तरेति—जिसमें प्रायः उत्तरपद का अर्थ प्रधान होता है वह तत्पुरुष समास कहलाता है, यह समास का तीसरा प्रकार है, जैसे—'राजपुरुषम् आनय' (राजा के पुरुष को लाओ) यहाँ आनयन (लाना) क्रिया से 'पुरुष' का अन्वय होता है, अतः यहाँ पुरुष (उत्तरपद) का अर्थ ही प्रधान है। यहाँ प्रायेण इसलिये कहा है कि कहीं-कहीं तत्पुरुष में उत्तरपद का अर्थ प्रधान नहीं होता जैसे "अतिमालः" (मालाम् अतिक्रान्तः) यहाँ पूर्वपद 'अति' का अर्थ प्रधान है। (सि० कौ०)

तत्पुरुषभेद इति—तत्पुरुष का ही एक भेद कर्मधारय समास है। "तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः, १।२।४२।। कर्मधारय में भी उत्तरपद का अर्थ प्रधान होता है, भेद इतना है कि वहाँ विशेष्य और विशेषण का समास होता है, जैसे—'नीलम् उत्पलम्'—नीलोत्पलम्।

कर्मधारयभेद इति—कर्मधारय का एक भेद द्विगु समास कहलाता है। जिस कर्मधारय (विशेष्य विशेषण का समास) समास में पहला पद संख्यावाचक विशेषण होता है, उसे द्विगु कहते हैं (संख्यापूर्वो द्विगुः २।१।५२।) जैसे—पञ्चगवम्। यहाँ विशेषण है—पञ्च जो संख्यावाचक है।

(४) प्रयेणान्येति—जिसमें प्रायः अन्य पद का अर्थ प्रधान होता है वह बहुव्रीहि समास कहलाता है, यह समास का चतुर्थ प्रकार है, जैसे—

"लम्बकर्णम् आनय" (लम्बे कान वाले को लाओ) यहाँ अन्य पदार्थ प्रधान है। वह अन्य पदार्थ है, लम्बे कान वाला व्यक्तिविशेष। उसी का आनयन क्रिया से अन्वय होता है।

यहाँ प्रायेण इसलिये कहा गया है कि कहीं-कहीं बहुव्रीहि समास में

सुर्थः। प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः।

११६। समर्थः पदविधिः २।१।१। पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः।

११७। प्राक्कडारात्समासः

२।१।३ कडाराः कर्मधारये इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते।

११८। सह सुपा २।१।४ सुप् सुपा सह वा समस्यते। समा-

न्य पदार्थ प्रधान नहीं भी होता, जैसे—द्वित्राः (सि० कौ०) दो, तीन यहाँ दोनों पदों का अर्थ ही प्रधान है।

(५) प्रायेणोभयेति—जहाँ समास में प्रायः दोनों पदों का अर्थ प्रधान होता है, वह द्वन्द्व समास कहलाता है। यह समास का पाँचवाँ प्रकार है।

जैसे—'मातापितरौ सेवस्व, (माता-पिता की सेवा करो), यहाँ दोनों पदों (माता, पिता) का अर्थ प्रधान है, दोनों का ही 'सेवस्व, क्रिया से अन्वय होता है। यहाँ प्रायेण इसलिये कहा है कि 'दन्तोष्ठम्, (सि० कौ०) आदि समाहार द्वन्द्व में 'समाहार, (समुदाय) अर्थ प्रधान होता है जो कि अन्य अर्थ है।

टिप्पणी—द्वन्द्व और बहुव्रीहि समास में दो या दो से अधिक पद होते हैं, शेष समासों में प्रायः दो ही पद होते हैं। तत्पुरुष में भी एक दो स्थल पर दो से अधिक पद होते हैं।

११६. समर्थ इति—पद सम्बन्धी (पद को उद्देश्य करके कही हुई) जो विधि है वह समर्थ पदों में जाननी चाहिये।

संस्कृत में 'पद' शब्द पारिभाषिक है। सुबन्त और तिङन्त को पद कहते हैं समासविधि सुबन्तों को कही गई है,. अतः यह पदविधि है। समास समर्थ पदों का ही होता है। समर्थ पद वे कहलाते हैं, जो परस्पर अन्वित होते हैं अर्थात् परस्पर मिलकर अर्थ-बोध कराने का सामर्थ्य रखते हैं। जहाँ पदों में यह सामर्थ्य नहीं होता वहाँ समास आदि नहीं होते, जैसे—

"भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्य" (काशिका) यहाँ राज्ञः और पुरुषः परस्पर समन्वित नहीं हैं। अतः इनका समास नहीं होता।

११७. प्राक् कडाराद् इति—कडाराः कर्मधारये ।२।२।३८। सूत्र से पहले समास का अधिकार है अर्थात् समास का प्रकरण है।

११८. सहेति—सुबन्त का सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है।

सत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुक् । परार्थाभिधानं वृत्तिः । कृत्तद्धित समासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः । वृत्त्यर्थावबोधकं वाक विग्रहः स च लौकिकोऽलौकिकश्चेति द्विधा । तत्र पूर्वं भूतो भूतपू इति लौकिकः । पूर्व अम् भूत सु इत्यलौकिकः । भूतपूर्वे चरडिति निर्दे शाद् भूतशब्दस्य पूर्वनिपातः । ॐ(वा) इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च वागर्थौ इव वागर्थाविव । इति केवलसमासः ॥१॥

समासत्वाद् इति— समास हो जाने से प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है (कृत्तद्धितसमासाश्च १।२।४६।) और प्रातिपदिक संज्ञा हो जाने से 'सुप्' (सु आदि विभक्ति)का लोप हो जाता है (सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७१।)

परार्थेति—अन्य अर्थ (परार्थ) की प्रतीति कराना वृत्ति कहलाता है। प्रत्यय अथवा अन्य पद के अर्थ सहित जो विशिष्ट अर्थ हो जाता है, वह परार्थ है।

ये वृत्तियाँ पांच हैं —कृत्, तद्धित, समास एकशेष और सनाद्यन्त धातु। (इनमें कृत्, तद्धित और सनाद्यन्त धातु में प्रत्यय के अर्थ सहित विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है तथा समास और एकशेष मे अन्य पद के अर्थ सहित विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है

वृत्त्यर्थेति—वृत्ति के अर्थ का बोध कराने वाले वाक्य को विग्रह कहते हैं। यह लौकिक (विग्रह) और अलौकिक (विग्रह) भेद से दो प्रकार का है।

लोक में जिसका प्रयोग होता है उसे लौकिक विग्रह कहते हैं, जैसे—'भूत-पूर्वः, समस्त पद का लौकिक विग्रह है— "पूर्वं भूतः, (पहले हुआ)। इस वाक्य का लोक में प्रयोग किया जा सकता है।

अलौकिक विग्रह का अर्थ है— ऐसा विग्रह जिसका लोक में प्रयोग नहीं किया जाता केवल वैयाकरण जिसका प्रयोग करते हैं, जैसे—'पूर्व अम् भूत सु' यह भूतपूर्व का अलौकिक विग्रह है।

भूतपूर्वः (पहले हुआ) —'पूर्वं भूतः, इस लौकिक विग्रह में तथा 'पूर्व अम् भूत सु, इस अलौकिक विग्रह में 'सह सुपा' सूत्र से पूर्वम् और भूतः शब्द का विकल्प से समास होता है। समास हो जाने पर "कृत्तद्धितसमासाश्च"

अथाऽव्ययीभावसमासः ॥२॥

११६ । अव्ययीभावः २।१।५। अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात् ।

१२० । अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु २।१।६। विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन सह

से प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'सुपो धातु प्रातिपदिकयोः' से 'अम्' और 'सु' विभक्ति का लोप हो जाता है। यहाँ 'भूतपूर्वे चरट्' इस पाणिनिसूत्र के निर्देश से भूत शब्द को पहले रक्खा जाता है (पूर्वनिपात[1])। अब भूतपूर्व-शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होने से सु विभक्ति (प्रथम एकवचन) आकर उसे विसर्ग होकर 'भूतपूर्वः' शब्द बनता है।

इवेनेति (वा)—'इव' के साथ सुबन्त का समास होता है और विभक्ति का लोप नहीं होता।

वागर्थाविव—'वागर्थौ इव' इस लौकिक विग्रह में तथा 'वागर्थ औ इव' इस अलौकिक विग्रह में 'वागर्थौ का 'इव' के साथ समास होता है। यहाँ 'औ विभक्ति का लोप नहीं होता। यहाँ समास होने का फल है:—(१) एक पद होना (२) समास का स्वर हो जाना। इति केवल समास ॥१॥

अथाव्ययीभावः। ११६. अव्ययीभाव इति—तत्पुरुष से पहले अव्ययीभाव इस पद का अधिकार है अर्थात् 'तत्पुरुषः' २।१।२२ से पहिले के सूत्रों से जो समास होंगे उनकी अव्ययीभाव संज्ञा होगी।

१२०. अव्ययम् इति—(१) विभक्ति, (२) समीप, (३) समृद्धि, (४) व्यृद्धि (ऋद्धि का अभाव), (५) अर्थ (वस्तु) का अभाव, (६) अत्यय (ध्वंस), (७) असंप्रति (अनुचित), (८) शब्द की अभिव्यक्ति, (९) पश्चात्, (१०) यथा, (११) अनुक्रम, (१२) यौगपद्य (एक साथ होना), (१३) सादृश्य, (१४) सम्पत्ति, (१५) साकल्य (सम्पूर्णता) तथा (१६) अन्त, इन अर्थों में

१. समास में किसी शब्द को पहले रखना 'पूर्वनिपात' कहलाता है।

नित्यं समस्यते सोऽव्ययीभावः। प्रायेणाविग्रहो नित्यसमासः प्रायेणास्वपदविग्रहो वा। विभक्तौ। हरि ङि अधि इति स्थिते।

१२१। प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्

१।२।४३। समास शास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसंज्ञं स्यात्।

१२२। उपसर्जनं पूर्वम्

२।२।३०। समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोज्यम्। इत्यधेः प्राक् प्रयोगः सुपो लुक्।

वर्तमान अव्यय का सुबन्त के साथ नित्य समास होता है और वह अव्ययीभाव समास कहलाता है।

प्रायेणेति—नित्य समास वह कहलाता है जिसका प्रायः विग्रह नहीं होता (अविग्रहः=न विग्रहो यस्य सोऽविग्रहः), अथवा प्रायः अपने पदों में विग्रह नहीं होता, (न स्वेन पदेन विग्रहो यस्य सोऽस्वपदविग्रहः)।

टिप्पणी—नित्य समास का अपने सभी पदों में लौकिक विग्रह नहीं होता, अलौकिक विग्रह तो होता ही है, जैसा कि नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट है।

विभक्ताविति—विभक्त्यर्थ में, यहाँ सप्तमी के अर्थ में 'अधि' अव्यय है। "हरि ङि अधि" इस स्थिति में—

१२१. प्रथमेति—समासशास्त्र में (अर्थात् समास-विधायक सूत्रों में) प्रथमा से निर्दिष्ट पद उपसर्जन संज्ञक होता है।

भाव यह है कि प्रथमान्त पद से जिसका बोध होता है उसकी उपसर्जन संज्ञा होती है; जैसे 'अव्ययं विभक्ति॰' इस सूत्र में प्रथमान्त पद है—'अव्ययम्'। अव्यय' शब्द से 'अधि' आदि अव्ययों का बोध होता है, अतः 'अधि' आदि की उपसर्जन संज्ञा होगी।

१२२. उपसर्जनम् इति—समास में उपसर्जनसंज्ञक का पहले प्रयोग करना चाहिये।

इसके अनुसार यहाँ 'अधि' शब्द का पूर्व प्रयोग (पूर्वनिपात) किया गया।

एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्, प्रातिपदिकसं भावश्चेत्यव्ययत्वात्सुपो लुक्। अधिहरि।

१२३। अव्ययीभावश्च

२।४।१८ अयं नपुंसकं स्यात्।

१२४। नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः २।४।८३।

सुपो लुक्-इति—अधि का पूर्वनिपात होने पर 'अधि हरि ङि' यहाँ "सुपो धातु प्रातिपदिकयोः" से 'ङि' (सुप्) का लोप हो गया।

एकदेशेति—एक देश का अर्थ है-अवयव (अंश)। यदि किसी वस्तु का एकदेश (अवयव) विकृत हो जाये तो वह अन्य नहीं हो जाती; जैसे—हाथ कट जाने पर भी देवदत्त नामक व्यक्ति देवदत्त ही कहलाता है। इसी न्याय से 'ङि' का लोप हो जाने पर भी 'अधि हरि' की प्रातिपदिक [1] संज्ञा होती है और उससे 'सु' आदि प्रत्यय होते हैं।

अव्ययीभावश्चेति—'अधिहरि+सु यहाँ "अव्ययीभावश्च" १।१।४१। इस सूत्र से 'अधिहरि' की अव्यय संज्ञा हो जाती है तथा अव्यय से आगे वाले 'सुप्' का 'अव्ययादाप्सुपः' २।४।८२। से लोप हो जाता है। इस प्रकार 'अधि हरि' रूप हो जाता है।

(१) अधि हरि—'हरौ' इस लौकिक विग्रह में 'हरि ङि अधि' इस अलौकिक विग्रह में 'अव्यय विभक्ति०' आदि सूत्र से विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास हो जाता है। 'अधि' का पूर्वनिपात और 'ङि' का लोप होकर 'अधि हरि' समस्त पद से आने वाले 'सु' का, (अव्यय संज्ञा हो जाने के कारण) लोप हो जाता है।

१२३. अव्ययीभाव इति—यह अर्थात् अव्ययीभाव समास नपुंसकलिङ्ग में हो जाता है।

१२४. नाव्ययीभावादिति—अदन्त का अर्थ है—अत् अर्थात् 'अ' (अकार) है अन्त में जिसके। अकारान्त अव्ययीभाव से परे 'सुप्' का लोप नहीं होता तथा पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर उसे 'अम्' रूप हो जाता है।

१- कृत्तद्धितसमासाश्च। १।१।४६।

अदन्तादव्ययीभावात्सुपो न लुक् तस्य तु पञ्चमीं विना अमादेशश्च स्यात्। गाः पातीति गोपास्तस्मिन्नित्यधिगोपम्।

१२५। तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् २।४।८४। अदन्तादव्ययीभावात्तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भावः स्यात्। अधिगोपम्, अधिगोपेन, अधिगोपे वा। कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम्। उपकृष्णेन। मद्राणां समृद्धिः

अधिगोपम्—'गोपाः' का अर्थ है 'गाः पाति इति' गायों का पालन करने वाला। गोपा में (गोपि=गोपा स० वि० एक०) इस लौकिक विग्रह में तथा 'गोपा ङि अधि' इस अलौकिक विग्रह में 'अव्ययं विभक्ति०' आदि सूत्र के अनुसार विभक्त्यर्थ में अधि (सप्तमी अर्थ में अव्यय) का 'गोपा' के साथ अव्ययीभाव समास होता है। 'अधि' का पूर्व निपात और 'ङि' का लोप होकर 'अधिगोपा' बनता है। अव्ययीभाव समास के नपुंसक लिङ्ग में हो जाने से गोपा के आ को ह्रस्व[1] (अ) हो जाता है। 'अधिगोप' शब्द से 'सु' प्रत्यय आकर 'सु' को उपर्युक्त नियम के अनुसार अम् होकर अधिगोपम् रूप बनता है।

१२५. तृतीयेति—अकारान्त अव्ययीभाव से परे तृतीया और सप्तमी विभक्ति को प्रायेण अम् होता है।

इस प्रकार अकारान्त अव्ययीभाव से पञ्चमी विभक्ति में नित्य 'अधिगोपात्' इत्यादि, तृतीया में 'अधिगोपेन अथवा 'अधिगोपम्' आदि सप्तमी में 'अधिगोपे' अथवा 'अधिगोपम्' आदि रूप होते हैं। 'अव्ययं' सूत्र के शेष उदाहरण निम्न प्रकार हैं।

(२) उपकृष्णम्—कृष्णस्य समीपम् (कृष्ण के समीप)—इस विग्रह में (कृष्ण ङस् उप अलौकिक विग्रह) समीपार्थक 'उप' अव्यय का कृष्ण के साथ अव्ययीभाव समास हो जाता है। शेष पहले शब्द के समान है।

(३) सुमद्रम्—मद्राणां समृद्धिः (मद्रदेश के राजाओं की समृद्धि)—इस

---

१. ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य।१।२।४७।

सुमद्रम् । यवनानां व्यृद्धिर्दुर्यवनम् । मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम् । हिमस्यात्ययोऽतिहिमम् । निद्रा सम्प्रति न युज्यत इत्यतिनिद्रम् । हरिशब्दस्य प्रकाशः-इतिहरि । विष्णोः पश्चाद् अनुविष्णु । योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः ।

विग्रह में समृद्धि अर्थ में 'सु' अव्यय का 'मद्र' शब्द के साथ 'मद्र आम् सु इति' अव्ययीभाव समास होता है ।

(४) दुर्यवनम्—यवनानां व्यृद्धिः (यवनों की दुर्दशा)—इस विग्रह में व्यृद्धि अर्थ में 'दुर्' अव्यय का 'यवन शब्द के साथ (यवन आम् दुर् इति) अव्ययीभाव समास होता है ।

(५) निर्मक्षिकम्—मक्षिकाणाम् अभावः (मक्खियों का भी अभाव अर्थात् बिलकुल एकान्त)—इस विग्रह में अभावार्थक 'निर्' अव्यय का मक्षिका (सुबन्त) के साथ (मक्षिका आम् निर् इति) अव्ययीभाव समास होता है । निर्मक्षिका ऐसा हो जाने पर नपुंसक लिङ्ग होने के कारण ह्रस्व होकर निर्मक्षिकम् रूप बनता है ।

(६) अतिहिमम्—हिमस्य अत्ययः (बर्फ की समाप्ति)—इस विग्रह में अत्यय अर्थात् विनाश अर्थ में 'अति' अव्यय का 'हिम' के साथ (हिम ङस अति इति) अव्ययीभाव समास होता है ।

(७) अतिनिद्रम्—निद्रा सम्प्रति न युज्यते (निद्रा इस समय उचित नहीं) इस विग्रह में असम्प्रति (अनौचित्य) अर्थ में 'अति' अव्यय का 'निद्रा' के साथ (निद्रा ङस अति) अव्ययीभाव समास होता है ।

(८) इतिहरि—हरिशब्दस्य प्रकाशः (हरि शब्द का उच्चारण)—इस विग्रह में प्रादुर्भाव (प्रकट करना) अर्थ में 'इति' अव्यय का हरि शब्द के साथ (हरि ङस इति) अव्ययीभाव समास होता है ।

(९) अनुविष्णु—विष्णोः पश्चात् (विष्णु के बाद)—इस विग्रह में, पश्चात् अर्थ में वर्तमान 'अनु' अव्यय का विष्णु शब्द के साथ (विष्णु ङस अनु) समास होता है ।

(१०) योग्यतेति—यथा शब्द के चार अर्थ हैं (क) योग्यता, (ख) वीप्सा,

रूपस्य योग्यमनुरूपम्। अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्। शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति।

१२६। अव्ययीभावे चाकाले ।६।३।८१। सहस्य सः स्यादव्ययीभावे न तु काले। हरेः सादृश्य सहरि। ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येणेत्यनुज्येष्ठम्। चक्रेण युगपत्सचक्रम्। सदृशः सख्या ससखि। क्षत्राणां सम्प-

---

(ग) पदार्थानतिवृत्ति, (घ) सादृश्य। इन चारों अर्थों में विद्यमान अव्यय का सुबन्त के साथ समास होता है, जैसे—

(क) अनुरूपम्—रूपस्य योग्यम् (रूप के योग्य)—यहाँ योग्यता अर्थ में 'अनु' अव्यय का 'रूप के साथ (रूप ङस् अनु) अव्ययीभाव समास होता है'।

(ख) प्रत्यर्थम्—अर्थं अर्थं प्रति (प्रत्येक अर्थ में)- यहाँ वीप्सा (बार बार होना) अर्थ में 'प्रति' अव्यय का 'अर्थ' (सुबन्त) के साथ (अर्थ अम् प्रति) अव्ययीभाव समास होता है।

(ग) यथाशक्ति—शक्तिम् अनतिक्रम्य (शक्ति का अतिक्रमण न करके अर्थात् शक्ति के अनुसार) यहाँ पदार्थानतिवृत्ति (वस्तु का अतिक्रमण न करना) अर्थ में 'यथा' अव्यय का 'शक्ति' [सुबन्त] के साथ (शक्ति अम् यथा) अव्ययीभाव समास होता है।

१२६. अव्ययीभाव इति—'सह शब्द को स' हो जाता है अव्ययीभाव समास में, किन्तु कालवाची उत्तरपद होने पर नहीं।

(घ) सहरि—हरेः सादृश्यम् (हरि का सादृश्य)—यहाँ सादृश्य अर्थ में 'सह' अव्यय का 'हरि' (सुबन्त) के साथ (हरि टा सह) अव्ययीभाव समास होता है। 'सह' को 'स' हो जाता है।

(११) अनुज्येष्ठम्—ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्येण (ज्येष्ठ के क्रम से)—यहाँ आनुपूर्व्य (क्रम) अर्थ में 'अनु' अव्यय का ज्येष्ठ' (सुबन्त) के साथ (ज्येष्ठ ङस् अनु) अव्ययीभाव समास होता है।

(१२) सचक्रम्—चक्रेण युगपत् (चक्र के साथ)—इस विग्रह में, यौगपद्य (एक साथ) अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का 'चक्र' (सुबन्त) के साथ (चक्र

त्तिः सक्षत्रम् । तृणमप्यपरित्यज्य सतृणमत्ति । अग्निमन्थपर्यन्तमधीते साग्नि ।

१२७ । नदीभिश्च

२।१।२०। नदीभिः सह सङ्ख्या समस्यते । (वा) समाहारे चायमिष्यते । पञ्चगङ्गम् । द्वियमुनम् ।

टा सह) अव्ययीभाव समास होता है । 'सह' को 'स' हो जाता है ।

ससखि—सदृशः सख्या (सखा के समान)—इस विग्रह में, सादृश्य अर्थ में 'सह' अव्यय का 'सखि' (सुबन्त) के साथ (सखि टा सह) अव्ययीभाव समास होता है । 'सह' को 'स' हो जाता है ।

(१४) सक्षत्रम्—क्षत्राणां सम्पत्तिः (क्षत्रियों की सम्पत्ति)—इस विग्रह में, सम्पत्ति अर्थ में 'सह' अव्यय का 'क्षत्र' (सुबन्त) के साथ (क्षत्र भिस् सह) अव्ययीभाव समास होता है । 'सह' को 'स' हो जाता है ।

(१५) सतृणम्—तृणमपि अपरित्यज्य (तिनके को भी न छोड़कर अर्थात् सब कुछ)—इस विग्रह में, साकल्य (सम्पूर्णता) अर्थ में 'सह' अव्यय का 'तृण' (सुबन्त) शब्द के साथ (तृण टा सह) अव्ययीभाव समास होता है । 'सह' को 'स' हो जाता है ।

(१६) साग्नि—अग्निग्रन्थपर्यन्तम् अधीते (अग्निसम्बन्धी ग्रन्थ तक पढ़ता है)—इस विग्रह में 'अन्त' (पर्यन्त) अर्थ में 'सह' अव्यय का 'अग्नि' (सुबन्त) के साथ अव्ययीभाव समास होता है । 'सह' को 'स' हो जाता है ।

टिप्पणी—इन सभी प्रयोगों में अव्यय का पूर्व प्रयोग, सुप् का लोप तथा समस्तपद से होने वाले सु को 'अम्' या उसका लोप आदि होते हैं ।

१२७. नदीभिश्च इति—नदीविशेषवाची शब्दों के साथ संख्यावाची शब्दों का समास होता है और वह अव्ययीभाव समास कहलाता है ।

समाहारे इति(वा)—यह समास समाहार (Aggregate) में इष्ट है अर्थात् समस्त पद समाहार का बोधक होता है ।

पञ्चगङ्गम्—पञ्चानां गङ्गानां समाहारः (पाँच गङ्गाओं का समाहार)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'पञ्चन् आम् गङ्गा आम्' इस अलौकिक विग्रह में,

१२८ । तद्धिताः ।४।१।७६। आपञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम् ।

१२९ । अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ।५।४।१०७। शरदादिभ्य-ष्टच् स्यात्समासान्तोऽव्ययीभावे । शरदः समीपमुपशरदम् । प्रतिविपाशम् ।

नदी, विशेष वाचक गङ्गा शब्द के साथ संख्यावाचक 'पञ्च' शब्द का समास होता है । (यहाँ संख्या शब्द प्रथमान्त है अतः संख्यावाची 'पञ्चन्' शब्द की उपसर्जन संज्ञा हो जाती है । पञ्चन् शब्द का पूर्व प्रयोग होकर सुप् का लोप हो जाता है । पञ्चन् का न् लोप (नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य) से हो जाता है ।अव्ययीभाव होने के कारण नपुंसकलिङ्ग होने से गङ्गा को ह्रस्व होकर 'पञ्चगङ्ग' शब्द बनता है । पञ्चगङ्ग + सु → अम् = पञ्चगङ्गम् । इसी प्रकार—

द्वियमुनम्—द्वयोः यमुनयोः समाहारः, (दो यमुनाओं का समाहार) ।

१२८. तद्धिताः इति—इस सूत्र से लेकर अष्टाध्यायी के पञ्चम अध्याय की समाप्ति तक यह अधिकार है अर्थात् वहाँ तक तद्धित प्रत्यय कहे गये हैं ।

१२९. अव्ययीभाव इति—शरद् आदि शब्दों से अव्ययीभाव समास में समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है । (टच् में से ट् और च् का लोप हो जाता है केवल 'अ' बचता है)

टिप्पणी—समास के अन्त में होने वाले प्रत्यय समासान्त प्रत्यय कहलाते हैं । ये तद्धित प्रकरण में हैं । अतः जिन शब्दों के अन्त में ये प्रत्यय होते हैं । उनकी "कृत्तद्धितसमासाश्च" से प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है और 'सु' आदि विभक्ति होती है ।

उपशरदम्—शरदः समीपम् (शरद् के समीप)—इस विग्रह में, अव्ययं विभक्ति' आदि सूत्र से समीप अर्थ में 'उप' अव्यय का शरद् (सुबन्त) के साथ ["शरद् ङस् उप] समास होता है । 'उपशरद्' से समासान्त टच् (अ) प्रत्यय ... बनता है । उपशरद + सु → उपशरद + अम् → उपशरदम् ।

(जराया जरश्च)। उपजरसमित्यादि।

१२६ (क)। अनश्च ५।४।१०८। अन्नन्तादव्ययीभावाट्टच् स्यात्।

(१३०)। नस्तद्धिते ६।४।१४४। नान्तस्य भस्य टेर्लोपः स्यात् तद्धिते। उपराजम्। अध्यात्मम्।

प्रतिविपाशम्—विपाशायाः अभिमुखम् (विपाशा नदी की ओर)—इस विग्रह में 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये।२।१।१४। से प्रति, अव्यय का विपाश् (व्यास नदी) के साथ समास होकर, समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है सु→अम् होकर 'प्रतिविपाशम्' रूप बनता है।

जराया इति—(गणसूत्र)—जरा शब्द को जरस् हो जाता है तथा अव्ययीभाव में समासान्त टच् प्रत्यय होता है।

उपजरसम्—जरायाः समीपम् (बुढ़ापे के समीप)—इस विग्रह में 'अव्ययं विभक्ति० आदि से समीप अर्थ में 'उप, अव्यय का 'जरा, (सुबन्त) के साथ समास होता है; इस गणसूत्र के अनुसार 'जरा, को जरस् होकर तथा टच् समासान्त प्रत्यय होकर उपजरस्+अ →उपजरस+ सु (अम्)=उपजरसम्।

१२६(क)अनश्चेति–जिस अव्ययीभाव समास के अन्त में 'अन्' होता है वह अन्नन्त अव्ययीभाव है (अन् अन्ते यस्य); उससे समासान्त टच् प्रत्यय होता है।

१३०. नस्तद्धितइति—नकारान्त भसंज्ञक की टि का लोप होता है, तद्धित परे होने पर।

टिप्पणी—यहाँ 'भ, और 'टि' पाणिनि व्याकरण द्वारा कल्पित संज्ञायें हैं (१)'यचि, भम्।१।४।१८' सूत्र के अनुसार यकारादि और अजादि सु आदि प्रत्यय परे होने पर पहिले की भ संज्ञा होती है (२) 'अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४' सूत्र के अनुसार किसी शब्द के अन्तिम स्वर(अच्) सहित आगे वाला समस्त भाग टि संज्ञक होता है। जैसे 'उपराजन्+अ(टच्)—यहाँ अजादि (अच्) है आदि में

अथ तत्पुरुषसमासः ॥३॥

१३३ । तत्पुरुषः

२।१।२२ अधिकारोऽयं प्राग्बहुव्रीहेः ।

१३४ । द्विगुश्च

२।१।२३ द्विगुरपि तत्पुरुषसंज्ञकः स्यात् ।

प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—(झय् प्रत्याहार है इसमें वर्गों के चौथे, तीसरे, दूसरे तथा पहले अक्षर आते हैं) । १ झय् प्रत्याहार वाले अक्षरों में से कोई जिसके अन्त में हो उसे झयन्त शब्द कहा जायेगा ।

उपसमिधम्—उपसमित् —'समिधः समीपम्' (समिधा के समीप)—इस विग्रह में समीप अर्थ में 'उप' अव्यय का 'समिध्' शब्द के साथ अव्ययीभाव समास होता है । जब समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो जाता है तो 'उपसमिधम्' नहीं तो 'उपसमित्' रूप होता है । इत्यव्ययीभावः ॥२॥

अथ तत्पुरुषः । १३३. तत्पुरुष इति—बहुव्रीहि से पहले तक तत्पुरुष का अधिकार है अर्थात् 'तत्पुरुषः २।१।२२' से 'शेषो बहुव्रीहिः' २।२।२३ से पूर्व के सूत्रों से जिस समास का विधान किया गया है वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है ।

१३४. द्विगुश्चेति—द्विगु समास भी तत्पुरुषसंज्ञक होता है । (द्विगु समास की तत्पुरुष संज्ञा समासान्त विधि आदि के लिये की गई है) ।

टिप्पणी—तत्पुरुष समास दो प्रकार का होता है—(१) समानाधिकरण (२) व्यधिकरण (१) समानाधिकरण तत्पुरुष में पूर्वपद तथा उत्तरपद की समान (प्रथमा) विभक्ति होती है । कर्मधारय और द्विगु समानाधिकरण तत्पुरुष हैं । (२) व्यधिकरण तत्पुरुष में पूर्वपद द्वितीया से लेकर सप्तमी विभक्ति तक में होता है और उत्तरपद प्रथमा विभक्ति में । जिस विभक्ति में पूर्वपद होता है उसी नाम से तत्पुरुष कहा जाता है, जैसे द्वितीया के लिए 'कृष्णं श्रितः→कृष्णश्रितः' आदि 'द्वितीया तत्पुरुष' कहलाता है क्योंकि यहाँ पूर्वपद है—'कृष्णम्' और यह द्वितीयान्त है ।

---

१. झभञ् घढधष्, जबगडदश्, खफछठथचटतव्, कपय् ।

१३५। द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः २।१।२४¹ द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते, स च तत्पुरुषः। कृष्णं श्रितः कृष्णश्रितः इत्यादि।

१३६। तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन २।१।३० तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेनार्थशब्देन च सह वा प्राग्वत्। शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः।

---

१३५. द्वितीयेति—द्वितीयान्त का श्रित (आश्रित), अतीत (पार हुआ) पतित (गिरा), गत (गया), अत्यस्त (फेंका हुआ), प्राप्त, आपन्न (पाया हुआ)—इन शब्दों से बने सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है तथा वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

कृष्णश्रितः—'कृष्णं श्रितः' (कृष्ण पर आश्रित)—'कृष्ण अम् श्रित सु' इस विग्रह में द्वितीयान्त 'कृष्णं' शब्द का श्रितः' सुबन्त के साथ समास होता है। कृष्ण शब्द का पूर्व निपात और सुप् का लोप होकर 'कृष्णश्रित' यह समस्त पद होता है। इससे प्रथमा के एकवचन में 'सु' प्रत्यय होकर 'कृष्णश्रितः' रूप होता है।

इसी प्रकार दुःखातीतः (दुःखम् अतीतः), कूपपतितः (कूपं पतितः), ग्रामगतः (ग्रामं गतः), तुहिनात्यस्तः (तुहिनम् अत्यस्तः), सुखप्राप्तः (सुखं प्राप्तः) दुःखापन्नः आदि सिद्ध होते हैं।

टिप्पणी—'द्वितीया०' आदि सूत्र में 'द्वितीया' शब्द प्रथमा विभक्ति में है। यह विग्रह में स्थित 'कृष्णम्' आदि का बोधक है। अतः 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' से 'कृष्ण' आदि की उपसर्जन संज्ञा होकर 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्वनिपात (पूर्व प्रयोग) होता है। इसी प्रकार तृतीया समास आदि में भी।

१३६. तृतीयेति—तृतीयान्त शब्द का उसके अर्थ से किये हुए गुणवाची के साथ तथा अर्थ शब्द¹ के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

शङ्कुलाखण्डः—'शङ्कुलया खण्डः' (सरौते से किया हुआ खण्ड) यहाँ

---

१. यहाँ अर्थ शब्द धनवाचक है (दे० बालमनोरमा)

धान्येनार्थो धान्यार्थः । तत्कृतेति किम् ? अक्ष्णा काणः ।

१३७ । कर्तृकरणे कृता बहुलम् ।२।१।३२। कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत् । हरिणा त्रातो हरित्रातः । नखैर्भिन्नो

खण्ड' गुणवाचक है और यह तृतीया के अर्थ शङ्कुला से किया हुआ है. अतः प्रस्तुत सूत्र से समास होता है । 'शङ्कुला टा खण्ड सु' इस अलौकिक विग्रह में 'शङ्कुला' शब्द का पूर्व निपात, सुप् लोप होकर 'शङ्कुलाखण्ड' समस्त पद बनता है । इससे प्रथमा एकवचन में 'शङ्कुलाखण्डः' ।

धान्यार्थः—धान्येन अर्थः (धान्य से धन)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'धान्य टा अर्थ सु' इस अलौकिक विग्रह में तत्पुरुष समास होता है ।

तत्कृतेति किम् इति—सूत्र में 'तत्कृत' (उस तृतीयान्त का किया हुआ) यह क्यों कहा ? इसलिये कि जहाँ तृतीयान्त (अर्थ) का किया हुआ गुणवाचक नहीं वहाँ समास नहीं होता ।

इस प्रकार 'अक्ष्णा काणः' में समास नहीं होता, क्योंकि काणत्व 'आँख का किया हुआ नहीं ।

१३७. कर्तृकरणे इति—कर्ता और करण में जो तृतीया उस तृतीयान्त शब्द का कृदन्त के साथ बहुधा समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है ।

हरित्रातः—'हरिणा त्रातः' (हरि से रक्षित)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'हरि टा त्रात सु' इस अलौकिक विग्रह में तत्पुरुष समास हो जाता है । (यहाँ 'हरिणा' में कर्ता में तृतीया है तथा 'त्रात' शब्द कृदन्त है जो 'त्रा' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर बना है) । समास कार्य पूर्ववत् ।

नखभिन्न—नखैः भिन्नः (नखों से फाड़ा हुआ)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'नख भिस् भिन्न सु' इस अलौकिक विग्रह में तत्पुरुष समास होता है । (यहाँ 'नखैः' में करण में तृतीया है और 'भिन्न' शब्द कृदन्त है, जो 'भिद्' धातु से क्त प्रत्यय होकर बना है) ।

नखभिन्नः । "कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्" नखनिर्भिन्नः ।

१३८ । चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ।२।१।३६।

चतुर्थ्यन्तार्थाय यत् तद्वाचिना अर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत् । यूपाय दारु यूपदारु । तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्टः तेनेह न-रन्धनाय स्थाली ।

कृद्ग्रहण इति (प०) – कृदन्त के ग्रहण में गति और कारक पूर्वक (कृदन्त) का भी ग्रहण होता है, अर्थात् जो कार्य कृदन्त को कहा जाता है वह गति (प्र, परा आदि) और कारक (कर्म आदि) जिसके पहले हो ऐसे कृदन्त को भी होता है। इसका फल यह होता है कि तृतीयान्त 'नख' का निर्भिन्न शब्द के साथ भी समास हो जाता है। यहाँ 'निर्भिन्न' शब्द में निर गति संज्ञक है और उपर्युक्त परिभाषा से कृदन्त के ग्रहण से इसका भी ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार नखनिर्भिन्नः' यह समस्त पद बनता है।

१३८. चतुर्थीति – चतुर्थ्यन्त का अर्थ है – चतुर्थी है अन्त में जिसके। चतुर्थ्यन्त के अर्थ के लिए जो वस्तु हो उसके वाचक शब्द तथा अर्थ, बलि, हित, सुख और रक्षित इन शब्दों के साथ चतुर्थ्यन्त का विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

यूपदारु—यूपाय दारु (यज्ञस्तम्भ के लिये काष्ठ) – इस लौकिक विग्रह में तथा 'यूप ङे, दारु सु' अलौकिक विग्रह मे यूप शब्द का दारु शब्द से तत्पुरुष समास होता है। यहाँ 'दारु' (काष्ठ) चतुर्थ्यन्त (यूपाय) के अर्थ यूप [यज्ञस्तम्भ] के लिये है।

तदर्थेनेति—सूत्र में 'तदर्थ' से प्रकृतिविकृतिभाव इष्ट है। प्रकृति का अर्थ है—उपादान कारण और विकृति का अर्थ है—कार्य। भाव यह है कि जहाँ चतुर्थ्यन्त का अर्थ [पदार्थ] कार्य हो और उत्तरपद का अर्थ उसका उपादान कारण [प्रकृति] हो वहाँ यह समास होता है, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में 'दारु' (लकड़ी) प्रकृति है उससे यूप बनता है और 'यूप' उसकी विकृति है। इसी प्रकार 'घटमृत्तिका' 'पट-तन्तवः' आदि में । किन्तु

❀ (वा) अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम् ॥ द्विजार्थः सूपः। द्विजार्था यवागूः। द्विजार्थं पयः। भूतबलिः। गोहितम्। गोसुखम्। गोरक्षितम्।

१३६. पञ्चमी भयेन ।२।१।३७। चोराद् भयं चोरभयम्।

'रन्धनाय स्थाली' (रांधने के लिये देगची) यहाँ स्थाली रन्धन का उपादान कारण नहीं, अतः यहाँ यह समास नहीं होता।

अर्थेनेति (वा)—अर्थ शब्द के साथ नित्य समास होता है। तथा समस्तपद का विशेष्य के समान लिङ्ग होता है।

द्विजार्थः सूपः—द्विजाय अयम् इति द्विजार्थः (यह द्विज के लिये है)—यहाँ नित्य समास होने से अपने पदों में लौकिक विग्रह नहीं होता (अस्वपदविग्रहः)। 'द्विज ङे अर्थ सु' यह अलौकिक विग्रह है। तत्पुरुष समास होकर 'द्विजार्थ' समस्त पद होता है। इसका विशेष्य के समान लिङ्ग हो जाने से 'द्विजार्थः सूपः (द्विज के लिये दाल)। ('सूप' शब्द पुंल्लिङ्ग है) यह प्रयोग होता है।

इसी प्रकार 'द्विजाय इयम्' 'द्विजार्था यवागूः' (ब्राह्मण के लिये लप्सी) (स्त्रीलिङ्ग), द्विजाय इदम्' 'द्विजार्थं पयः' (ब्राह्मण के लिये दूध) (नपुंसक लिङ्ग) होता है।

इसी प्रकार भूतबलिः—भूतेभ्यः बलिः (भूतों के लिये बलि),

गोहितम्—गोभ्यः हितम् (गायों के लिये हितकर),

गोसुखम्—गोभ्यः सुखम् (गायों के लिये सुखकर),

गोरक्षितम्—गोभ्यः रक्षितम् (गायों के लिये रखा हुआ), आदि में चतुर्थी तत्पुरुष समास होता है।

१३६. पञ्चमीति—पञ्चम्यन्त का भयवाचक सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और यह तत्पुरुष समास कहलाता है।

चोरभयम्—चोराद् भयम् (चोर से भय)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'चोर ङसि भय सु' इस अलौकिक विग्रह में चोराद् (पञ्चम्यन्त) का 'भयम्' के साथ समास हो जाता है।

१४०। स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन ।२।१।३९।

१४१। पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ।६।३।२। अलुगुत्तरप

स्तोकान्मुक्तः। अन्तिकादागतः। अभ्याशादागतः। दूरादागतः। कृच्छ्रादागतः।

१४२। षष्ठी ।२।२।८। सुबन्तेन प्राग्वत्। राजपुरुषः।

१४३। पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे २।२।१।

---

१४०. स्तोकेति—स्तोक [थोड़ा] अन्तिक [समीप] और दूर इन अर्थों [वाले शब्द] तथा कृच्छ्र इन पञ्चम्यन्त पदों का क्त प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ सम होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

१४१. पञ्चम्याः इति—स्तोक आदि शब्दों से उत्तरपद परे रहते पञ्च विभक्ति का लुक् [लोप] नहीं होता।

स्तोकान्मुक्तः—स्तोकात् मुक्तः [थोड़े से मुक्त हुआ],

अन्तिकादागतः—अन्तिकादात् आगतः (पास से आया हुआ),

अभ्याशादागतः—अभ्याशात् आगतः (पास से आया हुआ),

दूरादागतः—दूरात् आगतः (दूर से आया हुआ),

कृच्छ्रादागतः—कृच्छ्रात् आगतः [कष्ट से आया हुआ]—इन सभी प्रयो में उपर्युक्त सूत्र से पञ्चमी तत्पुरुष समास होता है तथा पञ्चमी विभक्ति अलुक् [लोप का अभाव] होता है।

१४२. षष्ठीति—षष्ठ्यन्त पद का सुबन्त के साथ समास होता है और [षष्ठी] तत्पुरुष कहलाता है।

राजपुरुष—'राज्ञः पुरुषः' [राजा का पुरुष]—इस लौकिक विग्रह में त 'राजन् ङस् पुरुष सु' इस अलौकिक विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है सुप् का लुक् होकर 'न्' लोप होता है तथा राजपुरुष समस्त पद बनता है

पूर्वेति—सूत्र में एकदेशी का अर्थ है—अवयवी 'एकदेशोऽस्यास्तीति' एक देश कहते हैं अवयव को। एकाधिकरण का अर्थ है—एक अर्थ [वस्तु]। प्रकार—पूर्व [आगे का], अपर [पीछे का], अधर [नीचे का] तथा उत

अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते एकत्वसङ्ख्याविशिष्टश्चेदवयवी। षष्ठीसमासापवादः। पूर्वं कायस्य पूर्वकायः। अपरकायः। एकाधिकरणे किम्? पूर्वश्छात्राणाम्।

१४४। अर्धं नपुंसकम् २।२।२। समांशवाच्यर्धशब्दो नित्यं क्लीबे प्राग्वत्। अर्धं पिप्पल्या अर्धपिप्पली।

(ऊपर का)—इन पदों का अवयवी वाचक शब्दों के साथ समास होता है यदि अवयवी एकत्व सङ्ख्यायुक्त हो, अर्थात् 'एक' हो।

षष्ठी समासेति—यह षष्ठी समास का अपवाद है। इस सूत्र से समास विधान करने के कारण शब्दों के 'पूर्वप्रयोग' (पूर्वनिपात) में भेद हो जाता है, जैसे—"पूर्वं कायस्य' यहाँ 'षष्ठी' समास होता तो 'काय' का पूर्वनिपात होता किन्तु प्रस्तुत सूत्र से समास होने पर 'पूर्वं' शब्द का पूर्वनिपात होता है क्योंकि समास शास्त्र में 'पूर्वं' इत्यादि प्रथमा निर्दिष्ट हैं।

पूर्वकायः—पूर्वं कायस्य (शरीर का अग्रभाग)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'पूर्व अम् काय ङस्' इस अलौकिक विग्रह में उपर्युक्त सूत्र से तत्पुरुष समास होता है। यहाँ 'काय' एकत्व सङ्ख्यायुक्त अवयवी है और पूर्व उसका अवयव है।

इसी प्रकार अपरकायः—'अपरं कायस्य' (शरीर का पिछला भाग)।

एकाधिकरणे किम् इति—सूत्र में एकाधिकरणे कहने का क्या अभिप्राय है? यह कि जहाँ अवयवी बहुत्व सङ्ख्यायुक्त होगा वहाँ समास नहीं होगा,. जैसे 'पूर्वश्छात्राणाम्' (छात्रों का पूर्व भाग) यहाँ समास नहीं होता, क्योंकि छात्र एक नहीं अनेक हैं।

१४४. अर्धम् इति—'समान भाग' इस अर्थ का वाचक 'अर्ध' शब्द है, जो नित्य नपुंसक लिङ्ग में होता है; उसका एकत्व संख्यायुक्त अवयवी के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

अर्धपिप्पली—अर्धं पिप्पल्याः (पीपली का अर्ध भाग)—इस लौकिक विग्रह में तथा अर्ध अम् पिप्पली ङस्, इस अलौकिक विग्रह में उपर्युक्त सूत्र से समास

१४५। सप्तमी शौण्डैः २।१।४०। सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वत्। अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्ड इत्यादि। द्वितीयातृतीयेत्यादियोग-विभागादन्यत्रापि तृतीयादिविभक्तीनां प्रयोगवशात्समासो ज्ञेयः।

१४६। दिक्संख्ये संज्ञायाम् ।२।१।५०। संज्ञायामेवेति निय-

होता है। मर्घ शब्द का पूर्व निपात होकर 'अर्धपिप्पली' शब्द बनता है (यहाँ तत्पुरुष में पूर्व पद प्रधान है)।

१४५.सप्तमीति— सप्तम्यन्त का शौण्ड आदि शब्दों के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है

अक्षशौण्ड:—अक्षेषु शौण्डः (पासे फेंकने में चतुर)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'अक्ष सुप् शौण्ड सु' इस अलौकिक विग्रह में तत्पुरुष समास होता है। यहाँ सप्तम्यन्त का पूर्वप्रयोग होता है।

द्वितीयेति – ('द्वितीया श्रितातीत०' आदि समासविषायक सूत्रों में) द्वितीया तृतीया इत्यादि योग-विभाग करने से प्रयोग के अनुसार अन्यत्र (उक्त स्थलों से भिन्न स्थानों में) भी तृतीया आदि विभक्तियों का समास जानना चाहिये, अर्थात् जिन शब्दों में द्वितीया आदि समास कहा गया है, उनसे भिन्न शब्दों में भी कहीं कहीं शिष्ट प्रयोग के अनुसार समास समझना चाहिये।

१४६.दिक्संख्ये इति—संज्ञा के विषय में दिशावाचक शब्दों का समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

टिप्पणी—सप्तमी शौण्डैः १४५ तक व्यधिकरण तत्पुरुष दिखाया गया है जैसा कि उदाहरणों से स्पष्ट है इसमें पूर्वपद और उत्तर पद भिन्न भिन्न विभक्ति में हैं। सूत्र १४६ से लेकर "उपमानानि सामान्यवचनैः" तक समानाधिकरण तत्पुरुष समास दिखलाया जा रहा है। इसमें पूर्वपद तथा उत्तरपद समान विभक्ति में होता है।

मार्थं सूत्रम्) पूर्वेषुकामशमी। सप्तर्षयः। तेनेह न। उत्तरा वृक्षाः। पञ्च ब्राह्मणाः।

१४७। तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च   २। १। ५१।

तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये दिक्सङ्ख्ये प्राग्वत्। पूर्वस्यां शालायां भवः पूर्वा शाला इति समासे जाते।

पूर्वेषुकामशमी—'पूर्वा इषुकामशमी' इस लौकिक विग्रह में तथा 'पूर्वा सु इषुकामशमी सु' इस अलौकिक विग्रह मे प्रकृत सूत्र से तत्पुरुष समास होता है। 'पूर्वेषुकामशमी' प्राचीनकाल के किसी ग्राम का नाम है।

सप्तर्षय.—'सप्त च ते ऋषय.' इस लौकिक विग्रह में तथा 'सप्त जस् ऋषि जस्' इस अलौकिक विग्रह मे तत्पुरुष समास होता है। संख्यावाचक का पूर्वनिपात, सुप् लुक् होकर सप्तर्षि से प्रथमा के बहुवचन में 'सप्तर्षयः' रूप होता है।

संज्ञायाम् इति—संज्ञा में ही दिशावाची और सङ्ख्यावाची का समास होता है। इस प्रकार के नियम के लिये यह सूत्र है, अन्यथा समास तो 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २।१।५७। से सिद्ध ही था। इस नियम के कारण यहाँ समास नहीं होता; जैसे—'उत्तरा वृक्षाः' 'पञ्च ब्राह्मणाः' क्योंकि यहाँ संज्ञा नहीं है।

१४७ तद्धितेति—तद्धितार्थ के विषय मे, उत्तरपद परे होने पर और यदि समाहार वाच्य हो तो दिशावाचक और संख्यावाचक शब्दों का समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

पूर्वस्याम् इति—यह तद्धितार्थ के विषय में उदाहरण है। 'पूर्वस्यां शालायां भवः' (पूर्व शाला में होने वाला) यहाँ 'भवः' [illegible] ...ने वाला' यह तद्धितार्थ है। इस विषय में 'पूर्व' [illegible] ...े समास होकर, सुप् का लोप [illegible]

※ (वा) सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः ।

१४८ । दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः ।४।२।१०७। अस्माद् भवाद्यर्थे ञः स्यादसंज्ञायाम् ।

१४९ । तद्धितेष्वचामादेः ।७।२।११७। ञिति णिति च तद्धितेष्वचामादेरचो वृद्धिः स्यात् । यस्येति च । पौर्वशालः ।

सर्वनाम्न इति (वा)—सर्वनाम को वृत्ति मात्र में पुंवद्भाव हो जाता है। पीछे कहा गया है कि कृत्तद्धित समास आदि पांच वृत्तियां कहलाती हैं। उनमें इस नियम से सर्वनाम स्त्रीलिङ्ग शब्दों का पुंल्लिङ्ग के समान रूप हो जाता है (पुंवद्भावः)। यहाँ समास वृत्ति है अतएव 'पूर्वाशाला' में पूर्वा' को पुंवद्भाव होकर उसमें स्त्रीत्वबोधक 'टाप्' प्रत्यय नहीं रहता और 'पूर्वशाला' बन जाता है।

१४८. दिक् पूर्वेति—जिसमें दिशावाचक पूर्वपद होता है ऐसे शब्द से भव (होने वाला) अर्थ में 'ञ' प्रत्यय होता है यदि संज्ञा न हो।

'ञ' में 'ञ्' की इत् संज्ञा होकर उसका लोप हो जाता है और 'अ' शेष रहता है। इस प्रकार 'पूर्व शाला अ' इस स्थिति में—

१४९. तद्धितेष्विति—ञित् और णित् तद्धित परे होने पर अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है।

ञित् का अर्थ है—'ञ' है इत् संज्ञक जिसमें। यहाँ 'ञ' प्रत्यय ञित् तद्धित है अतः पूर्व शाला 'अ' में 'पू' के ऊ (आदि अच्) को वृद्धि होकर 'औ' हो जाता है। 'पौर्वशाला+अ' में 'यस्येति च ६।४।१४८ से 'ला' के आ का लोप हो जाता है और 'पौर्वशाल शब्द से प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'पौर्वशालः'

पौर्वशालः—'पूर्वस्यां शालायां भवः' (पूर्व शाला में उत्पन्न हुआ)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'पूर्वा ङि शाला ङि' इस अलौकिक विग्रह में (तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च) तद्धितार्थ में तत्पुरुष समास होता है। सुप् का लोप होकर 'पुंर्वाशाला शब्द में पूर्वा को पवद्भाव तथा पूर्वशाला शब्द से

पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ ॐ(वा) द्वन्द्वतत्पुरुषयोत्तरपदे नित्यसमासवचनम् ।

१५० । गोरतद्धितलुकि ५।४।९२। गोऽन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यात् समासान्तो न तु तद्धितलुकि । पञ्चगवधनः ।

(दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः) 'ञ' तद्धित प्रत्यय हो जाता है। 'पूर्वशाला+अ (ञ)' इस दशा में आदि वृद्धि ऊ को औ तथा 'यस्येति च' से शकार के आगे वाले आकार का लोप होकर 'पौर्वशाल' शब्द बनता है उससे प्र० एक० में पौर्वशालः ।

पञ्च गावो धनं यस्य (पांच गायें हैं धन जिसका)—इस तीन पदों के बहुव्रीहि समास मे—उत्तरपद (धनम्) परे रहते 'पञ्चन्' और 'गो' शब्दों का विकल्प से तत्पुरुष समास प्राप्त होता है—

द्वन्द्वेति (वा)—द्वन्द्व और तत्पुरुष समास मे उत्तरपद परे रहने पर नित्य समास कहना चाहिये ।

इस वार्तिक से यहाँ तत्पुरुष समास नित्य होता है। सुप् का लोप होकर तथा न्[1] का लोप होकर पञ्च गो धन' इस स्थिति में—

१५० गोरिति—जिसके अन्त मे गो शब्द हो, ऐसे तत्पुरुष से टच् समासान्त प्रत्यय होता है किन्तु तद्धित का लुक् (लोप) हो जाने पर नहीं होता ।

'टच्' में से 'ट्' और 'च्' चले जाते हैं अ' रहता है। इससे 'टच्' प्रत्यय होकर 'पञ्चगो+अ+धन' इस स्थिति मे 'ओ' को 'अव्' होकर 'पञ्चगवधन, शब्द बनता है ।

पञ्चगवधनः—'पञ्च गावो धनं यस्य' (पाँच गायें है धन जिसका)—इस अलौकिक विग्रह में तथा 'पञ्चन् जस् गो जस् धन सुं' इस अलौकिक विग्रह में बहुव्रीहि समास होने पर उत्तरपद परे रहते पञ्च और गो शब्द का नित्य तत्पुरुष समास होता है। सुप् का लोप होकर तथा न् लोप होकर 'पञ्चगोधन'

---

१. न लोप. प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७।

१५१ । तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १।२।४२।

१५२ । सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः । २।१।५२। तद्धितार्थेत्यत्रोक्तस्त्रिविधः सङ्ख्यापूर्वो द्विगुसंज्ञः स्यात् ।

१५३ । द्विगुरेकवचनम् २।४।१। द्विग्वर्थः समाहार एकवत् स्यात् ।

१५४ । स नपुंसकम् ।२।४।१७। समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात् पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम् ।

इस अवस्था में 'पञ्चगो' से समासान्त टच् प्रत्यय होकर गो को अव् हो जाता है और पञ्चगवधन शब्द से प्रथमा के एकवचन में 'पञ्चगवधनः' रूप बनता है ।

१५१. तत्पुरुष इति—समानाधिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय संज्ञा होती है ।

समानाधिकरण का अर्थ है—समान है अधिकरण (आधार अथवा अभिधेय) जिनका । जहाँ पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों समान अर्थात् एक वस्तु के लिये ही आते हैं, वह तत्पुरुष समानाधिकरण कहलाता है जैसे—'नीलमुत्पलम्'—नील च तद् उत्पलम् (नीला है जो उत्पल)—यहाँ 'नीलम्' तथा 'उत्पलम्' एक ही वस्तु को प्रकट करते हैं तथा पूर्वपद और उत्तरपद विग्रह में समान विभक्ति वाले ही होते हैं ।

१५२. संख्यापूर्व इति—'तद्धितार्थ॰' इस सूत्र में उक्त तीन प्रकार के समास में यदि पूर्वपद संख्यावाची होता है तो वह द्विगु समास कहलाता है ।

१५३. द्विगुरिति—द्विगु समास का अर्थ समाहार (समुदाय) एकवचन में, होता है ।

१५४. स इति—समाहार में द्विगु और द्वन्द्व समास नपुंसकलिङ्ग होते हैं ।

पञ्चगवम्—'पञ्चानां गवां समाहारः' (पाँच गायों का समुदाय)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'पञ्चन् आम् गो आम्' इस अलौकिक विग्रह में

१५५। विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २।१।५७ भेदकं भेद्येन समानाधिकरणेन बहुलं प्राग्वत्। नीलमुत्पलं नीलोत्पलम्। बहुलग्रह-

---

'तद्धितार्थ०' से समाहार अर्थ में समास होता है। सुप् का लुक् होकर 'पञ्चन् गो' इस अवस्था में 'न्' लोप तथा समासान्त टच् प्रत्यय (गोरतद्धितलुकि) होकर— पञ्च गो+अ (टच्) ओकार का अव् आदेश होकर→पञ्चगव बन जाता है। द्विगु संज्ञा होने से एकवचन तथा नपुंसकलिङ्ग होकर प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'पञ्चगवम्' रूप होता है।

१५५. विशेषणम् इति—विशेषण का विशेष्य के साथ बहुलता से समास होता है और वह कर्मधारय समास कहलाता है।

विशेषण का अर्थ है—भेदक; जो समान वस्तुओं में भेद करता है; जैसे—'कृष्णा गौः' यहाँ 'कृष्णा' शब्द 'गौ' को अन्य (श्वेतादि) गायों से भिन्न रूप में बतलाता है। जिसकी विशेषता (भेद) बतलाई जाती है वह विशेष्य या भेद्य कहा जाता है; जैसे ऊपर के उदाहरण में 'गौ' विशेष्य है।

नीलोत्पलम्—'नीलम् उत्पलम्' (नीला कमल)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'नील सु उत्पल सु' इस अलौकिक विग्रह में। विशेषण (नीलम्) और विशेष्य (उत्पलम्) का समास होता है। इसमें विशेषणवाची शब्द का पूर्व निपात होता है (वही समास-शास्त्र में प्रथमानिर्दिष्ट है—'विशेषणम्' इति।) शेष पूर्ववत्।

बहुलग्रहणाद् इति—सूत्र में 'बहुल' शब्द के ग्रहण से कहीं कहीं यह समास नित्य भी हो जाता है। 'बहुल' शब्द का अर्थ है 'बहून् अर्थान् लाति' (जो बहुत से अर्थों को प्राप्त कराता है)। इसके प्रयोग से चार प्रकार के अर्थ आ जाते हैं* (१) कहीं कोई नियम (नित्य) लग जाता है। (२) कहीं बिल्कुल नहीं लगता। (३) कहीं विकल्प से लगता है। (४) कहीं कुछ अन्य (सूत्र से अप्राप्त) कार्य भी कर देता है।

---

*क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥

णात् क्वचिन्नित्यम् कृष्णसर्पः ।—क्वचिन्न—रामो जामदग्न्यः ।

१५६ । उपमानानि सामान्यवचनैः ।२।१।५५। घन इव श्यामो घनश्यामः । *(वा) शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम् ॥ शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः । देवपूजको ब्राह्मणो देवब्राह्मणः ।

कृष्णसर्पः—(काला साँप) 'कृष्ण सु सर्प सु' इस अलौकिक विग्रह में विशेषण विशेष्य का समास (कर्मधारय) होता है। यहाँ (बाहुलकात्) यह समास नित्य ही होता है। 'कृष्णसर्प' नाम की साँपों की जातिविशेष है उसके लिए 'कृष्णः सर्पः' ऐसा विग्रह वाक्य प्रयुक्त नहीं होता।

रामो जामदग्न्यः—बहुल ग्रहण करने से ही यहाँ उपर्युक्त नियम से समास नहीं होता (२ क्वचिद् अप्रवृत्तिः)।

१५६. उपमानानि—उपमानवाचक सुबन्तों का समानधर्मवाचक शब्दों के साथ समास होता है और वह कर्मधारय (तत्पुरुष) समास कहलाता है।

जिससे किसी की समता दिखलाई जाती है वह उपमान कहलाता है और जिस धर्म के कारण समानता दिखलाई जाती है वह सामान्यवचन या समानधर्म कहलाता है।

घनश्यामः—घन इव श्यामः (घन के समान श्याम)—इस लौकिक विग्रह मे तथा 'घन सु श्याम सु' इस अलौकिक विग्रह में प्रस्तुत सूत्र से उपमानवाचक 'घन' शब्द का समानधर्मवाचक 'श्याम' शब्द के साथ समास होता है।

यहाँ लौकिक विग्रह में 'इव' द्वारा यह प्रकट होता है कि 'घन' शब्द लक्षणा द्वारा घनसदृश को कहता है। इसलिये 'घन' शब्द का 'श्याम' शब्द के साथ सामानाधिकरण्य है।

शाकेति (वा)—शाकपार्थिव आदि समासों की सिद्धि के लिए उत्तरपद का लोप भी हो जाता है।

शाकपार्थिवः—शाकप्रियः पार्थिवः (शाक में रुचि रखने वाला

१५७। नञ् ।२।२।६। नञ् सुपा सह समस्यते।

१५८। नलोपो नञः ।६।३।७३।

नञो नस्य लोपः स्यादुत्तरपदे। न ब्राह्मणः अब्राह्मणः।

१५९। तस्मान्नुडचि। ६।३।७४। लुप्तनकारान्नञ उत्तरपदस्या-
जादेर्नुडागमः स्यात्। अनश्वः।

राजा)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'शाकप्रिय सु पार्थिव सु' इस अलौकिक विग्रह में विशेषण विशेष्य का समास होकर उपर्युक्त वार्तिक से शाकप्रिय' के उत्तरपद 'प्रिय' का लोप हो जाता है। इसी प्रकार 'देवपूजको ब्राह्मणः' में 'पूजक शब्द का लोप होकर 'देवब्राह्मण.' शब्द बनता है।

१५७. नञ्—नञ् का सुबन्त के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष (नञ्तत्पुरुष) समास कहलाता है।

१५८. नलोप इति—नञ् के न का लोप हो जाता है उत्तरपद परे होने पर।

अब्राह्मणः—न ब्राह्मणः (ऐसा व्यक्ति जो ब्राह्मण नहीं है अर्थात् ब्राह्मण से भिन्न और ब्राह्मण सदृश)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'न ब्राह्मण सु' इस अलौकिक विग्रह में 'नञ्' का 'ब्राह्मण' के साथ समास होता है। न्' का लोप होकर अ+ब्राह्मण→अब्राह्मण. रूप होता है।

१५९. तस्माद् इति—जिस नञ् के नकार का लोप हुआ हो उससे परे अजादि उत्तरपद हो तो उसे नुट् का आगम हो जाता है।

'नुट्' में ट् की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। उकार उच्चारण के लिये है। अतः 'न्' शेष रहता है और वह उत्तरपद के आदि में रखा जाता है।

अनश्वः—न अश्वः (ऐसा प्राणी जो अश्व न हो)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'न अश्व सु' इस अलौकिक विग्रह में नञ् समास होकर न् का लोप हो जाता है। 'अ+अश्व' इस अवस्था में उपर्युक्त नियम के अनुसार नुट् का आगम होकर अ+न्+अश्व→अनश्व समस्त पद होता है। इससे प्र० एक० में अनश्वः।

नैकधेत्यादौ तु नशब्देन सह 'सुप् सुपे'ति समासः।

१६०। कुगतिप्रादयः। २।२।१८।

एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते। कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः।

१६१। ऊर्यादिच्विडाचश्च ।१।४।६१। ऊर्यादयः च्व्यन्त

नैकधा—न एकधा इस विग्रह में 'न' शब्द के साथ 'एकधा' शब्द का 'सुप् सुपा' से समास होता है। यह 'केवल समास' के अन्तर्गत होगा, नञ्तत्पुरुष समास के नहीं। 'नञ्' का 'एकधा' के साथ नञ् तत्पुरुष समास होकर न् का लोप, नुट् का आगम होकर 'अनेकधा' रूप बनेगा। इस प्रकार न तथा नञ् दो भिन्न २ अव्यय हैं, यह भी ध्यान देने योग्य है।

१६०. कुगतीति—कु, गतिसंज्ञक शब्द तथा प्र आदि का समर्थ के साथ नित्य समास होता है और वह तत्पुरुष समास कहलाता है।

कुपुरुष—कुत्सितः पुरुषः (बुरा मनुष्य) इस लौकिक विग्रह में तथा कु पुरुष सु' इस अलौकिक विग्रह में 'कु' अव्यय का 'पुरुषः' सुबन्त के साथ समास होता है।

१६१. ऊर्यादीति - ऊरी आदि शब्द, च्वि प्रत्ययान्त तथा डाच् प्रत्ययान्त शब्द क्रिया के योग में गतिसंज्ञक होते हैं।

टिप्पणी—(१) ऊरी, उररी आदि शब्द गणपाठ में पढ़े गये हैं।

(२) जो वस्तु जैसी पहले न हो उसके वैसी होने के अर्थ में (अभूततद्भावे) 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' ५।४।५०।। इस सूत्र से 'च्वि' प्रत्यय होता है। समस्त 'च्वि' प्रत्यय का ही लोप हो जाता है और पहले 'अ' को 'ई' होकर 'शुक्लीकरोति' या शुक्लीभवति आदि रूप होते हैं।

(३) अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण शब्द से कृ धातु के योग में 'डाच्' प्रत्यय होता है जैसे कोई 'पटत्' २ ऐसी ध्वनि करता है तो—'पटत् इति करोति' इस अर्थ में 'डाच्' प्रत्यय होने पर 'पटत्+डाच्+करोति' इस अवस्था में

डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः। ऊरीकृत्य। शुक्लीकृत्य। पटपटाकृत्य। सुपुरुषः। ॐ (वा) प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया॥

पटत् को द्वित्व (डाचि बहुलं द्वे भवतः) होकर 'पटत् पटत्+आ+करोति' तथा दूसरे 'पटत्' के 'अत्' का लोप होकर और पहले पटत् के 'त्' को पररूप (अर्थात् त्+प=प) होकर पटपटाकरोति' रूप होता है।

ऊरीकृत्य—स्वीकृत्य (स्वीकार करके)—यहाँ 'कृ' के योग में 'ऊरी' शब्द की गति संज्ञा होकर, 'कुगतिप्रादय' से समास हो जाता है। समास होने से 'क्त्वा' प्रत्यय' को 'ल्यप्' (समासेऽनञ् पूर्वे क्त्वो ल्यप्) हो जाता है। ऊरी+कृ+य (ल्यप्) इस अवस्था में 'कृ' से परे तुक् (त्) का आगम होकर ऊरीकृत्य, अव्यय शब्द होता है

शुक्लीकृत्य—अशुक्लं शुक्लं कृत्वा (जो श्वेत नहीं उसे श्वेत करके)—इस अर्थ में च्विप्रत्ययान्त 'शुक्ली' शब्द की 'कृत्वा' के योग में गति संज्ञा होकर समास होता है तथा क्त्वा को ल्यप् होकर पूर्ववत् 'शुक्लीकृत्य' रूप बन जाता है।

पटपटाकृत्य—पटत् इति कृत्वा (पटपट करके)—इस अर्थ में डाच् प्रत्ययान्त 'पटपटा' शब्द की 'कृत्वा' के योग मे गति संज्ञा होकर समास हो जाता है तथा क्त्वा को 'ल्यप्' आदेश होकर 'पटपटाकृत्य रूप होता है।

यहाँ सर्वत्र गति संज्ञा का फल समास होना है तथा समास होने से 'क्त्वा' को 'ल्यप्' आदेश होता है।

सुपुरुषः—शोभनः पुरुषः (अच्छा मनुष्य)—इस विग्रह में 'सु' (प्रादि) का 'पुरुषः' सुबन्त के साथ नित्य 'कुगतिप्रादयः से समास होकर रूप बनता है।

टिप्पणी—'प्र' 'परा' आदि (प्रादि) की क्रिया के योग में ही गति संज्ञा होती है सुपुरुष' में 'सु' का क्रिया से योग नहीं अतः इसकी गति संज्ञा नहीं होती। ऐसे उदाहरणों के लिये ही सूत्र में गति से पृथक् प्रादि का ग्रहण किया है।

प्र आदि का समास प्रादि समास कहलाता है। किस प्र आदि का किस विभक्त्यन्त के साथ किस अर्थ में समास होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिये 'प्रादयो गताद्यर्थे॰ इत्यादि पांच वार्तिक पढ़े गये हैं।

प्रगत आचार्यः प्राचार्यः । ※(वा) अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया अतिक्रान्तो मालामिति विग्रहे ।

१६२ । एकविभक्ति चापूर्वनिपाते । १।२।४४। विग्रहे यन्नियत विभक्तिकं तदुपसर्जनसंज्ञं स्यान्न तु तस्य पूर्वनिपातः ॥

१६३ । गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १।२।४८। उपसर्जनं यो गोशब्द स्त्रीप्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात् । अतिमालः

प्रादय इति (वा)—'प्र' आदि का 'गत' आदि अर्थ में प्रथमान्त के साथ समास होता है ।

प्राचार्यः—'प्रगत आचार्यः' (प्रकृष्ट आचार्य)—इस विग्रह में 'प्र' का 'आचार्य' के साथ समास होता है । यह समास प्रादि—तत्पुरुष समास कहलाता है ।

अत्यादय इति (वा)—अति' आदि का 'क्रान्त' आदि अर्थ में द्वितीयान्त के साथ समास होता है ।

अतिक्रान्तो मालाम् इस विग्रह में--

१६२.एक विभक्तीति—विग्रह में जिस पद की एक अर्थात् नियत विभक्ति रहती है, उसकी उपसर्जन संज्ञा होती है; किन्तु उसका पूर्व निपात नहीं होता।

टिप्पणी—'प्रथमानिर्दिष्ट समास उपसर्जनम्' से जो उपसर्जन संज्ञा की गई थी, वह समास में पूर्वनिपात के लिये की गई थी; किन्तु यहाँ अन्य कार्य के लिये उपसर्जन संज्ञा की गई है; जिसका निर्देश आगे किया जा रहा है ।

१६३.गोस्त्रियोरिति—उपसर्जनसंज्ञक जो गो शब्द अथवा स्त्री प्रत्ययान्त शब्द; वह जिनके अन्त में हो (तदन्त) उस प्रतिपदिक को ह्रस्व हो जाता है । यहाँ अतिक्रान्तो मालाम्, अतिक्रान्तं मालाम्, 'अतिक्रान्तेन मालाम'

*(वा) अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया ॥ अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः । *(वा) पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या ॥ परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः ॥ *(वा) निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या ॥ निष्क्रान्तः

इत्यादि विभिन्न विभक्तियों के विग्रह में 'मालाम्' शब्द नियत विभक्ति वाला अर्थात् द्वितीया विभक्ति वाला ही रहता है, अतएव यह नियत विभक्ति वाला है। इसकी उपसर्जन संज्ञा हो जाती है और इसे ह्रस्व होता है।

अतिमालः—'अतिक्रान्तो मालाम्' (अतिक्रमण कर गया माला को)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'अति माला अम्' इस अलौकिक विग्रह में 'अति' शब्द की 'प्रथमानिर्दिष्ट०' आदि से उपसर्जन संज्ञा होती है तथा उसका पूर्वप्रयोग होता है। सुप् का लोप होकर फिर 'अतिमाला' इस दशा में 'माला' शब्द की 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' से उपसर्जन संज्ञा होकर 'आ' को ह्रस्व (अ) हो जाता है। इस प्रकार 'अतिमाल' समस्त पद से प्रथमा के एक० में अतिमालः रूप होता है।

अवादय इति (वा)—अव आदि का क्रुष्ट आदि अर्थ में तृतीयान्त के साथ समास होता है।

अवकोकिलः—अवक्रुष्टः कोकिलया (कोकिल द्वारा कूजित)—इस विग्रह में 'अव' का 'कोकिलया' के साथ समास होता है। अव का पूर्व प्रयोग और सुप् का लुक् हो जाता है। 'कोकिला' की उपसर्जन संज्ञा होकर ह्रस्व हो जाता है और 'अवकोकिलः' रूप बनता है।

पर्यादय इति (वा)—परि आदि का ग्लान आदि अर्थ में चतुर्थ्यन्त के साथ समास होता है।

पर्यध्ययनः—'परिग्लानोऽध्ययनाय' (पढ़ने से थका हुआ)—इस विग्रह में 'परि' का चतुर्थ्यन्त 'अध्ययनाय' के साथ समास होता है।

निरादयः इति (वा)—निर् आदि का निष्क्रान्त आदि के अर्थ में पञ्चम्यन्त के साथ समास होता है।

कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः ।

१६४ । तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ३।१।९२।

सप्तम्यन्ते पदे कर्मणीत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं कुम्भादि तद्वाचकं पदमुपपदसंज्ञं स्यात् ।

१६५ । उपपदमतिङ् २।२।१९।

उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते, अतिङन्तश्चायं समासः । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।

निष्कौशाम्बि.—निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः (कौशाम्बी से निकला हुआ)—इस विग्रह में 'निर्' शब्द का निष्क्रान्त अर्थ में पञ्चम्यन्त 'कौशाम्ब्याः' के साथ समास होता है तथा 'कौशाम्बी' को पूर्ववत् उपसर्जनसंज्ञा होकर ह्रस्व हो जाता है ।

१६४. तत्रेति—सप्तम्यन्त पद 'कर्मणि' इत्यादि में वाच्य रूप में स्थित जो कुम्भ (घड़ा) आदि है उसका वाचक शब्द उपपदसंज्ञक होता है। जैसे—

'कर्मण्यण्' (कर्मणि+अण्) आदि सूत्र में सप्तम्यन्त पद है—'कर्मणि'। उसके वाच्य रूप में स्थित है—कुम्भ आदि वस्तुः क्योंकि 'कुम्भं करोति' (घड़े को बनाता है) इत्यादि में 'कुम्भ' की कर्म संज्ञा होती है। इस प्रकार घड़े के वाचक 'कुम्भम्' शब्द की उपपद संज्ञा होगी ।

१६५. उपपदमिति—सुबन्त उपपद का समर्थ के साथ नित्य समास होता है और यह समास तिङन्त नहीं होता । भाव यह है कि तिङन्त के साथ समास नहीं होता ।

कुम्भकार – 'कुम्भं करोति' इस लौकिक विग्रह में तथा 'कुम्भ ङस् कार' इस अलौकिक विग्रह में 'गतिकारकोपपदानाम्' इत्यादि परिभाषा के अनुसार उत्तरपद में सुप् के आने से पहिले ही "उपपदमतिङ्" से समास होकर 'कुम्भकार' शब्द होता है । उससे प्रथमा एक० में कुम्भकारः ।

टिप्पणी—कुम्भ करोति इस अर्थ में 'कुम्भ' रूप कर्म के उपपद होने पर 'कृ' धातु से अण् (कर्मण्यण्) प्रत्यय होकर कुम्भ+कृ+अण् कृ के ऋ को 'अचोऽञ्णिति' से वृद्धि 'आर्' होकर कुम्भ+कार्+अ→कुम्भकार शब्द बनता है उसी की प्रक्रिया के अन्तर्गत यह उपपद समास होता है । 'उपपद' समास

अतिङ् किम् ? मा भवान् भूत्। माङि लुङिति सप्तमीनिर्देशान्नात्रोपपदम्। "गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः"। व्याघ्री। अश्वक्रीती। कच्छपीत्यादि।

नित्य समास होता है। भाव यह है कि बिना उपपद के 'अण्' आदि प्रत्यय ही नहीं होते 'कारः' आदि का अकेले प्रयोग नहीं होता।

अतिङ् इति - उपपदसमास तिङन्त से नहीं होता, अतएव "मा भवान् भूत्" में 'मा' का भूत् के साथ समास नहीं हुआ। यहाँ 'मा' शब्द उपपद है क्योंकि 'माङि लुङ्' इस सूत्र में 'माङि' यह सप्तम्यन्त है। 'भूत्' (लुङ्) शब्द तिङन्त है इसी से यहाँ समास नहीं हुआ।

गतिकारकेति (वा०) गति, कारक और उपपद का कृदन्त के साथ सुप् के आने से पहले समास हो जाता है।

व्याघ्री=व्याजिघ्रति (विशेष रूप से चारों ओर सूँघती है)—इस विग्रह में वि आङ् पूर्वक 'घ्रा' धातु से 'क' प्रत्यय (आतश्चोपसर्गे) होता है। व्या+घ्रा+अ (क) यहाँ 'घ्रा' के आ का लोप होकर व्या+घ्र इस दशा में 'घ्र' से परे सुप् आने से पहले ही गति समास हो जाता है। अब व्याघ्र शब्द जातिवाचक है इसलिये 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' सूत्र से ङीष् प्रत्यय होकर 'व्याघ्री' शब्द बनता है।

यदि यहाँ सुप् होने के पश्चात् समास होता तो सुप् के आने से पहिले 'घ्र' शब्द से लिङ्गबोधक प्रत्यय होना आवश्यक था, क्योंकि लिङ्गबोधक प्रत्यय के पश्चात् ही कारक विभक्ति (सुप्) होती है। केवल 'घ्र' शब्द जातिवाचक नहीं है अतः इससे 'ङीष्' नहीं होता, अपितु 'टाप्' प्रत्यय होता, इस प्रकार 'व्याघ्री' इष्ट रूप नहीं बनता।

अश्वक्रीती—'अश्वेन क्रीता' (अश्व के द्वारा खरीदी गई)—इस विग्रह में उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इस सूत्र से अश्व शब्द का क्रीत शब्द के साथ सुप् के आने से पहले ही समास हो जाता है। तब 'क्रीतात् करणपूर्वात्' ४।१।५० से ङीष् होकर 'अश्वक्रीती' शब्द बनता है।

यदि यहाँ 'सुप्' आने के पश्चात् समास होता तो पहले 'टाप्' प्रत्यय हो जाता और फिर अदन्तत्व न होने से 'क्रीतात्०' ङीष् नहीं होता।

(१६६)। तत्पुरुषस्याङ्गुलेः सङ्ख्याव्ययादेः ५।४।८६। सङ्ख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य समासान्तोऽच् स्यात्। द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलम्। निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम्।

कच्छपी—'कच्छेन पिबति' (कच्छ से पीती है, कछुवी)—इस विग्रह में सुबन्त'कच्छ' शब्द उपपद होने पर 'पा' धातु से 'क' प्रत्यय होकर 'कच्छ पा+अ (क) इस दशा में 'पा' के आ का लोप हो जाता है। फिर उत्तरपद में सुप् के आने से पहले ही कच्छ शब्द का 'प' के साथ समास हो जाता है। इस प्रकार 'कच्छप' शब्द जातिवाचक है, अतः जातिवाची शब्दों से होने वाला ङीप् प्रत्यय होता है।

यदि यहाँ सुप् आने के पश्चात् समास होता तो सुप् से पहले 'टाप्' हो जाता फिर ङीप् नहीं होता।

१६६. तत्पुरुषस्येति—जिस तत्पुरुष के आदि में संख्यावाचक या अव्यय शब्द हो और अन्त में अङ्गुलि शब्द हो उससे समासान्त अच् प्रत्यय होता है।

द्व्यङ्गुलम्—द्वे अङ्गुली प्रमाणम् अस्य (दो अंगुली है माप जिसका) इस विग्रह में (तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च) तद्धितार्थ में तत्पुरुष समास होता है। यहाँ प्रमाण अर्थ में मात्रच् प्रत्यय होता है, जिसका लोप हो जाता इस प्रकार 'द्वि अङ्गुलि' शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय होकर 'लि' के इ का लोप (यस्येति च) हो जाता है। तब द्व्यङ्गुल शब्द से नपुं० प्रथमा के एकव० में 'द्व्यङ्गुलम्' रूप बनता है।

निरङ्गुलम्—'निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः' (अंगुलियों से निकला हुआ)—विग्रह में 'निर्' का अङ्गुलि' के साथ 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' आदि समास होता है तथा समासान्त अच् प्रत्यय होकर पूर्ववत् 'निरङ्गुल' रूप बनता है।

१६७। अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ५।४।८७ एभ्यो रात्रेरच् स्याच्चात्संख्याऽव्ययादेः। अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम्।

१६८। रात्राह्नाहाः पुंसि २।४।२९। एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ पुंस्येव। अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रः। सर्वरात्रः। संख्यातरात्रः।

---

१६७. अहरिति—अहन्, सर्व, एकदेश (एक अंश अर्थात्), संख्यात, पुण्य तथा संख्यावाची और अव्यय से परे रात्रि शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय होता है।

अहर्ग्रहणम् इति—उपर्युक्त सूत्र में 'अहन्' शब्द का ग्रहण द्वन्द्व समास के लिये है अर्थात् अहन् और रात्रि के द्वन्द्व समास में अच् प्रत्यय होता है, इन दोनों का तत्पुरुष समास नहीं होता।

१६८. रात्रेति—रात्र, अह्न और अहः—ये शब्द जिस द्वन्द्व और तत्पुरुष के अन्त में हों वे पुंलिङ्ग में ही होते हैं।

अहोरात्रः—'अहश्च रात्रिश्च अनयोः समाहारः' (दिन और रात का समुदाय)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'अहन् सु रात्रि सु' इस अलौकिक विग्रह में द्वन्द्व समास होता है। सुप् लोप होकर न् को रुं तथा उत्व[1] होकर 'अहोरात्रि और समासान्त अच् प्रत्यय इ का लोप तथा उपर्युक्त सूत्र के अनुसार पुंलिङ्ग होकर 'अहोरात्रः' रूप बनता है।

सर्वरात्रः—'सर्वा रात्रिः' अथवा 'सर्वा चासौ रात्रिश्च' (सारी रात)—इस विग्रह में 'सर्वा' शब्द का 'रात्रि' शब्द के साथ तत्पुरुष समास होता है। 'सर्वा' शब्द को पुंवद्भाव (पुंलिङ्ग के समान रूप) होकर तथा सर्वरात्रि शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय होकर पूर्ववत् 'सर्वरात्रः' रूप बनता है।

संख्यातरात्रः—संख्याता रात्रिः अथवा संख्याता चासौ रात्रिश्च (गिनी हुई रात) इस विग्रह में 'सर्वरात्रः' के समान तत्पुरुष समास होता है।

टिप्पणी—एकदेश का उदाहरण 'पूर्वरात्रः' (पूर्वं रात्रेः अर्थात् रात्रि का पूर्व भाग) है। यहाँ भी सर्वरात्रः के समान कार्य होता है।

---

१. अहन् ८।२।६८। २. हशि च ६।१।११४।

*(वा) संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम् । द्विरात्रम् । त्रिरात्रम् ।

१६९ । राजाहःसखिभ्यष्टच् ५।४।९१। एतदन्तात्तत्पुरुषात् टच् स्यात् । परमराजः ।

(१७०) । आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६।३।४६।

संख्येति (वा)—संख्या पूर्वक रात्र शब्द नपुंसकलिङ्ग होता है ।

द्विरात्रम्—द्वयोः रात्र्योः समाहारः (दो रात्रियों का समुदाय)—इस विग्रह में द्वि शब्द का रात्रि शब्द के साथ (तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च) समाहार अर्थ में द्विगु समास होता है । समासान्त अच् प्रत्यय होकर तथा उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार नपुंसक लिङ्ग होकर 'द्विरात्रम्' शब्द बनता है ।

त्रिरात्रम्—तिसृणां रात्रीणां समाहारः (तीन रात्रियों का समुदाय), 'द्विरात्रम्' के समान ।

१६९. राजेति—जिस तत्पुरुष के अन्त में राजा, अहन् या सखि शब्द होता है उससे समासान्त टच् प्रत्यय होता है ।

परमराजः—परमश्चासौ राजा च (बड़ा राजा या अच्छा राजा)—इस विग्रह में परम शब्द का राजन् शब्द के साथ (विशेषण विशेष्य का) कर्मधारय तत्पुरुष समास होता है । उपर्युक्त नियम के अनुसार समासान्त 'टच्' प्रत्यय होकर 'परम राजन्+अ (टच्) इस दशा में अन्[1] का लोप हो जाता है । परमराज शब्द से प्र० एक० में परमराजः ।

टिप्पणी—समासान्त टच् प्रत्यय होकर ही धर्मराजः, भोजराजः आदि राजन्शब्दान्त, परमाहः, उत्तमाहः (श्रेष्ठ दिन) आदि अहन् शब्दान्त तथा राजसखः, ब्राह्मणसखः आदि सखिशब्दान्त समस्त पद बनते हैं ।

आन्महतः इति—महत् शब्द के अन्त अर्थात् 'त्' को आकार आदेश हो जाता है समानाधिकरण उत्तरपद तथा जातीय (जातीयर्) प्रत्यय परे होने पर ।

महाराजः—महान् च असौ राजा च, इस लौकिक विग्रह में तथा

---

१. नस्तद्धिते ६।४।१४४।

महत आकारोऽन्तादेशः स्यात्समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे। महाराजः। प्रकारवचने जातीयर्। महाप्रकारो महाजातीयः।

१७१। द्वयष्टनः सङ्ख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः   ६।३।४७

आत्स्यात्। द्वौ च दश च द्वादश। अष्टाविंशतिः।

'महत् सु राजन् सु' इस अलौकिक विग्रह में महत् को समानाधिकरण 'राजन्' शब्द परे होने पर आकार अन्तादेश होता है। शेष 'परमराज' के समान।

इसी प्रकार महादेवः, महावीरः, महापुरुषः, महायुद्धम् इत्यादि।

महती सेना महासेना, महादेवी, महानदी आदि शब्दों में भी 'महती' का पुंल्लिङ्ग के समान (पुंवद्भाव) होकर महत् शब्द हो जाता है और त् को आ होकर 'महा'।

महाजातीयः—महाप्रकारः (बड़े ढङ्ग का)—इस अर्थ में 'प्रकारवचने जातीयर्' सूत्र से महत् शब्द से 'जातीयर्' प्रत्यय होता है। उपर्युक्त नियम से 'महत्' के अन्त को आकार होकर 'महाजातीयः' रूप बनता है।

टिप्पणी—(१) 'महाजातीय.' तद्धितान्त शब्द है समस्त पद नहीं। यहाँ ऊपर के सूत्र से महत् के त् को आ होता है इसी से यहाँ उदाहरण दिया गया है।

(२) समानाधिकरण उत्तरपद परे होने पर ही यह 'आत्व' होता है। अतः महतः सेवा=महत्सेवा इस षष्ठी समास में आत्व नहीं होता। महान्तौ बाहू यस्य सः महाबाहुः इस समानाधिकरण बहुव्रीहि में आत्व होता ही है।

१७१. द्वयष्टन इति—द्वि और अष्टन् शब्द के अन्त को आकार (आदेश) होता है सङ्ख्यावाची उत्तरपद परे होने पर, किन्तु बहुव्रीहि समास में तथा 'अशीति' शब्द परे रहते नहीं होता।

द्वादश—द्वौ च दश च (दो और दस अर्थात् बारह)—इस विग्रह में द्वि शब्द का दशन् शब्द के साथ द्वन्द्व समास होता है। उपर्युक्त नियम के अनुसार द्वि को आकार अन्तादेश होकर 'द्वादशन् समस्त शब्द बनता है। इससे प्रथमा के एकवचन में 'सु' उसका लोप तथा 'न्' का लोप होकर 'द्वादश' रूप बनता है।

अष्टाविंशतिः—अष्टौ च विंशतिश्च (आठ और बीस अर्थात् अट्ठाइस)—

१७२ । त्रेस्त्रयः ६।३।४८। त्रयोदश । त्रयोविंशतिः । त्रयस्त्रिंशत् ।

१७३ । परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः २।४।२६। एतयोः परपदस्येव लिङ्गं स्यात् । कुक्कुटमयूर्याविमे । मयूरीकुक्कुटाविमौ । अर्ध-

---

यहाँ 'अष्टन् शब्द का विंशति के साथ द्वन्द्व समास होता है तथा अष्टन् के अन्त को आकार हो जाता है।

१७२. त्रेरिति—त्रि शब्द को 'त्रयस्' (आदेश) हो जाता है संख्यावाची उत्तरपद परे रहते किन्तु बहुव्रीहि में तथा अशीति शब्द परे रहते नहीं होता।

त्रयोदश—त्रयश्च दश च (तीन और दस अर्थात् तेरह)—इस विग्रह में 'त्रि' शब्द का 'दशन्' शब्द के साथ द्वन्द्व समास होकर त्रि को 'त्रयस्' हो जाता है। 'त्रयस्+दशन्' यहाँ 'स' को रु तथा उ होकर त्रयोदश रूप होता है। इसी प्रकार 'त्रयश्च विंशतिश्च'→'त्रयोविंशतिः' और त्रयश्च त्रिंशत् च'→'त्रयस्त्रिंशत्' रूप होते हैं।

१७२. परवद् इति—द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में परपद के समान लिङ्ग होता है।

कुक्कुटमयूर्यौ इमे—कुक्कुटश्च मयूरी च (मुर्गा और मोरनी)—इस विग्रह में द्वन्द्व समास होता है। इसका परपद 'मयूरी' स्त्रीलिङ्ग है तथा द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में परपद के समान लिङ्ग होता है, अतएव समस्त पद उपर्युक्त नियम के अनुसार स्त्रीलिङ्ग में है। इसी स्त्रीलिङ्ग को 'इमे' स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग स्पष्ट करता है।

मयूरीकुक्कुटौ इमौ—मयूरी च कुक्कुटश्च (मयूरी और मुर्गा)—इस विग्रह में द्वन्द्व समास होता है। यहाँ परपद 'कुक्कुट' पुंल्लिङ्ग है अतएव समस्त पद पुंल्लिङ्ग में होता है। 'इमौ' इसी पुंल्लिङ्ग को प्रकट करता है।

अर्धपिप्पली—अर्धं पिप्पल्याः (पिप्पली का अर्ध भाग)—यहाँ तत्पुरुष समास है। परपद पिप्पली स्त्रीलिङ्ग है अतएव समस्त पद स्त्रीलिङ्ग होता है।

पिप्पली। ०(वा) द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः॥ पञ्चसु कपालेषु संस्कृत. पञ्चकपाल पुरोडाश.।

१७४। प्राप्तापन्ने च द्वितीयया। (२।४।एतौ समस्येते अकारश्चानयोरन्तादेशः। प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविक। आपन्नजीविकः।

द्विगुप्राप्तेति (वा)—द्विगु समास और जिन समास मे प्राप्त, आपन्न तथा अलम् शब्द पूर्व में (पूर्वपद) है एवं गति समास, इनमे परपद के समान लिङ्ग नहीं होता।

पञ्चकपालः पुरोडाशः—पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः (पाँच कपालों मे संस्कृत)—इस विग्रह मे तद्धितार्थ मे द्विगु समास होता है। यहाँ परपद 'कपाल' नपुंसक लिङ्ग है किन्तु उसके अनुसार समस्त पद नपुंसक लिङ्ग मे नही होता अपितु विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होता है। यहाँ 'पुरोडाश' (विशेष्य) पुंलिङ्ग है अतएव समस्त पद पुंलिङ्ग मे है।

१७४. प्राप्तापन्ने च द्वितीययेति—प्राप्त और आपन्न शब्दों का द्वितीयान्त के साथ समास होता है और इनके अन्त को 'अकार' (आदेश) हो जाता है।

प्राप्तजीविकः—प्राप्तो जीविकाम् (जीविका को प्राप्त हुआ)—इस विग्रह में 'प्राप्त' शब्द का 'जीविका' द्वितीयान्त के साथ तत्पुरुष समास होता है।[1] जीविका शब्द की उपसर्जन संज्ञा होकर 'आ' को ह्रस्व हो जाता है।[2] यहाँ परपद 'जीविका' स्त्रीलिङ्ग है किन्तु इसके समान समस्त पद स्त्रीलिङ्ग मे नहीं होगा, अपि तु विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होगा है।

टिप्पणी—'प्राप्ता जीविकाम्' स्त्री इस विग्रह मे 'प्राप्तजीविका' यह समस्त पद होता है। यहाँ सूत्र के अर्थ (वृत्ति) मे कहा हुआ 'प्राप्ता' शब्द को अकार अन्तादेश होता है।

आपन्नजीविकः—आपन्नो जीविकाम् (जीविका को प्राप्त हुआ)—इस विग्रह में 'प्राप्तजीविकः' के समान समस्त कार्य होता है।

---

१. एकविभक्ति चापूर्वनिपाते १।२।४४।
२. गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १।२।४८।

अलङ्कुमार्यै अलङ्कुमारिः। अत एव ज्ञापकात्समासः। निष्कौशाम्बिः

१७४ अर्धर्चाः पुंसि च ।२।४।३१। अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि क्लीबे च स्युः अर्धर्चः। अर्धर्चम्। एवं ध्वजतीर्थशरीरमण्ड-

---

टिप्पणी:—यहाँ पक्ष मे 'द्वितीयाश्रिता० १३५ इससे समास होता है तथा जीविकाप्राप्तः' और 'जीविकापन्नः' शब्द भी होते हैं।

अलङ्कुमारिः—'अलं कुमार्यै' (कुमारी के लिये योग्य)—इस विग्रह मे तत्पुरुष समास होता है। कुमारी की उपसर्जन संज्ञा होकर ई को ह्रस्व हो जाता है। यहाँ परपद 'कुमारी' स्त्रीलिङ्ग है, किन्तु उसके समान समस्तपद का लिङ्ग नही होता अपितु विशेष्य के अनुसार होता है। अतः 'अलङ्कुमारिः' पुंलिङ्ग है।

अतएवेति—उपर्युक्त वार्तिक में अलम् पूर्वक समास में परपद के समान लिङ्ग होने का निषेध किया गया है। इससे यह पता चलता है कि 'अलम्' का सुबन्त के साथ समास होता है।

काशिकाकार के मत में तो 'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या' इस वार्तिक के अनुसार यहाँ समास होता है।

निष्कौशाम्बि:—यहाँ परपद कौशाम्बी स्त्रीलिङ्ग है किन्तु उसके समान समस्त पद स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता अपितु विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होता है। (देखिये पृष्ठ ११२)

टिप्पणी—निष्कौशाम्बिः में प्रादि समास है। 'द्विगुप्राप्तापन्न०' इत्यादि वार्तिक में गतिसमास के साथ-साथ प्रादि समास का भी ग्रहण है। इसी से यह उदाहरण दिया गया है।

१७४. अर्धर्चा इति—'अर्धर्च' इत्यादि शब्द पुंलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग (दोनों) में होते है।

अर्धर्चः-अर्धर्चम्—'ऋचोऽर्धम्' (ऋचा का अर्धभाग)—इस विग्रह में अर्धनपुंसकम् से तत्पुरुष समास होता है। समासान्त 'अ' प्रत्यय होकर ऋच्+अ→अर्धर्च समस्त पद बनता है। यहाँ परपद 'ऋच्' स्त्रीलिङ्ग उसके अनुसार समस्त पद का लिङ्ग नहीं होता अपितु पुंलिङ्ग और

पीयूषदेहांकुशपात्रसूत्रादयः । सामान्ये नपुंसकम् । मृदु पचति । प्रातः कमनीयम् । इति तत्पुरुषः ॥३॥

अथ बहुव्रीहिसमासः ॥४॥

१७६ । शेषो बहुव्रीहिः २।२।२३। अधिकारोऽयं प्राग्द्वन्द्वात् ।

१७७ । अनेकमन्यपदार्थे २।२।२४। अनेकं प्रथमान्तमन्यस्य पदस्यार्थे वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः ।

१७८ । सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ २।२।३५। सप्तम्यन्तं

नपुंसक लिङ्ग दोनों होते हैं।

एवमिति—इसी प्रकार ध्वज, तीर्थ, शरीर, मण्ड, पीयूष, देह, अंकुश, पात्र, सूत्र, आदि शब्द दोनों लिङ्गों में होते हैं।

टिप्पणी – यहाँ समस्त पदों के लिङ्ग निर्देश के प्रकरण में अप्रवर्तित गए के कुछ शब्दों का लिङ्ग निर्देश कर दिया गया है। इनका समास प्रकरण में स्थान नहीं है।

सामान्य इति—जहाँ लिङ्ग विशेष का भान नहीं होता, वह सामान्य है। सामान्य अर्थ मे नपुंसक लिङ्ग होता है, जैसे 'मृदु पचति' मे 'मृदु' शब्द नपुंसक लिङ्ग है। इसी प्रकार 'प्रातः कमनीयम्, यहाँ 'कमनीयम्' में सामान्य अर्थ मे नपुंसक लिङ्ग है। इति तत्पुरुषः।

अथ बहुव्रीहिः ।।१७६ शेष इति—द्वन्द्व से पूर्व तक यह (बहुव्रीहि का) अधिकार है। शेष समास की बहुव्रीहि संज्ञा होती है। शेष का अर्थ है कहे हुए से बचा हुआ—'उक्तादन्यः शेषः'।

१७७. अनेकम् इति—अन्यपद के अर्थ में विद्यमान अनेक प्रथमान्त पदों का विकल्प से समास होता है और वह बहुव्रीहि समास कहलाता है।

१७८. सप्तमीति—सप्तम्यन्त और विशेषण का बहुव्रीहि समास में पूर्व प्रयोग होता है।

विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात्। अत एव ज्ञापकाद्व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः।

१७६। हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ६।३।६। हलन्ताद् अदन्ताच्च सप्तम्या अलुक्। कण्ठेकालः।

अतएवेति—उपर्युक्त सूत्र में सप्तम्यन्त का बहुव्रीहि समास में पूर्वप्रयोग कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि भिन्न विभक्ति वाले पदों का भी बहुव्रीहि समास होता है; इसी को व्यधिकरण बहुव्रीहि समास कहते हैं। जहां सभी प्रथमान्त पदों का समास होता है, वह समानाधिकरण बहुव्रीहि कहलाता है। इस प्रकार बहुव्रीहि समास दो प्रकार का होता है—(१) समानाधिकरण बहुव्रीहि (२) व्यधिकरण बहुव्रीहि। (१) विग्रह वाक्य में समानाधिकरण बहुव्रीहि के पद प्रथमा विभक्ति में रहते हैं जैसे प्राप्तम् उदकं यं सः 'प्राप्तोदकः' यहाँ 'प्राप्तम्' तथा 'उदकम्' दोनों प्रथमान्त हैं। यहाँ बहुव्रीहि द्वितीयार्थ में हुआ है, ('द्वितीयार्थे बहुव्रीहिः') जिसे 'यम्' शब्द द्वारा विग्रह में प्रकट किया जाता है। इसी प्रकार प्रथमा को छोड़कर अन्य सभी विभक्तियों के अर्थ में बहुव्रीहि समास होता है। (२) व्यधिकरण बहुव्रीहि का विग्रह में एक पद प्रथमान्त होता है और दूसरा षष्ठी या सप्तमी विभक्ति में, कण्ठे कालः यस्य' (कण्ठेकालः) आदि।

१७६. हलदन्ताद् इति—हलन्त तथा अकारान्त शब्द से परे वाली सप्तमी का लुक् (लोप) नहीं होता, संज्ञा के विषय में।

कण्ठेकालः—कण्ठे कालः यस्य सः (कण्ठ में है काल—काला चिह्न या विष–जिसके ऐसा, नीलकण्ठ महादेव) इस विग्रह में उपर्युक्त शासन से व्यधिकरण बहुव्रीहि समास होता है। 'सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ' से कण्ठे (सप्तम्यन्त) का पूर्व प्रयोग हो जाता है तथा उपर्युक्त नियम के अनुसार सप्तमी का लुक् नहीं होता। इस प्रकार प्रथमा के एक वचन में 'कण्ठेकालः' रूप होता है।

कण्ठेकालः—व्यधिकरण बहुव्रीहि का उदाहरण है। समानाधिकरण बहुव्रीहि के द्वितीयार्थ से लेकर सप्तम्यर्थ तक के उदाहरण क्रमशः नीचे दिये

प्राप्तमुदकं यं स प्राप्तोदको ग्रामः। ऊढरथोऽनड्वान्। उपहृतपशुरुद्रः। उद्धृतौदना स्थाली। पीताम्बरो हरिः। वीरपुरुषको ग्रामः। ❀ (वा)

प्राप्तोदको ग्रामः—'प्राप्तम् उदकं यं सः' (प्राप्त हुआ है अर्थात् पहुँच गया है जल जिसको ऐसा ग्राम)—इस विग्रह में द्वितीया विभक्ति के अर्थ में प्राप्त तथा उदक इन दो प्रथमान्त शब्दों का बहुव्रीहि[1] समास होता है निष्ठान्त 'प्राप्त'[2] शब्द का पूर्व प्रयोग होकर प्राप्तोदक शब्द बनता है। उससे 'ग्राम' (विशेष्य) के अनुसार पुंल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन में प्राप्तोदकः रूप होता है।

टिप्पणी—बहुव्रीहि समास प्रायः विशेषण होता है और उसमें लिङ्ग वचन आदि विशेष्य के अनुसार होते हैं।

ऊढरथोऽनड्वान्—'ऊढो रथो येन सः' (चलाया है रथ जिसने, ऐसा बैल)—इस विग्रह में तृतीया विभक्ति के अर्थ में ऊढ तथा रथ इन प्रथमान्त पदों का बहुव्रीहि समास होता है।

उपहृतपशुः रुद्रः—'उपहृतः पशुः यस्मै सः' (उपहार किया गया है पशु जिसके लिये, ऐसा रुद्र)—इस विग्रह में चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में उपहृत तथा पशु इन प्रथमान्त पदों का बहुव्रीहि समास होता है।

उद्धृतौदना स्थाली—'उद्धृतम् ओदनं यस्याः सा' (निकाल लिया है भात जिससे ऐसी थाली या देगची)—इस विग्रह में पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में बहुव्रीहि समास होता है।

पीताम्बरो हरिः—'पीतम् अम्बरं यस्य सः' (पीला है वस्त्र जिसका, ऐसा हरिः)—इस विग्रह में षष्ठी विभक्ति के अर्थ में बहुव्रीहि समास होता है।

वीरपुरुषको ग्रामः—'वीराः पुरुषाः यस्मिन् सः' (वीर पुरुष हैं जिसमें, ऐसा ग्राम)—इस विग्रह में सप्तमी विभक्ति के अर्थ में बहुव्रीहि समास होता है। यहाँ 'कप्' (क) समासान्त प्रत्यय है।

१. 'अनेकमन्यपदार्थे' २।२।२४॥
२. 'निष्ठा' २।२।३६॥ इस सूत्र से क्त-प्रत्ययान्त का पूर्व प्रयोग होता है।

प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः। प्रपतितपर्णः, प्रपर्णः।
* (वा) नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः॥ अविद्यमानपुत्रः, अपुत्रः।

१८०। स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु ६।३।३४।

प्रादिभ्य इति (वा)—प्रादि से परे जो धातु से बना हुआ शब्द है, तदन्त का दूसरे पद के साथ बहुव्रीहि समास होता है और पूर्व भाग में जो उत्तरपद (अर्थात् धातुज शब्द) होता है उसका विकल्प से लोप होता है।

प्रपतितपर्णः, प्रपर्णः—प्रपतितानि पर्णानि यस्मात् सः (गिरगये हैं पत्ते जिससे ऐसा)। यह विग्रह है—यहाँ 'प्र' से परे धातुज शब्द 'पतित' है। तदन्त 'प्रपतित' शब्द है। इसका 'पर्ण' शब्द के साथ समास होता है। जब पतित शब्द (जो प्रपतित में उत्तरपद है) का लोप हो जाता है तो 'प्रपर्णः' अन्यथा प्रपतितपर्णः' इस प्रकार दो रूप हो जाते हैं।

नञ इति (वा)—नञ् से परे जो विद्यमानता (अस्ति) अर्थ वाला पद, तदन्त का अन्य पद के साथ बहुव्रीहि समास होता है और विद्यमानता अर्थ-वाचक का विकल्प से लोप हो जाता है।

अविद्यमानपुत्रः, अपुत्र—'अविद्यमानः पुत्रो यस्य सः' (नहीं है पुत्र जिसके ऐसा)—यह विग्रह है। यहाँ नञ् से परे अस्त्यर्थवाचक 'विद्यमान' शब्द है। अविद्यमान शब्द का पुत्र के साथ बहुव्रीहि समास होता है। जब विद्यमान शब्द का लोप हो जाता है तो 'अपुत्र' अन्यथा 'अविद्यमानपुत्र' इस प्रकार दो रूप बनते हैं।

८०. स्त्रियाः इति—सूत्र में स्थित 'भाषितपुंस्कादनूङ्' एक समस्त पद है। जिसका अर्थ है—भाषितपुंस्क शब्द से परे जहाँ ऊङ् प्रत्यय नहीं है। यहाँ 'भाषितपुंस्कात्' शब्द में पञ्चमी विभक्ति का निपातन से लोप (लुक्) नहीं हुआ किन्तु 'अनूङ्' शब्द में षष्ठी विभक्ति होनी चाहिये थी उसका निपातन से ही लोप हो गया है। (यह समस्त पद 'स्त्रियाः' का विशेषण है)।

भाषितपुंस्कादनूङ्। ऊङोऽभावोऽस्यामिति बहुव्रीहिर्निपातनात्पञ्चम्या अलुक् षष्ठ्याश्च लुक्। तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तपुंस्कं तस्मात् पर ऊङोऽभावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकशब्दस्य पुंवाचकस्येव रूपं स्यात् समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे न तु पूरण्यां प्रियादौ च परतः। गोस्त्रियोरिति ह्रस्वः। चित्रगुः। रूपवद्भार्यः।

'भाषितपुंस्कम्' शब्द का अर्थ है—'उक्तपुंस्कम्' अथवा तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यद् उक्तपुंस्कम्। भाषितपुंस्क वे शब्द हैं जिनका प्रयोग पुंलिङ्ग तथा अन्य लिङ्ग (स्त्रीलिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग) में भी होता है और प्रवृत्तिनिमित्त भी दोनों लिङ्गों में समान होता है। प्रवृत्तिनिमित्त का अर्थ है—प्रयोग का कारण अर्थात् जो शब्द समान निमित्त से पुंलिङ्ग तथा अन्य लिङ्ग में प्रयुक्त किया जाता है वह 'भाषितपुंस्क' कहलाता है, जैसे 'चित्रा' शब्द है। यह चित्रत्व के कारण पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है।

सूत्र का अर्थ—प्रवृत्तिनिमित्त समान होने पर जो शब्द उक्तपुंस्क है और उससे परे ऊङ् प्रत्यय नहीं है, ऐसे स्त्रीवाचक शब्द का पुंलिङ्गवाचक के समान रूप हो जाता है, समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे होने पर, किन्तु पूरणी संख्या (प्रथमा आदि) और प्रिया आदि शब्द परे होने पर नहीं।

चित्रगुः—'चित्रा गावो यस्य' (चित्रा हैं गाय जिसकी)—इस विग्रह में षष्ठी विभक्ति के अर्थ में बहुव्रीहि समास[1] होता है। चित्रा + गो, इस दशा में समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग गो शब्द परे होने पर उक्तपुंस्क सूत्र से चित्रा को पुंवद्भाव होकर 'चित्र' हो जाता है तथा गो के ओ को 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से ह्रस्व (उ) होकर 'चित्रगु' शब्द बनता है।

रूपवद्भार्यः—'रूपवती भार्या यस्य' (रूपवती है स्त्री जिसकी)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है। 'रूपवती' शब्द भाषितपुंस्क है। यहाँ समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग 'भार्या' शब्द उत्तरपद है अतः पुंवद्भाव होकर

---

१. अनेकमन्यपदार्थे २।२।२४।

अनूङ् किम् ? वामोरूभार्यः । पूरण्यां तु—

१८१ . अप्पूरणीप्रमाण्योः ५।४।११६। पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत्स्त्री-लिङ्गं तदन्तात्प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप् स्यात् । कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । स्त्री प्रमाणी यस्य सः स्त्रीप्रमाणः । अप्रियादिषु किम् ? कल्याणीप्रिय इत्यादि ।

रूपवत्' हो जाता है तथा भार्या के आ को 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से ह्रस्व होता है । इस प्रकार 'रूपवद्भार्य' शब्द बनता है ।

अनूङ् किमिति — सूत्र में 'अनूङ्' क्यों कहा ? इसलिये कि जिस शब्द से परे 'ऊङ्' प्रत्यय होता है उसे पुंवद्भाव नहीं होता, अतः 'वामोरूभार्यः' में 'वामोरू' शब्द के स्थान पर 'वामोरु' नहीं होता । यहाँ वामोरू शब्द में (वाम + ऊरु + ऊङ्) ऊङ् प्रत्यय हुआ है ।

पूरणी शब्द परे होने पर तो —

१८१. अप् इति — पूरणार्थक प्रत्ययान्त जो स्त्रीलिङ्ग शब्द तदन्त तथा प्रमाणी शब्दान्त बहुव्रीहि से समास में अप् प्रत्यय होता है ।

कल्याणीपञ्चमा रात्रयः — 'कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः' [कल्याणमय है पाँचवी (रात्रि) जिन रात्रियों में] — इस विग्रह में अन्यपदार्थ में बहुव्रीहि समास होता है । यहाँ उत्तरपद 'पञ्चमी' शब्द पूरणी शब्द है अतः 'स्त्रियाः पुंवद्०' सूत्र से 'अपूरणी' निषेध होने से पुंवद्भाव नहीं होता । उपर्युक्त सूत्र से समासान्त अप् प्रत्यय होकर अन्त में ई का लोप (यस्येति च) हो जाता है । 'कल्याणीपञ्चम' शब्द से टाप् होकर प्रथमा बहु० में 'कल्याणीपञ्चमाः' रूप होता है ।

स्त्रीप्रमाणः — 'स्त्री प्रमाणी यस्य' (स्त्री है प्रमाण जिसका) — इस विग्रह के अन्यपदार्थ में बहुव्रीहि समास होता है । उपर्युक्त सूत्रानुसार समासान्त 'अप्' प्रत्यय होकर 'ई' का लोप हो जाता है तथा प्रथमा एकवचन में 'स्त्रीप्रमाणः' रूप होता है ।

---

१. स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्० ६।३।३४।

१८२। बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् ५।४।११३। स्वाङ्गवाचिसक्थ्यक्ष्यन्ताद् बहुव्रीहेः षच् स्यात्। दीर्घसक्थः। जलजाक्षी। स्वाङ्गात्किम्? दीर्घसक्थि शकटम्। स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः। 'अक्ष्णोऽदर्शनाद्' ५।४।७६। इति वक्ष्यमाणोऽच्।

अप्रियादिष्विति—'स्त्रियाः पुंवद्भावित०' आदि सूत्र में 'अप्रियादिषु' अर्थात् 'प्रिया' आदि शब्द परे होने पर पूर्वपद को पुंवद्भाव नहीं होता, यह क्यों कहा? इसलिये कि 'कल्याणीप्रिय' (कल्याणी प्रिया यस्य सः)—यहाँ प्रिया शब्द परे होने पर 'कल्याणी' शब्द को पुंवद्भाव नहीं होता।

१८२. बहुव्रीहाविति—जिसके अन्त में स्वाङ्गवाची सक्थि और अक्षि शब्द हों ऐसे बहुव्रीहि से समासान्त षच् प्रत्यय होता है। (षच् में 'अ' शेष रहता है, षकार और चकार इत्संज्ञक हैं; 'षित्' होने से स्त्रीलिङ्ग में 'षिद्गौरादिभ्यश्च' ४।१।४१ से ङीष् प्रत्यय हो जाता है।)

दीर्घसक्थ.—दीर्घे सक्थिनी यस्य सः (बड़े हैं ऊरु जिसके)—इस विग्रह में षष्ठ्यर्थ में बहुव्रीहि समास होता है। उपर्युक्त सूत्र से समासान्त षच् (अ) प्रत्यय होकर 'दीर्घ+सक्थि+अ' इस अवस्था में 'यस्येति च' से 'इ' का लोप होकर 'दीर्घसक्थः' रूप होता है।

जलजाक्षी—जलजे इव अक्षिणी यस्याः सा (कमल के समान हैं आँखें जिसकी)—इस विग्रह में षष्ठ्यर्थ में बहुव्रीहि समास होता है। समासान्त षच् प्रत्यय तथा 'इ' का लोप होकर 'जलजाक्ष' शब्द बनता है। इससे स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'जलजाक्षी' बन जाता है।

स्वाङ्गात् किमिति—स्वाङ्ग शब्द से शरीर का अवयव लिया जाता है। अतएव 'दीर्घसक्थि शकटम्' (लम्बी सक्थि वाली गाड़ी) यहाँ 'सक्थि' शरीर का अङ्ग नहीं अपितु गाड़ी की लम्बी पतली विशेष लकड़ी का नाम है अतः समासान्त षच् नहीं होता। इसी प्रकार—

स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः (बड़ी आँखों वाली बाँस की लाठी)—यहाँ भी 'स्थूलाक्षा' में षच् समासान्त नहीं होता अपितु 'अक्ष्णोऽदर्शनात्' २०१ सूत्र से

१८३। द्वित्रिभ्यां ष: मूर्ध्नः ५।४।११५ आभ्यां मूर्ध्नः षः स्याद् बहुव्रीहौ। द्विमूर्धः। त्रिमूर्धः।

१८४। अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः ५।४।११७। आभ्यां लोम्नोऽप् स्याद् बहुव्रीहौ। अन्तर्लोमः। बहिर्लोमः।

१८५। पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ५।४।१३८। हस्त्यादि

'अच्' समासान्त होता है। इसी से 'स्थूलाक्ष' बनता है 'स्थूलाक्षी' नहीं।

टिप्पणी – जहाँ 'षच्' समासान्त होता है वहाँ 'ङीष्' स्त्री प्रत्यय होता है किन्तु जहाँ 'अच्' समासान्त होता है वहाँ 'टाप्' स्त्रीप्रत्यय होता है।

१८३. द्वित्रिभ्याम् इति—द्वि और त्रि शब्दों से परे मूर्धन् शब्द को, समासान्त 'ष' प्रत्यय होता है, बहुव्रीहि समास में। 'ष' में 'अ' शेष रहता है।

द्विमूर्ध—द्वौ मूर्धानौ यस्य सः (दो सिर हैं जिसके)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है। उपर्युक्त सूत्र से समासान्त 'ष' प्रत्यय होकर 'द्वि + मूर्धन् + 'अ' इस दशा में 'अन्' का लोप (नस्तद्धिते) होकर 'द्विमूर्ध:' शब्द बनता है। इसी प्रकार 'त्रिमूर्ध:' (त्रयो मूर्धानो यस्य=तीन हैं सिर जिसके।)

१८४. अन्तरिति—अन्तर् और बहिर् शब्द से परे लोमन् शब्द को समासान्त 'अप्' प्रत्यय होता है, बहुव्रीहि समास में।

अन्तर्लोमः—अन्तर् लोमानि यस्य (भीतर हैं लोम जिसके)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है तथा उपर्युक्त सूत्र से समासान्त 'अप्' प्रत्यय होकर 'अन्तर्+लोमन्+अप् इसमें 'अन्' का लोप (नस्तद्धिते) हो जाता है फिर 'अन्तर्लोम' से प्र० एक० में अन्तर्लोमः रूप बनता है। इसी प्रकार 'बहिर्लोमः बहिर् लोमानि यस्य (बाहर हैं लोम जिसके)।

१८५. पादस्येति—बहुव्रीहि समास में 'हस्ति' आदि से भिन्न उपमान से परे वाले पाद शब्द के अन्त का लोप (समासान्त) हो जाता है।

टिप्पणी—यह लोप समासान्त विधि के अन्तर्गत है अतः समासान्त 'अप्' इत्यादि प्रत्ययों के समान समझा जाता है और इनके होने पर समा-

वर्जितादुपमानात्परस्य पादशब्दस्य लोपः स्याद् बहुव्रीहौ। व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात्। अहस्त्यादिभ्यः किम्? हस्तिपादः। कुसूलपादः।

१८६। सङ्ख्यासुपूर्वस्य ५।४।१४०। पादस्य लोपः स्यात् समासान्तो बहुव्रीहौ। द्विपात्। सुपात्।

१८७। उद्विभ्यां काकुदस्य ५।४।१४८। लोपः स्यात्। उत्काकुत्। विकाकुत्।

सान्त 'कप्' प्रत्यय नहीं होता।

व्याघ्रपात्—व्याघ्रस्येव पादौ यस्य (बाघ के समान हैं पैर जिसके)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है और उपर्युक्त सूत्र से पाद के अन्त्य अकार का लोप (समासान्त) होने पर व्याघ्रपाद्→ व्याघ्रपात् शब्द बनता है।

अहस्त्यादिभ्य इति—हस्ती आदि से भिन्न उपमान से परे क्यों कहा? इसलिये कि हस्तिपादः हस्तिन इव पादौ यस्य' (हाथी के समान हैं पैर जिसके) तथा कुसूलपादः, 'कुसूलस्येव पादौ यस्य' (कुसूल के समान हैं पैर जिसके) इत्यादि में अन्त का लोप नहीं होता।

१८६. संख्येति—जिसके पहले संख्यावाचा या सु शब्द हों, ऐसे पाद शब्द के अन्त का लोप (समासान्त) होता है, बहुव्रीहि समास में।

द्विपात्—द्वौ पादौ यस्य (दो पैर हैं जिसके)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है। संख्या पूर्व होने के कारण पाद के अन्त्य अकार का लोप (समासान्त) हो जाता है तथा द्विपाद्, द्विपात् रूप बनता है। इसी प्रकार सुपात् शोभनौ पादौ यस्य (सुन्दर पैर हैं जिसके)।

१८७. उद्विभ्यां काकुदस्य—उद् और वि से आगे वाले काकुद शब्द के अन्त का (समासान्त) लोप होता है, बहुव्रीहि में। उत्काकुत्—उद्गतं काकुदं यस्य (उठ गया है तालु जिसका)–इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होकर उत्+ काकुद इस दशा में उपर्युक्त सूत्र से 'अकार' का लोप समासान्त' हो जाता है

१८८ । पूर्णाद्विभाषा ।५।४।१४९। पूर्णकाकुत् । पूर्णकाकुदः ।

१८९ । सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः ।५।४।१५०। सुदुर्भ्यां हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते । सुहृन्मित्रम् । दुर्हृदमित्रः ।

१९० । उरः प्रभृतिभ्यः कप् ।५।४।१५१ ।

१९१ । सोऽपदादौ ।८।३।३८। पाशकल्पककाम्येषु विसर्गस्य सः

तथा उत्काकुद्→उत्काकुत् शब्द बनता है। इसी प्रकार विकाकुत्, (विगत) काकुदं यस्य, विगत हुआ है तालु जिसका)।

१८८, पूर्णादिति—पूर्ण शब्द से परे काकुद शब्द का समासान्त लोप विकल्प से होता है, बहुव्रीहि समास में।

पूर्णकाकुत, पूर्णकाकुदः—पूर्णं काकुदं यस्य (पूर्ण है तालु जिसका)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है। जब उपर्युक्त सूत्र से अन्त का लोप होता है तो पूर्णकाकुत्, जब लोप नहीं होता तो पूर्णकाकुदः रूप बनते हैं।

१८९. सुहृद इति—बहुव्रीहि समास में सु और दुर् से परे हृदय शब्द का निपातन द्वारा (समासान्त) 'हृद्' हो जाता है क्रमशः मित्र और शत्रु अर्थ में।

सुहृद्—शोभनं हृदयं यस्य सः (अच्छा है हृदय जिसका वह, मित्र)=इस विग्रह में 'सु' का हृदय के साथ बहुव्रीहि समास होता है तथा उपर्युक्त सूत्र में निपातन से हृदय को 'हृद्' आदेश हो जाता है। इसी प्रकार "दुष्टं हृदयं यस्य"—दुष्ट है हृदय जिसका, शत्रु (अमित्र) इस अर्थ में 'दुर्हृद्' शब्द बनता है।

१९०. उर इति—उरस् आदि शब्दों से समासान्त कप् प्रत्यय होता है, बहुव्रीहि में। कप् में प् का लोप हो जाता है क शेष रहता है।

१९१. स इति—पाश, कल्प, क और काम्य परे होने पर विसर्ग को स् हो जाता है।

१९२ । कस्कादिषु च । ८।३।४८। एभ्यिण उत्तरस्य विसर्ग
षः स्यादन्यत्र तु सः । इति सः, व्यूढोरस्कः ।

१९३ । इणः षः ८।३।३९। इण उत्तरस्य विसर्गस्य
पाशकल्पककाम्येषु परेषु । प्रियसर्पिष्कः ।

१९४ । निष्ठा २।२।३६। निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात

---

१९२. कस्कादिष्विति—कस्क इत्यादि (गण पठित) शब्दों मे इ
(अर्थात् इ, उ, ए, ऐ, ओ आदि) से परे वाले विसर्ग को ष् (षकार) हो
है, अन्य को स् (सकार) ।

व्यूढोरस्कः—व्यूढम् उरो यस्य (विशाल है वक्षःस्थल जिसका)—इस वि
में (व्यूढ+उरस्) बहुव्रीहि समास होता है । पूर्व सूत्र से समासान्त कप् प्र
हो जाता है । 'व्यूढ+उरस्'+क' इस दशा में स् को विसर्ग[1] हो जाते
फिर विसर्ग को स्[2] होता है ।

१९३. इण इति—इण् से परे वाले विसर्ग को ष् होता है—पाश, क
क और काम्य परे होने पर—

प्रियसर्पिष्कः—प्रियं सर्पिः यस्य (घृत है प्रिय जिसको)—इस विग्रह
व्यूढोरस्कः के समान समस्त कार्य होता है । किन्तु यहाँ विसर्ग इकार से
है अतः विसर्ग को ष्[3] होता है ।

१९४. निष्ठेति—बहुव्रीहि समास में निष्ठा प्रत्ययान्त शब्द का प
प्रयोग होता है ।

टिप्पणी—क्त और क्तवतु प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा है (क्तक्तवतू नि
अतः पठितः, पठितवान् आदि शब्द निष्ठान्त हैं ।

---

१. खरवसानयोर्विसर्जनीयः ।८।३।१५॥
२. सोऽपदादौ ८।३।३८। से स् होता है (तत्त्वबोधिनी) फिर 'कस्का
च' का यहाँ क्या प्रयोजन है ? यह विचारणीय है ।
३. इणः षः ८।३।३९॥

युक्तयोगः ।

१९५ । शेषाद्विभाषा ।५।४।१५४। अनुक्तसमासान्ताद् बहुव्रीहेः कप् वा स्यात् । महायशस्कः । महायशाः । इति बहुव्रीहिः ॥४॥

अथ द्वन्द्वसमासः ॥५॥

१९६ । चार्थे द्वन्द्वः २।२।२९। अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्तमानं वा समस्यते सद्वन्द्वः ।

युक्तयोगः—युक्तो योगो येन सः (लगाया है योग जिसने)—इस विग्रह में युक्त तथा योग शब्द का बहुव्रीहि समास होता है। उपर्युक्त सूत्र के अनुसार निष्ठान्त 'युक्त' शब्द का पूर्व प्रयोग हो जाता है।

शेषाद् इति—जिस बहुव्रीहि समास से (कोई) समासान्त न कहा गया हो उससे समासान्त कप् प्रत्यय विकल्प से होता है।

टिप्पणी—शेष का अर्थ है कहने से बचा हुआ। यहाँ यही शेष है जिस बहुव्रीहि से कोई समासान्त नहीं कहा गया है।

महायशस्कः, महायशाः—महद् यशो यस्य (महान् यश है जिसका)—इस विग्रह में महत् शब्द का यशस् के साथ बहुव्रीहि समास होता है। 'महत्+यशस्' इस दशा में 'महत्' शब्द के 'त्' को 'आ' हो जाता है[1]। तथा उपर्युक्त सूत्र के अनुसार विकल्प से समासान्त वैदिक 'कप्' होकर 'महायशस् क→महायशस्क', कप् प्रत्यय न होने पर महायशस्+सु' (प्र० एकवचन में) सु लोप तथा स् से परे वाले अ को दीर्घ होकर स् को विसर्ग हो जाते हैं और महायशाः रूप होता है।

अथ द्वन्द्वः—१९६. चार्थे इति—च (और) के अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्तों का (विकल्प से) समास होता है और उसकी द्वन्द्व संज्ञा होती है।

---

१. आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६।३।४६।

समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः। तत्र 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' इति परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः। 'भिक्षामट गां चानय' इति अन्यतरस्यानुषङ्गिकत्वेनान्वयोऽन्वाचयः। अनयोरसामर्थ्यात्समासो न।

समुच्चयेति—समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार—ये चार 'च' के अर्थ हैं। इनमें—(प्रत्येक का लक्षण यह है)

समुच्चय—परस्पर-निरपेक्ष अनेक पदार्थों का एक में अन्वय होना समुच्चय कहलाता है, जैसे—ईश्वर और गुरु की सेवा करो।

यहाँ ईश्वर और गुरु पदार्थों का भजस्व (भजन क्रिया) में स्वतन्त्र रूप से अन्वय होता है। 'ईश्वरं भजस्व', 'गुरुं भजस्व' इस प्रकार अलग अलग दोनों का क्रिया में अन्वय होता है। ये दोनों पदार्थ अन्वय में एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते। इसी हेतु दोनों परस्पर निरपेक्ष हैं।

अन्वाचय—जब (च के अर्थ द्वारा जुड़ने वाले पदार्थों में से) एक का गौण रूप से (आनुषङ्गिकत्वेन) अन्वय होता है, तो उसे अन्वाचय कहते हैं, जैसे 'भिक्षामट गां चानय'—भिक्षा को जाओ और गाय भी लाओ।

यहाँ च से दो कार्य जुड़े हैं—एक भिक्षा के लिये घूमना दूसरा गाय लाना। इनमें भिक्षा के लिये घूमना (भिक्षाटन) प्रधान कार्य है। यदि भिक्षाटन करते हुए गाय मिल जाये तो उसे भी लेते आना' इस तात्पर्य से 'गाय लाना' आनुषङ्गिक या गौण कार्य है, अतः यहाँ च 'अन्वाचय' अर्थ को प्रकट करता है।

अनयोरिति—इन दोनों (समुच्चय और अन्वाचय) में सामर्थ्य न होने के कारण समास नहीं होता।

विशेष—जहाँ अनेक पदार्थों का एक दूसरे के प्रति आकांक्षा होने से परस्पर सम्बन्ध होता है उसे सामर्थ्य ( ) कहते हैं[1], वहीं समास होता

---

१. देखिये सिद्धान्त कौमुदी, तत्त्वबोधिनी टीका, समर्थः पदविधिः।

धवखदिरौ छिन्धि इति मिलितानामन्वय इतरेतरयोगः। 'संज्ञापरिभाषम्' इति. समूहः समाहारः।

है ('समर्थः पदविधिः' २।१।१)। समुच्चय में दोनों पदार्थ निरपेक्ष हैं इसलिये उनमें सामर्थ्य नहीं। अन्वाचय में एक पदार्थ गौण होता है इसलिये वे परस्पर आकांक्षा नहीं रखते अतएव वहाँ भी सामर्थ्य नहीं। इसीलिये इन दोनो अर्थों में समास नहीं होता।

इतरेतर योग—आपस में मिले हुए (इतर का इतर से योग) पदार्थों का एक में अन्वय होना इतरेतर योग कहलाता है, जसे धवखदिरौ छिन्धि—धव और खदिर को काटो।

यहाँ धव और खदिर का एक साथ मिलकर 'काटना' (छेदन) क्रिया में अन्वय होता है। किन्तु दोनों का अपना अलग-अलग 'व्यक्तित्व' रहता है यही द्विवचन से प्रकट होता है।

समाहार—समाहार का अर्थ है समूह। जैसे; संज्ञापरिभाषम्—संज्ञा और परिभाषा का समूह।

यहाँ संज्ञा और परिभाषा को समुदाय रूप में एक मान लिया जाता है, इनका निजी व्यक्तित्व समुदाय में तिरोहित हो जाता है और समुदाय का ही अन्य अर्थ के साथ अन्वय होता है।

विशेष—इतरेतरयोग और समाहार इन दोनों (च के अर्थों) में सामर्थ्य होने के कारण द्वन्द्व समास होता है। इसी हेतु द्वन्द्व समास दो प्रकार का माना जाता है— १. इतरेतर द्वन्द्व। २. समाहार द्वन्द्व। इनके विग्रहादि निम्न प्रकार होते हैं—

धवखदिरौ—धवश्च खदिरश्च (धव और खदिर)—इस विग्रह में धव और खदिर शब्दों का इतरेतर योग में द्वन्द्व समास हो जाता है। 'धव सु +खदिर सु' यहाँ विभक्ति का लोप हो जाने पर अल्पाच्तरम् २।२।३४ से 'धव' का पूर्वनिपात होकर 'धवखदिर' समस्तपद बनता है। धव और खदिर दो हैं अतः प्रथमा द्विवचन को 'औ' विभक्ति आने पर धवखदिरौ शब्द बनता है।

१८७ राजदन्तादिषु परम् ।२।२।३१। एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात्। दन्तानां राजा राजदन्तः।※ (वा) धर्मादिष्वनियमः। अर्थधर्मौ धर्मार्थावित्यादि।

टिप्पणी—इतरेतरयोग द्वन्द्व में यदि पदार्थ दो हों तो समास में द्विवचन होता है यदि दो से अधिक हों तो समास में बहुवचन, जैसे—धवश्च खदिरश्च पलाशश्च—धवखदिरपलाशाः।

सज्ञापरिभाषम्—सज्ञा च परिभाषा च तयोः समाहारः (सज्ञा और परिभाषा का समाहार)—इस विग्रह में समाहार अर्थ में द्वन्द्व समास हो जाता है। समाहार द्वन्द्व सदा नपुंसक[1] लिङ्ग और एकवचन में ही होता है। नपुंसक लिङ्ग हो जाने से 'सज्ञा परिभाषा' इस समस्त पद के अन्त को ह्रस्व (आ को अ हो जाता है।[2] तब प्रथमा एकवचन (नपुं०) की अम्' विभक्ति आकर 'सज्ञापरिभाषम्' रूप होता है।

१८७. राजदन्तेति—राजदन्त आदि शब्दों में जिस शब्द का पूर्व प्रयोग प्राप्त हो, उसका परे (आगे) प्रयोग किया जाता है।

राजदन्तः—दन्तानां राजा (दाँतों का राजा)—इस विग्रह में 'षष्ठी' सूत्र से (षष्ठी) तत्पुरुष समास होता है। यहाँ 'दन्त' शब्द का पूर्व प्रयोग प्राप्त है।[3] इस सूत्र के अनुसार 'दन्त' का प्रयोग आगे हो जाता है।

धर्मादि (वा)—धर्म (अर्थ) आदि शब्दों में किसको पहले रखा जाय, इसका नियम नहीं अर्थात् किसी को भी पहले रक्खा जा सकता है।

टिप्पणी—'धर्मादि० इत्यादि 'राजदन्तादि' गणपाठ के अन्तर्गत है। द्वन्द्व समास के प्रकरण में 'धर्मार्थौ' आदि प्रयोगों को दिखलाना अभीष्ट था,

---

१. स नपुंसकम् २।४।२७
२. ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १।२।४७
३. प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् १।२।४३। उपसर्जनं पूर्वम् २।२।३०

(१९८)। द्वन्द्वे घि ।२।२।३२। द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात्। हरिश्च हरश्च हरिहरौ।

(१९९)। अजाद्यदन्तम् ।२।२।३३। इदं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात्। ईशकृष्णौ।

इसीलिए 'राजदन्तादिषु परम्' यह सूत्र यहाँ दिया गया है। 'राजदन्त' शब्द में षष्ठी तत्पुरुष है यह ध्यान देने योग्य है।

अर्थधर्मौ, धर्मार्थौ—अर्थश्च धर्मश्च (अर्थ और धर्म)—इस विग्रह में इतरेतरयोग में द्वन्द्व समास होता है। पूर्व प्रयोग का नियम न होने के कारण दो रूप बनते हैं।

१९८. द्वन्द्व इति—द्वन्द्व समास में घि संज्ञक पद का पूर्व प्रयोग होता है। यहाँ उपसर्जनं पूर्वम् २।२।३० से पूर्व शब्द की अनुवृत्ति होती है।

टिप्पणी—पाणिनि ने घि' एक संज्ञा की है। प्रायः ह्रस्व इकारान्त हरि आदि और उकारान्त गुरु आदि शब्द (सखि शब्द को छोड़कर) घिसंज्ञक होते हैं।[1]

हरिहरौ—हरिश्च हरश्च (हरि और हर)=इस विग्रह में इतरेतर द्वन्द्व समास होता है। हरि (इकारान्त) की 'घि' संज्ञा होने से इसका पूर्व प्रयोग होता है।

१९९. अजादीति=अच् (स्वर) है आदि में जिसके वह अजादि कहलाता है और अत् (अकार) जिसके अन्त में होता है वह अदन्त कहलाता है। ये दोनों एक के ही विशेषण हैं। अर्थात् जिसके आदि में स्वर हो, अन्त में 'अ' हो ऐसा शब्द। द्वन्द्व समास में अजादि और अदन्त पद का पूर्व प्रयोग होता है।

ईशकृष्णौ—ईशश्च कृष्णश्च (ईश और कृष्ण)—इस विग्रह में इतरेतर द्वन्द्व समास होता है। यहाँ 'ईश' शब्द अजादि (अच् है आदि में जिसके)

---

१. देखो पदसंज्ञा १।४।७

२०० । अल्पाच्तरम् २।२।३४। शिवकेशवौ।

२०१। पिता मात्रा १।२।७०। मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते। माता च पिता च पितरौ, मातापितरौ वा।

भोर अकारान्त है अत एव इसका पूर्व प्रयोग होता है।

२००. अल्पाच् इति—'अल्पाच्' का अर्थ है—अल्प (थोड़े) हैं अच् (स्वर) जिसमे। जिस शब्द में थोड़े स्वर होते हैं, उसका द्वन्द्व समास में पूर्व प्रयोग होता है।

शिवकेशवौ—शिवश्च केशवश्च (शिव और केशव)—इस विग्रह में (इतरेतर) द्वन्द्व समास होता है। यहाँ शिव अल्पाच्तर है अतः शिव का पूर्व प्रयोग हो जाता है।

टिप्पणी—'केशव' में तीन (ए, अ, अ) स्वर हैं तथा 'शिव' मे (इ, अ) दो स्वर हैं इसलिये 'शिव' अल्पाच्तर है।

२०१. पितेति—'मातृ' शब्द के साथ कथन होने पर 'पितृ' शब्द विकल्प से शेष रहता है।

पितरौ अथवा मातापितरौ—माता च पिता च (माता और पिता)—इस विग्रह में मातृ और पितृ शब्द का इतरेतर द्वन्द्व समास होता है। उपर्युक्त सूत्र के अनुसार 'पितृ' पद शेष रह जाता है, किन्तु यहाँ पितृ शब्द 'माता और पिता' दोनों के अर्थ को कहता है इसलिये द्विवचन में प्रयोग होता है और 'पितरौ' बनता है।

जब एक शेष नहीं होता तब अधिक पूज्य होने के कारण 'मातृ' का पूर्व प्रयोग होता है—(अभ्यर्हितं च, वार्तिक)। मातृ+पितृ इस दशा मे पूर्वपद 'मातृ' के ऋ को आनङ् होकर (आनङ् ऋतो द्वन्द्वे ६।३।२५) माता पितृ→ प्रथमा द्विवचन में—मातापितरौ।

विशेष—जहाँ एक पद शेष रह जाता है उन समासो को एकशेष कहते हैं। वास्तव में एक शेष कोई पृथक् समास नही, अपि तु 'एकशेषवृत्ति' नाम की भिन्न प्रकार की विधि है। एकशेष विधि में शेष रहने वाला पद चले

२०२ । द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् ।२।४।२। एषां द्वन्द्व एकवत् । पाणिपादम् । मार्दङ्गिकवैणविकम् । रथिकाश्वारोहम् ।

२०३ । द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे ।५।४।१०६। चवर्गान्ताद् दषहान्ताच्च द्वन्द्वाट्टच् स्यात्समाहारे । वाक् च त्वक् च वाक्त्वचम् ।

जाने वाले पद के अर्थ को भी कहता है—यः शिष्यते, स लुप्यमानार्थाभिधायी भवति ।

२०२. द्वन्द्वश्चेति—यहाँ 'अङ्ग' शब्द का अन्वय प्राणि, तूर्य और सेना तीनों के साथ होता है । प्राणी, तूर्य (वाद्य) तथा सेना के अङ्गों के वाचक शब्दों का द्वन्द्व एक वचन मे होता है । यह सूत्र नियमार्थ है । अभिप्राय यह है कि इनका समाहार अर्थ में ही द्वन्द्व समास होता है, इतरेतर योग में नहीं । समाहार एकवचन तथा नपुंसलिङ्ग में होता ही है ।

पाणिपादम्—पाणी च पादौ च (हाथ और पैर)—इस विग्रह में, प्राणी के अङ्गवाची होने से पाणि तथा पाद शब्द का, उपर्युक्त नियम के अनुसार, समाहार द्वन्द्व ही होता है, नपुंसकलिङ्ग एकवचन में 'पाणिपादम्' रूप होता है ।

मार्दङ्गिकवैणविकम्—मार्दङ्गिकश्च वैणविकश्च (मृदङ्ग बजाने वाला और वीणा बजाने वाला)—इस विग्रह में 'तूर्याङ्ग' (वाद्य के अङ्ग) होने के कारण समाहार द्वन्द्व ही होता है तथा नपुं०, एकवचन होता है ।

रथिकाश्वारोहम्—रथिकाश्च अश्वारोहाश्च (रथिक और घुड़सवार)—इस विग्रह में, सेना के अङ्ग होने के कारण समाहार द्वन्द्व ही होता है तथा नपुं०, एकवचन होता है ।

२०३ द्वन्द्वाद् इति—जिस द्वन्द्व समास के अन्त में चवर्ग (चु) द, ष या ह होते हैं, उससे समासान्त टच् प्रत्यय होता है, समाहार में ।

टच् में से ट् और च् चले जाते हैं केवल 'अ' शेष रहता है ।

वाक्त्वचम्—वाक् च त्वक् च तयोः समाहारः (वाणी और त्वचा का समाहार)—इस विग्रह में वाच् और त्वच् का समाहार—अर्थ में द्वन्द्व

त्वक्स्रजम्। शमीदृषदम्। वाक्त्विषम्। छत्रोपानहम्। समाहारे किम्? प्रावृट्शरदौ। इति द्वन्द्वः ॥५॥

समास होता है। पूर्वपद (वाच्) के च् को क् हो जाता है (चोः कुः)। 'वाक्त्वच्' यह चवर्गान्त है, अतः एव समासान्त टच् प्रत्यय होकर 'वाक्त्वच् अ' →वाक्त्वच, नपुं० एकवचन में 'वाक्त्वचम्'।

त्वक्स्रजम्—त्वक् च स्रक् च तयोः समाहारः (त्वचा और माला का समाहार)—इस विग्रह में त्वच् और स्रज् शब्दों का समाहार द्वन्द्व समास होता है। शेष कार्य वाक्त्वचम् के समान।

शमीदृषदम्—शमी च दृषद् च तयोः समाहारः (शमी और पाषाण का समाहार)—इस विग्रह में शमी और दृषद् का समाहार द्वन्द्व समास होता है। अन्त में द् होने से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होकर पहले के समान रूप बनता है।

वाक्त्विषम्—वाक् च त्विट् च तयोः समाहारः (वाणी और प्रभा का समाहार)—इस विग्रह में 'वाच् और त्विष्' शब्दों का समाहार अर्थ में द्वन्द्व समास होता है। अन्त में 'ष्' होने से समासान्त टच् प्रत्यय होकर रूप बनता है।

छत्रोपानहम्—छत्रं चोपानहौ च तेषां समाहारः (छाता और जूतों का समाहार)—इस विग्रह में छत्र और उपानह् शब्दों का समाहार अर्थ में द्वन्द्व समास होता है। अन्त में 'ह्' होने के कारण उपर्युक्त सूत्र से समासान्त टच् प्रत्यय होकर रूप बनता है।

समाहारे किमिति—'समाहार में' ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि इतरेतर द्वन्द्व में समासान्त टच् प्रत्यय नहीं होता। जैसे—

प्रावृट्शरदौ—प्रावृट् च शरच्च (वर्षा और शरद)—इस विग्रह में प्रावृष् और शरद शब्दों का इतरेतरयोग में द्वन्द्व समास होता है, अतः यहाँ समासान्त टच् प्रत्यय नहीं होता। ॥५॥

अथ समासान्ताः ।

२०४ । ऋक् पूरब्धूःपथामानक्षे ५।४।७४। अ अनक्षे इति च्छेदः । ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अप्रत्ययोऽन्तावयवः, अक्षे या धूस्तदन्तस्य तु न । अर्धर्चः । विष्णुपुरम् । विमलापं सरः । राजधुरा । अक्षे तु अक्षधूः । दृढधूरक्षः । सखिपथः । रम्यपथो देशः ।

अथ समासान्ताः । २०४. ऋक्पूरिति—यहाँ समासान्ताः ५।४।६८ से समासान्त शब्द की अनुवृत्ति होती है । सूत्र में स्थित 'मानक्षे' इस पद का अ+अनक्षे यह छेद है । जिस समास के अन्त में ऋक्, पुर, अप्, धुर् या पथिन् शब्द होता है उस समास से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है किन्तु अक्ष (रथचक्र का मध्य भाग) में जो 'धुर्' (धुरी) तदन्त को नहीं होता ।

अर्धर्चः—अर्धम् ऋचः (ऋचा का आधा)—इस विग्रह में तत्पुरुष समास होता है । उपर्युक्त सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है । (पूर्ण सिद्धि पहले दी जा चुकी है) ।

विष्णुपुरम्—विष्णोः पूः (विष्णु की नगरी)—इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है । उपर्युक्त सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय होकर विष्णु+पुर+अ→नपुंसकलिङ्ग के प्रथमा एकवचन में विष्णुपुरम् ।

विमलापं सरः—विमला आपो यत्र (निर्मल है जल जिसमें)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है । उपर्युक्त सूत्र से समासान्त अ प्रत्यय होकर विमल+आप+अ→विमलाप शब्द बनता है । सरस् (नपुं०) शब्द का विशेषण होने से "विमलापं" नपुंसकलिङ्ग एकवचन में होता है ।

राजधुरा—राज्ञः धूः (राज्य का भार)—इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है । उपर्युक्त सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय होकर राजन्+धुर्+अ । न् लोप होकर "राजधुर" । स्त्रीलिङ्ग में टाप् (आ) प्रत्यय (अजाद्यतष्टाप्) होकर राजधुरा शब्द बनता है ।

अक्षे तु इति—अक्ष की धुरी के विषय में प्रयुक्त धुर् शब्द से तो समासान्त 'अ' प्रत्यय नहीं होता अतएव 'अक्षस्य धूः=अक्षधूः' यही रूप बनता है । इसी प्रकार

दृढधूः—दृढा धूर्यस्य (दृढ धुरी है जिसकी)—इस विग्रह में बहुव्रीहि

२०५। अक्ष्णोऽदर्शनात् ५।४।७६। अचक्षुःपर्यायादक्ष्णोऽच् स्यात्समासान्तः। गवामक्षीव गवाक्षः।

२०६। उपसर्गादध्वनः ५।४।८५। प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः।

समास होने पर समासान्त 'अ' प्रत्यय नहीं होता। यहाँ 'धुर्' शब्द अक्ष के विषय में है।

सखिपथः—सख्युः पन्थाः (सखा का मार्ग) इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है। अन्त में 'पथिन्' शब्द होने से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है। 'सखि+पथिन् अ' इस अवस्था में पथिन् के 'इन्' (टि) का (नस्तद्धिते) लोप होकर सखिपथ→सखिपथः रूप बनता है।

रम्यपथो देशः—रम्याः पन्थानो यस्मिन् (रमणीय हैं मार्ग जिसमें)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होता है। समासान्त 'अ' प्रत्यय होकर पहले के समान रूप बनता है।

२०५. अक्ष्ण इति—चक्षुवाची से भिन्न अक्षि शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय होता है।

गवाक्ष.—गवाम् अक्षि इव (गौ की अक्षि जैसी–खिडकी)—इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है। यहाँ अक्षि शब्द चक्षु का पर्याय नहीं, इस लिये उपर्युक्त सूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय हो जाता है। 'गो+अक्षि+अ' इस दशा में इकार का लोप (यस्येति च) होकर गव्+अक्ष्+अ→गवाक्ष रूप बनता है।

टिप्पणी—गवाक्ष शब्द के विग्रह-अर्थ में कुछ मतभेद है। सिद्धान्त कौमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका के अनुसार अक्षि का अर्थ है—छिद्र (गावः किरणाः, अक्षि शब्दो रन्ध्रवाची) इसलिये यहाँ यह चक्षु का पर्याय नहीं। बालमनोरमा के अनुसार यहाँ अक्षि शब्द अक्षिसदृश में लाक्षणिक है अतः यह चक्षु का वाचक नहीं तथा अच् प्रत्यय हो जाता है।

२०६. उपसर्गादिति—उपसर्ग से परे अध्वन् शब्द को समासान्त 'अच्' प्रत्यय होता है।

प्राध्वः. → (मार्ग पर गया हुआ)—इस विग्रह में

२०७। न पूजनात् ५।४।६९। पूजनार्थात् परेभ्यः समासान्ता न स्युः ॐ (वा) स्वतिभ्यामेव। सुराजा । अतिराजा। इति समासान्ताः॥

'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इस (वार्तिक) से प्रादि समास (तत्पुरुष) होता है। उपर्युक्त सूत्र के अनुसार समासान्त 'अच्' प्रत्यय होकर 'प्र+अध्वन्+अ' इस दशा में 'अन्' (टि) का लोप हो जाता है और 'प्राध्वः' शब्द बनता है।

२०७. न पूजनात् इति—प्रशंसार्थक शब्दों से परे वाले शब्द से समासान्त प्रत्यय नहीं होते। (सु और अति शब्दों से परे वाले पदों से ही यह समासान्त प्रत्ययों का निषेध होता है।)

सुराजा—शोभनो राजा (अच्छा राजा)—इस विग्रह में 'कुगतिप्रादयः' से प्रादि (तत्पुरुष) समास होता है। यहाँ 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' से समासान्त 'टच्' प्रत्यय प्राप्त हुआ उसका उपर्युक्त सूत्र से निषेध हो जाने पर सुराजन्→ (प्र०, एक०) 'सुराजा' रूप बनता है।

अतिराजा—पूज्यो राजा (पूज्य राजा) इस विग्रह में प्रादि (तत्पुरुष) समास होता है। यहाँ भी समासान्त टच् प्रत्यय का निषेध हो जाता है।

इति समासप्रकरणम्

अथ कृदन्तप्रकरणम्

अथ कृदन्तकृत्यप्रक्रियाप्रकरणम् ॥१॥

२०८ । धातोः ३।१।९१

आतृतीयाध्यायसमाप्त्यन्तं ये प्रत्ययास्ते धातोः परे स्युः । कृदतिङिति कृत्संज्ञा ।

२०९ । वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ३।१।९४

अस्मिन्धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात् स्त्र्यधिकारोक्तं विना ।

अथ कृदन्त कृत्यप्रक्रिया । २०८ धातो.—यह अधिकार सूत्र है । यहाँ (३।१।९१) से अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय की समाप्ति पर्यन्त जो प्रत्यय कहे गये हैं, वे धातु से परे होते हैं ।

कृदिति—कृदतिङ् ३।१।९३। इस सूत्र से (तिङ् भिन्न) इन प्रत्ययों की कृत् संज्ञा होती है ।

२०९. वासरूप इति—इस धातु के अधिकार में असरूप अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग प्रत्यय का विकल्प से बाधक होता है, 'स्त्रियां क्तिन्' ३।३।९४। इस अधिकार में उक्त प्रत्ययों को छोड़कर ।

उत्सर्ग का अर्थ है—सामान्य (General) और अपवाद का अर्थ है—विशेष या बाधक (Exception) । नियम यह है कि अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग प्रत्यय का बाधक होता है । किन्तु इस सूत्र से धातु के अधिकार में उक्त असरूप प्रत्ययों के विषय में यह बाध विकल्प से होता है । जैसे—कर्मण्यण् ३।२।१। इस सूत्र द्वारा कर्म उपपद होने पर सभी धातुओं से अण् प्रत्यय का विधान किया गया है । यह अण् सामान्य प्रत्यय है । आतोऽनुपसर्गे कः ३।२।३। सूत्र द्वारा आदन्त धातु से 'क' प्रत्यय का विधान किया गया है । यह 'क' प्रत्यय अण् प्रत्यय का अपवाद है । सरूप का अर्थ है—समान रूप वाला जैसे अण् और क दोनों सरूप प्रत्यय हैं क्योंकि दोनों में 'अ' शेष रहता है । जो सरूप नहीं वे असरूप प्रत्यय हैं; जैसे 'तव्यत्' प्रत्यय का 'यत्' प्रत्यय असरूप है । ये असरूप प्रत्यय इस प्रकरण में विकल्प से [illegible] । फलतः धातु से सामान्यतः उक्त प्रत्यय तव्यत् भी होता [illegible] । अपवाद यत्

२१० । कृत्याः ३।१।९५।

ण्वुल्तृचावित्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः ।

२११ । कर्तरि कृत् ३।४।६७।

कृत्प्रत्ययः कर्तरि स्यात् । इति प्राप्ते ।

२१२ । तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ३।४।७०।

एते भावकर्मणोरेव स्युः ।

२१३ । तव्यत्तव्यानीयरः ३।१।९६।

धातोरेते प्रत्ययाः स्युः । एधितव्यम्, एधनीयं त्वया ।

भी; जैसे ज्ञातव्यम्, देयम् दोनों रूप बनते हैं। किन्तु वासरूप परिभाषा स्त्री-अधिकारोक्त प्रत्ययों में नहीं लगती। अतः 'स्त्रियां क्तिन्' इस सामान्य नियम का 'अ' प्रत्ययात् ३।३।१०२। नित्य बाधक होता है और चिकीर्षा रूप ही बनता है।

२१०. कृत्या इति—ण्वुल तृचौ ३।१।१३३। इससे पहले के प्रत्ययों की कृत्य संज्ञा होती है।

२११. कर्तरीति—कृत्प्रत्यय कर्ता अर्थ में होते हैं। इसके प्राप्त होने पर—

२१२. तयोरेवेति—कृत्य, क्त, और खल् अर्थ वाले प्रत्यय भाव और कर्म (तयो.) में ही होते हैं।

२१३. तव्यदिति—धातु से तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्यय होते हैं। तव्यत् में 'तव्य' का शेष रहता है तथा इसको धातु से जोड़ने पर भी तव्य के समान ही रूप बनते हैं। केवल स्वर का भेद है, तव्यत् स्वरित होता है (निःस्वरितम्)। अनीयर् में अनीय शेष रहता है।

एधितव्यम्, एधनीयम् त्वया (तुझे बढ़ना चाहिये)—एध् (वृद्धि होना, अकर्मक) धातु से भाव में तव्य (तव्यत् भी) तथा अनीयर् प्रत्यय होते हैं।

---

१. आर्धधातुकस्येड्वलादेः ७।२।३५। इसके अनुसार कुछ (सेट्) धातुओं से 'तव्य' प्रत्यय होने पर प्रत्यय और धातु के बीच में इट् आ जाता है। इट् (इ) शेष रहता है।

भावे औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीबत्वम् । चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया ।
ॐ (वा) केलिमर उपसंख्यानम् ॥ पचेलिमा माषाः । पक्तव्याः ।
भिदेलिमाः सरलाः । भेत्तव्या इत्यर्थः । कर्मणि प्रत्ययाः ।

एध्+तव्य—तव्य से पूर्व इट्[1] (इ) का आगम होकर एधितव्य, कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु आदि एधितव्यम् । एध+अनीय—एधनीयम् ।

टिप्पणी—कृत्तद्धित समासाश्च १।२।४६। से कृदन्त, तद्धितान्त तथा समास की प्रातिपदिक संज्ञा होती है । पाणिनि व्याकरण में प्रातिपदिक संज्ञा वाले शब्द से ही 'सु' आदि (विभक्ति) प्रत्यय होते हैं ।

भावे इति—भाव में सामान्य एकवचन तथा नपुंसकलिङ्ग होता है । कृत्य प्रत्यय अकर्मक धातुओं से भाव में होते हैं, तथा सकर्मक धातुओं से कर्म में (तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः) । एध धातु अकर्मक है, इससे 'तव्यत्' आदि भाव में होते हैं । इसलिये 'एधितव्यम्' आदि में भाव में एकवचन तथा नपुंसकलिङ्ग होता है । इनके साथ कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है (कर्तृकरणयोस्तृतीया) इसी से 'त्वया' यहाँ तृतीया विभक्ति है ।

चेतव्यः, चयनीयः वा धर्मस्त्वया—(तुझे धर्म अर्जित करना चाहिये)—यहाँ चि (चुनना, सकर्मक) धातु से कर्म में तव्य और अनीयर प्रत्यय होते हैं । चि+तव्य='इ' को गुण १ (ए) होकर चेतव्यः । चि+अनीय—'इ' को गुण 'ए' तथा 'ए' को 'अय्' होकर चयनीयः ।

चि धातु सकर्मक है । ऊपर के उदाहरण में कर्म में प्रत्यय हुआ है, इसी से 'चेतव्यः' आदि में कर्म (धर्म) के अनुसार पुंल्लिङ्ग और एकवचन होता है । यहाँ (अनुक्त) कर्त्ता में तृतीया होती है – (त्वया) ।

केलिमर इति--केलिमर् प्रत्यय भी तव्यत् आदि के साथ कहना चाहिये । केलिमर् में 'एलिम' शेष रहता है ।

पचेलिमा माषाः—पक्तव्या (पकाने योग्य)—पच् (पकाना, सकर्मक + केलिमर्—पचेलिमाः । कर्म में प्रत्यय होने से कर्म (माषाः) के अनुसार

---

१. इस प्रकरण में इगन्त (इक् प्रत्याहार है अन्त में जिसके) अङ्ग को 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।३।८४ से गुण होता है तथा उपधा के लघु इक् को 'पुगन्तलघूपधस्य च ७।३।८६ से ।

२१४ । कृत्यल्युटो बहुलम् ३।३।११३।
'क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति" ॥१॥
स्नात्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम् । दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः ।

२१५ । अचो यत् ३।१।९७।
अजन्ताद्धातोर्यत् । चेयम् ।

पुंलिङ्ग तथा बहुवचन होता है ।

भिदेलिमाः सरलाः—भेतव्याः द्रव्यर्थाः (काटने योग्य सरल वृक्ष)—भिद् (भेदना, तोड़ना) + केलिमर्—भिदेलिमाः । पूर्ववत् ।

कर्मणीति—पचेलिमाः, भिदेलिमाः में कर्म में प्रत्यय हुआ है, पच् और भिद् धातु सकर्मक हैं ।

२१४. कृत्येति—कृत्य संज्ञक प्रत्यय और ल्युट् बहुलता से होते हैं । जहाँ कहे हैं उससे भिन्न स्थलों में भी होते हैं ।

टिप्पणी—बहुल शब्द का अर्थ है 'बहुत ढंगसे' (बहूनर्थान् लातीति) अगली कारिका में बहुल के प्रकार बताये हैं ।

क्वचिदिति—कहीं (नित्य) प्रवृत्ति होना, कहीं प्रवृत्ति न होना, कहीं विकल्प से होना, कहीं कुछ और ही होना इस प्रकार विधि का बहुत प्रकार का विधान देखकर (विद्वान्) चार प्रकार की (बहुलता) बतलाते हैं ।

स्नानीयम्—स्नाति अनेन (जिससे स्नान किया जाता है वह चूर्ण स्नानीय कहलाता है)—जहाँ 'स्ना' धातु से करण अर्थ में अनीयर् प्रत्यय बाहुलकात् हो गया है—स्ना + अनीय √ स्नानीयम् ।

दानीयः—दीयतेऽस्मै (जिसे दिया जाता है, वह दानीय विप्र है)—'दा' धातु से सम्प्रदान मे अनीयर् प्रत्यय हो जाता है ।

टिप्पणी—कृत्य प्रत्यय भाव और कर्म में होते हैं, 'बहुल' कहने से वे ऊपर के उदाहरणों में करण और सम्प्रदान में भी हो गये हैं ।

२१५. अच् इति—अजन्त (जिसके अन्त में स्वर हो) धातु से यत् प्रत्यय होता है ।

चेयम् (चुनने योग्य)—अजन्त चिञ् (चुनना) धातु से यत् प्रत्यय होकर

२१६ । ईद्यति ६।४।६५।
यति परे आत ईत्स्यात् । देयम् ।
२१७ । पोरदुपधात् ३।१।९८।
पवर्गान्तादुदुपधाद्यत् स्यात् । ण्यतोऽपवादः. शप्यम्, लभ्यम् ।
२१८ । एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् ३।१।१०९।
भ्यः क्यप् स्यात् ।
२१९ । ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१।

→इ को गुण (ए) चेय । प्रातिपदिक संज्ञा होकर नपुंसिङ्ग में सु=यम्
[।
१६. ईदिति—यत् प्रत्यय परे होने पर आ को ई हो जाता है ।
म् (देने योग्य या देना चाहिये)—दा (देना) धातु से यत् प्रत्यय
+य→ऊपर के सूत्र से आ को ई होकर दी+य→ई को गुण ए
यम् ।
७. पोरिति—जिस धातु के अन्त में पवर्ग का कोई वर्ण हो तथा उपधा
उससे यत् प्रत्यय होता है ।
इति—यह यत् प्रत्यय 'ऋहलोर्ण्यत्' ३।१।१२४ से प्राप्त ण्यत् का
।
म्—(शाप के योग्य)—शप् (शाप देना या शपथ खाना) धातु के
(पवर्ग) है और उपधा में 'अ' है इसलिये इससे यत् प्रत्यय होकर
→शप्यम् ।
—(पाने योग्य)—लभ् (पाना) धातु से यत् प्रत्यय होकर
→लभ्यम् ।
गी—लभ् धातु के अन्त में पवर्ग का वर्ण भ है तथा अन्त के वर्ण से
(उपधा) अकार है ।
. एति इति—इण् (एति) · धातु से क्यप्
है । क्यप् मे उनका योग
।

इत्यः । स्तुत्यः । शासु अनुशिष्टौ ।

२२० । शास इदङ्हलोः ६।४।३४।

शास उपधाया इत्स्यादङि हलादौ क्ङिति च । शिष्यः । वृत्यः । आदृत्यः । जुष्यः ।

२२१ । मृजेर्विभाषा ३।१।११३।

मृजेः क्यब्वा स्यात् । मृज्यः ।

होने पर ह्रस्व को तुक् का आगम होता है । (क्यप् पित् है) ।

इत्यः, (जाने योग्य)—इण (जाना) धातु से क्यप् प्रत्यय होकर इ+य-'इ' से परे तुक् (त्) का आगम इ+त्+य इत्यः । इसी प्रकार स्तु (स्तुति करना, धातु से—स्तु+क्यप्→स्तुत्यः (स्तुति करने योग्य) ।

शासु इति—शास् धातु अनुशासन अर्थ में है ।

२२०. शास इति—शास् धातु की उपधा को इकार हो जाता है अङ् य हलादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर । (क्यप् कित् है)

शिष्य —शास् (अनुशासन करना) —धातु से क्यप् प्रत्यय होक शास्+क्यप्→शास् के आ (उपधा) को इकार होकर शिस्+य→श क प २ शिष्यः ।

वृत्यः—(वरण करने योग्य)—वृ (वरण करना) धातु से क्यप्, वृ+य →तुक् होकर→वृत्यः ।

आदृत्य—(आदर—योग्य, आदरणीय)—आङ् (उपसर्ग) पूर्वक दृ (आदर करना) धातु से क्यप् होकर आदृ+य→तुक्→आदृत्यः ।

जुष्यः—(सेवनीय)—जुष् (प्रीति तथा सेवा करना) धातु से क्यप् होकर जुष्यः ।

२२१. मृजेरिति—मृज् धातु से क्यप् प्रत्यय होता है विकल्प से ।

मृज्य (शुद्ध करने योग्य)—मृज् (शुद्ध करना) धातु से क्यप् होकर मृज्+य=मृज्यः२ ।

---

१. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१॥

२. क्ङित् प्रत्यय परे होने पर क्ङिति च १।१।५ से गुण वृद्धि का निषेध हो ।

२२२। ऋहलोर्ण्यत् ३।१।१२४।

ऋवर्णान्ताद्धलन्ताच्च धातोर्ण्यत् स्यात्। कार्यम् हार्यम् धार्यम्।

२२३। चजोः कु घिण्ण्यतोः ७।३।५२।

चजोः कुत्वं स्यात् घिति ण्यति च परे।

२२४। मृजेर्वृद्धिः ७।२।११४।

मृजेरिको वृद्धिः स्यात् सार्वधातुकार्धधातुकयोः। मार्ग्यः।

---

२२२. ऋहलोरिति—जिस धातु के अन्त में ऋकार अथवा व्यञ्जन हो उससे ण्यत् प्रत्यय होता है।

कार्यम्—(करने योग्य, करना चाहिये)—कृ (करना) धातु से ण्यत् प्रत्यय होकर कृ+य→णित् प्रत्यय परे होने से ऋ को वृद्धि[1] आर् होकर कार्+य→कार्यम्। इसी प्रकार हृ (हरण करना) से हृ+ण्यत्→हार्यम् (हरने योग्य)। धृ (धारण करना) से धृ+ण्यत्→धार्यम् (धारण करने योग्य)।

२२३. चजोरिति—च और ज को 'कुत्व' (कवर्ग) हो जाता है घित् (जिसमें घ इत् हो) और ण्यत् प्रत्यय परे होने पर।

२२४. मृजेरिति—मृज् धातु के ऋ (इक्) को वृद्धि हो जाती है सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर।

टिप्पणी—धातु से होने वाले तिङ् (तिप्, तस्, झि आदि) और शित् (जिसमें श् इत् हो) प्रत्यय 'सार्वधातुक' कहलाते हैं तथा इनसे भिन्न आर्धधातुक (तिङ्शित्सार्वधातुकम् ३।४।११३ तथा आर्धधातुकं शेषः ३।४।११४।)।

मार्ग्यः (शुद्ध करने योग्य)—मृज् धातु से क्यप् के विकल्प में ण्यत् प्रत्यय होकर मृज्+क्यप्→ऊपर के सूत्रों से जकार को गकार (कुत्व) तथा ऋ को आर् (वृद्धि) मार्+ग्+य→मार्ग्यः।

---

१. अचोऽञ्णिति ७।२।११५।

२२५ । भोज्यं भक्ष्ये ७।३।६९।

भोग्यमन्यत् । इति कृत्यप्रक्रिया ॥१॥

अथ पूर्वकृदन्तम् ॥२॥

२२६ । ण्वुल्तृचौ ३।१।१३३।

धातोरेतौ स्तः । कर्तरि कृदिति कर्त्रर्थे ।

२२७ । युवोरनाकौ ७।१।१।

यु वु एतयोरनाकौ स्तः । कारकः । कर्त्ता ।

---

२२५. भोज्यमिति—भक्ष्य अर्थ मे भोज्य शब्द बनता है ।

भोज्यम् (खाने योग्य, भक्ष्य)—भुज् (पालन तथा भोजन करना) धातु से
न्त होने के कारण ण्यत् प्रत्यय होता है । भुज्+य इस दशा में ज् को कुत्व
) प्राप्त होता है किन्तु ऊपर के सूत्र से भक्ष्य अर्थ मे कुत्व का अभाव निपातन
ने से वह नही होता, 'उ' को गुण (ओ) होकर भोज्यम् । अन्य अर्थात्
ाने योग्य अर्थ में कुत्व होकर भोग्यम् । इति कृत्य प्रक्रिया ॥११॥

२२६. अथ पूर्वकृदन्तम् । ण्वुलिति—धातु से ण्वुल् और तृच् प्रत्यय होते
ण्वुल् में वु तथा तृच् में तृ शेष रहता है ।

टिप्पणी—ण्वुल्तृचौ से आरम्भ करके 'करणे यजः २४६' से पूर्व के प्रत्यय
मान काल में होते हैं ।

कर्तरीति—'कर्तरि कृत् २११', इस सूत्रानुसार ये प्रत्यय कर्ता अर्थ में
ते हैं ।

२२७. युवोरिति—यु और वु इन दोनों को क्रमशः अन और अक आदेश
जाते हैं ।

कारकः—करोति इति (करने वाला)—कृ (करना) धातु से कर्ता अर्थ
ण्वुल् प्रत्यय होकर कृ+ण्वुल्→वु को अक तथा ऋ को वृद्धि[1] (आर्)
र →कार्+अक→कारकः । स्त्रीलिङ्ग में कारिका, नपुंसकलिङ्ग में
कम् ।

कर्त्ता—करोति इति (करने वाला)—कृ+तृच्→ऋ को गुण[2]

---

१. अचोञ्णिति ७।२।११५। २. सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।३।८४।

२२८। नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ।३।१।१३४

नन्द्यादेर्ल्युः, ग्रह्यादेर्णिनिः, पचादेरच् स्यात्। नन्दयतीति नन्दनः। जनमर्दयतीति जनार्दनः। लवणः। ग्राही। स्थायी। मन्त्री। पचादिराकृतिगणः।

अर्→कर्+तृ→कर्तृ। पु० प्रथमा एक० में कर्ता। (स्त्री०) कर्त्री, (नपुं०) कर्तृ।

२२८. नन्दीति—नन्दि आदि धातुओं से ल्यु प्रत्यय, ग्रह् आदि से णिनि तथा पच् आदि से अच् होता है।

ल्यु में यु शेष रहता है, णिनि में इन् और अच् में अ। ये तीनों प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में ही होते हैं।

नन्दनः—नन्दयति इति (आनन्दित करने वाला)—णिच् प्रत्ययान्त (प्रेरणार्थक) नन्दि धातु से ल्यु प्रत्यय होकर नन्दि+यु→यु को अन (युवोरनाकौ) नन्दि+अन→इ (णि) का लोप[1] होकर नन्द्+अन→नन्दनः।

जनार्दन—जनमर्दयति इति (जन को गति देने वाला, विष्णु)—जन उपपद-युक्त णिजन्त अर्द् (गति और याचना) धातु से ल्यु प्रत्यय होता है। जन+अर्द्+इ+यु→यु को अन तथा इ (णि) लोप जनार्दनः।

लवणः—लुनाति इति (काटने वाला, नमक)—लूञ् (काटना) धातु से ल्यु प्रत्यय होकर लू+यु→लू+अन→ऊ को गुण (सार्वधातुकार्धधातुकयोः) ओ तथा ओ को अव् होकर लव्+अन। नन्द्यादिगण में निपातन से न को ण होता है—लवणः।

ग्राही—गृह्णाति इति (ग्रहण करने वाला)—ग्रह (ग्रहण करना) धातु से णिनि प्रत्यय होकर ग्रह्+इन् इस दशा में उपधा के अ को वृद्धि[2] (आ) होकर ग्राह्+इन्→ग्राहिन्। पुं०, प्रथमा एकवचन में ग्राही।

---

१. णेरनिटि ६।४।५१।

२. अत उपधायाः ७।२।११६। उपधा के अ को वृद्धि होती है। ञित् णित् प्रत्यय परे होने पर।

२२६ । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः ३।१।१३५।

एभ्यः कः स्यात् । बुधः । कृशः । ज्ञः । प्रियः । किरः ।

स्थायी—तिष्ठति इति (स्थिर)—ष्ठा (ठहरना) धातु से णिनि प्रत्यय होकर स्था+इन् इस दशा में णित् प्रत्यय परे होने से स्था धातु को युक् का आगम[1] होता है । स्था+य्+इन्→स्थायिन्→पु० एक० में स्थायी ।

मन्त्री—मन्त्रयति इति (मन्त्रणा देने वाला)—णिच् प्रत्ययान्त मन्त्रि (चुरादि, गुप्त भाषण करना) धातु से णिनि प्रत्यय होता है । मन्त्+इ (णिच्)+णिनि→मन्त्+इ+इन्→इ (णि) का लोप होकर मन्त्र+इन्→मन्त्रिन्→मन्त्री ।

पचादिरिति—पच् आदि आकृतिगण है । पचति इति पचः→पच्+अच् (पकाने वाला) इत्यादि शब्द अच् प्रत्ययान्त हैं ।

२२६. इगुपधेति—जिन धातुओं की उपधा में इ, उ, ऋ, लृ (इक्) में से कोई हो (इगुपध) इनसे तथा ज्ञा, प्री और कॄ धातु से क प्रत्यय होता है । क प्रत्यय में अ शेष रहता है । यह प्रत्यय कित् है अतः इसके परे रहते 'क्ङिति च' से गुण-निषेध हो जाता है ।

बुध—(जानने वाला, विद्वान्) बुध् (जानना) धातु की उपधा में उ (इक्) है । अतः इससे क प्रत्यय होकर बुध्+अ→बुधः । प्रत्यय के कित् होने से उ को गुण (ओ) नहीं होता (क्ङिति च) ।

कृशः—कृश्यति इति (दुबला, क्षीण)—कृश् (दुबला होना) धातु से क प्रत्यय होकर कृशः । (ऋ को गुण नहीं होता) ।

ज्ञः—जानाति इति (जानने वाला)—ज्ञा (जानना) धातु से क प्रत्यय होकर ज्ञा+अ→प्रत्यय के कित् होने से आ का लोप (आतो लोप इटि च ६।४।६४) होकर ज्ञ्+अ→ज्ञः ।

---

१. आतो युक् चिण्कृतोः ७।३।३३। आकारान्त को युक् का आगम होता है चिण् तथा णित् कृत् प्रत्यय परे होने पर ।

२३० । आतश्चोपसर्गे ३।१।१३६।

प्रज्ञः । सुग्लः ।

२३१ । गेहे कः ३।१।१४४।

गेहे कर्तरि ग्रहेः कः स्यात् । गृहम् ।

प्रियः—प्रीणाति इति (तृप्त करने वाला)—प्रीञ् (तृप्त करना, क्र्यादि) धातु से क प्रत्यय होकर प्री+क→प्री+अ इस दशा में ईकार को इयङ्[1] (इय्) आदेश होकर प्रिय्+अ→प्रियः ।

किरः—किरति इति (बिखेरने वाला)—कॄ (बिखेरना) धातु से क प्रत्यय होकर कॄ+अ→ॠ को इर्[2]—किर्+अ→किरः ।

२३०. आतश्चेति—उपसर्ग पूर्वक आकारान्त धातु से क प्रत्यय होता है ।

प्रज्ञ—प्रजानाति इति (प्रकृष्टता से जानने वाला)—प्र उपसर्ग सहित ज्ञा (जानना) धातु से कप्रत्यय होकर प्रज्ञा+अ→आकार का लोप प्रज्+अ→प्रज्ञः ।

सुग्लः—सुग्लायति इति (भली भांति ग्लानि करने वाला)—सुपूर्वक ग्लै (ग्लानि) धातु के ऐ को आ (आदेच उपदेशेऽशिति ६।१।४५) होकर क प्रत्यय होता है । सुग्ला+क→आ का लोप सुग्ल्+अ→सुग्लः ।

२३१. गेहे इति—यदि गेह (घर) कर्ता हो अर्थात् गेह अर्थ को प्रकट करने में ग्रह् धातु से क प्रत्यय होता है ।

गृहम्—गृह्णाति धान्यादिकम् इति (जो अन्न आदि को रखता है, घर)—इस विग्रह में ग्रह् (ग्रहण करना) धातु से क प्रत्यय होकर ग्रह्+क इस दशा में धातु के र् को ऋ (सम्प्रसारण[3]) होता है, गृह्+अ→गृहम् । गृह शब्द

---

१. अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६।४।७७।

२. ॠत इद् धातोः ७।१।१०० इस सूत्र से ॠ को इ । इ अण् है अतः यह र् के साथ (उरण् रपरः) होती है तथा ॠ=इर् हो जाती है ।

३. ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च ६।१।१६।

२३२ । कर्मण्यण् ३।२।१।

कर्मण्युपपदे धातोरण् प्रत्ययः स्यात् । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।

२३३ । आतोऽनुपसर्गे कः ३।२।३।

आदन्ताद्धातोरनुपसर्गात्कर्मण्युपपदे कः स्यात् । अणोऽपवादः । आतो लोपः । गोदः । धनदः । कम्बलदः । अनुपसर्गे किम् ? गोसन्दायः

पुंल्लिङ्ग में सदा बहुवचनान्त होता है, जैसे—गृहाः दाराः ।

२३२. कर्मणीति—कर्म उपपद होने पर धातु से अण् प्रत्यय होता है ।

कुम्भकारः—कुम्भ करोति इति (घड़ा बनाने वाला—कुम्हार)—इस विग्रह में कुम्भ+कृ+अण्→कृ के ऋकार को वृद्धि[1] आर् होकर कुम्भ+कार→ कुम्भ को कार शब्द के साथ उपपद समास (उपपदमतिङ्) होकर कुम्भकारः ।

टिप्पणी—इस धातु अधिकार में सप्तम्यन्त पदों से समझा जाने वाला (बोध्य) पद उपपद कहलाता है और उसका अगले पद से समास होता है (उपपदमतिङ्) । (विशेष द्रष्टव्य 'उपपदमतिङ् १५५')

२३३. आतइति—जिससे पहले उपसर्ग न हो ऐसी आदन्त धातु से कर्म उपपद होने पर 'क' प्रत्यय होता है । यह अण् का बाधक है ।

गोदः—गां ददाति इति (गाय देने वाला)—गो+दा+क→गो+दा+अ→आ का लोप[2] होकर गो+द्+अ→गोदः । इसी प्रकार धनं ददाति इति धनदः (धन+दा+क) । कम्बलं ददाति इति कम्बलदः (कम्बल+दा+क) ।

अनुपसर्गे किमिति—उपसर्ग रहित आकारान्त धातु से क होता है यह क्यों ? इसलिये कि गोसन्दायः में 'सम्' उपसर्ग सहित दा धातु है अतः यहाँ क

१. अचो ञ्णिति ७।२।११५।।   २. आतो लोप इटि च ६।४।६४।।

❀ (वा) मूलविभुजादिभ्यः कः ॥ मूलानि विभुजतीति मूलविभुजो रथः आकृतिगणोऽयम् । महीध्रः । कुध्रः ।

२३४ । चरेष्टः ३।२।१६।

अधिकरणे उपपदे । कुरुचरः ।

२३५ । भिक्षासेनादायेषु च ३।२।१७।

भिक्षाचरः । सेनाचरः । आदायेति ल्यबन्तम् । आदायचरः ।

नहीं होता अपितु अण् प्रत्यय[1] होता है गो+सम्+दा+अण्→दा से परे युक् का आगम[1] गो+दा+य्→अ→गोसन्दायः ।

मूलेति (वा)—मूलविभुज आदि शब्दों में क प्रत्यय होता है ।

मूलविभुजो रथः—मूलानि विभुजति (जड़ों को कुचलने वाला रथ)—मूल+विभुज+क→मूल+विभुज, उपपद समास होकर मूलविभुजः ।

आकृतीति यह (मूलविभुज आदि) आकृति गण है । अतएव मही धरति इति→मही+धृ+क→प्रत्यय के कित् होने से गुण नहीं होता अपितु ऋ को र् (यण्) होकर मही+ध+र्+अ=महीध्र. । इसी प्रकार कुं पृथिवी धरति कुध्रः । महीध्र और कुध्र शब्द 'पर्वत' के पर्याय हैं ।

२३४. चरेरिति—अधिकरण उपपद होने पर चर् धातु से ट प्रत्यय होता है । ट में अ शेष रहता है । टित् होने से स्त्री० में ङीप् ।

कुरुचरः—कुरुषु चरति इति (कुरुदेश में घूमने वाला)—कुरु+चर्+ट→कुरु+चर्+अ→उपपद समास कुरुचरः । स्त्रीलिङ्ग में टित् होने से ङीप् कुरुचरी ।

२३५. भिक्षेति—भिक्षा सेना और आदाय शब्द उपपद होने पर चर् धातु से ट प्रत्यय होता है ।

भिक्षाचरः—भिक्षां चरति (भिक्षाचरण करने वाला)—भिक्षा+चर्+ट ।

सेनाचरः—सेनां चरति (सेना में प्रविष्ट[3] होता है)—सेना+चर्+ट

---

१. आतो युक् चिण्कृतोः ७।३।३३॥

२. टिड्ढाणञ्० ४।१।१५॥

३. सेनां चरति प्रविशतीत्यर्थः. (तत्त्वबोधिनी) ।

२३२ । कर्मण्यण् ३।२।१।

कर्मण्युपपदे धातोरण् प्रत्ययः स्यात् । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।

२३३ । आतोऽनुपसर्गे कः ३।२।३।

आदन्ताद्धातोरनुपसर्गात्कर्मण्युपपदे कः स्यात् । अणोऽपवादः । आतो लोपः । गोदः । धनदः । कम्बलदः । अनुपसर्गे किम् ? गोसन्दायः

पुंल्लिङ्ग में सदा बहुवचनान्त होता है, जैसे—गृहाः दाराः ।

२३२. कर्मण्यणिति—कर्म उपपद होने पर धातु से अण् प्रत्यय होता है ।

कुम्भकारः—कुम्भ करोति इति (घड़ा बनाने वाला—कुम्हार)—इस विग्रह में कुम्भ + कृ + अण् → कृ के ऋकार को वृद्धि[1] आर् होकर कुम्भ + कार → कुम्भ को कार शब्द के साथ उपपद समास (उपपदमतिङ्) होकर कुम्भकारः ।

टिप्पणी—इस धातु अधिकार में सप्तम्यन्त पदों से समझा जाने वाला (बोध्य) पद उपपद कहलाता है और उसका अगले पद से समास होता है (उपपदमतिङ्) । (विशेष द्रष्टव्य 'उपपदमतिङ् १४५')

२३३. आतइति—जिसमें पहले उपसर्ग न हो ऐसी आदन्त धातु से कर्म उपपद होने पर 'क' प्रत्यय होता है । यह अण् का बाधक है ।

गोदः—गां ददाति इति (गाय देने वाला)—गो + दा + क → गो + दा + अ → आ का लोप[2] होकर गो + द् + अ → गोदः । इसी प्रकार धनं ददाति इति धनदः (धन + दा + क) । कम्बलं ददाति इति कम्बलदः (कम्बल + दा + क) ।

अनुपसर्गे किमिति—उपसर्ग रहित आकारान्त धातु से क होता है यह क्यों कहा ? इसलिये कि गोसन्दायः में 'सम्' उपसर्ग सहित दा धातु है अतः यहाँ क

---

१. अचोञ्णिति ७।२।११५॥ २. आतो लोप इटि च ६।४।६४॥

...गण्डयम् । महीध्रः । कुध्रः । ... विभुजनाति मूलविभुजो

२३४ । चरेष्टः ३।२।१६।

अधिकरणे उपपदे । कुरुचरः ।

२३५ । भिक्षासेनादायेषु च ३।२।१७।

भिक्षाचरः । सेनाचरः । आदायेति ल्यबन्तम् । आदायचरः ।

...होता अपितु अण् प्रत्यय' होता है गो+अम्+दा+अण्→दा के परे युक्
...गम' गो+दा+य्→य→गोसन्दायः ।

...लेति (वा)—मूलविभुज आदि शब्दों में क प्रत्यय होता है ।
...लविभुजो रथः—मूलानि विभुजति (जड़ों को कुचलने वाला रथ)—
...विभुज+क→मूल+विभुज, उपपद समास होकर मूलविभुज ।
...हृतोति यह (मूलविभुज आदि) आकृति गण है । अतएव मही
...ति→मही+धृ+क→प्रत्यय के कित् होने से गुण नहीं होता अपितु
...र् (यण्) होकर मही+ध्+र्+अ=महीध्र । इसी प्रकार कु
...धरति कुध्रः । महीध्र और कुध्र शब्द 'पर्वत' के पर्याय हैं ।
...४. चरेरिति—अधिकरण उपपद होने पर चर् धातु से ट प्रत्यय होता
...अ शेष रहता है । टित् होने से स्त्री० में ङीप् ।
...चरः—कुरुषु चरति इति (कुरुदेश में घूमने वाला)—कुरु+चर्+
...+चर्+अ→उपपद समास कुरुचरः । स्त्रीलिङ्ग में टित् होने से
...री ।

...५. भिक्षेति—भिक्षा सेना और आदाय शब्द उपपद होने पर चर्
...प्रत्यय होता है ।

...चरः—भिक्षां चरति (भिक्षाचरण करने वाला)—भिक्षा+चर्

...रः—सेनां चरति (सेना में प्रविष्ट होता है)—सेना+चर्+ट ।

...ताता दुक् कित् इनोः ७।१।३३।
...टिड्ढाणञ्० ४।१।१५।
...सेनां चरति प्रविशतीत्यर्थः (तत्त्वबोधिनी) ।

२३६। कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु ३।२।२०।

एषु द्योत्येषु करोतेष्टः स्यात्।

२३७। अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ८।३।४६।

आदुत्तरस्यानव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं सादेशः स्यात् करोत्यादिषु परेषु। यशस्करी विद्या। श्राद्धकरः। वचनकरः।

२३८। एजेः खश् ३।२।२८।

ण्यन्तादेजेः खश् स्यात्।

आदायेति—'आदाय' यह ल्यप् प्रत्ययान्त शब्द है।

आदायचरः—आदाय (गृहीत्वा) चरति (लेकर चलने वाला)—आदाय+चर्+ट।

२३६. कृञ इति—हेतु, ताच्छील्य (वैसा स्वभाव होना) तथा आनुलोम्य (अनुकूलता) प्रकट हो तो (कर्म उपपद होने पर) कृ धातु से ट प्रत्यय होता है।

२३७. अत इति—आकार से परे उस विसर्ग को, जो अव्यय का न हो, समास में नित्य सकार आदेश हो जाता है कृ, कम् धातु तथा कुम्भ, पात्र, कुशा और कर्णी शब्द परे होने पर।

यशस्करी विद्या—यशः करोति, तद्धेतुः (यश का हेतु विद्या)—कृञो हेतु० सूत्र से हेतु अर्थ में ट प्रत्यय होकर यशः+कृ=ट→यशः+कृ+अ→ऋ को गुण अर् यशः+कर→उपपद समास तथा ऊपर के सूत्र से विसर्ग को स होकर यशस्कर (स्त्री०) ङीप् प्रत्यय यशस्करी।

श्राद्धकरः—श्राद्धं करोति, तच्छीलः अथवा श्राद्धं कर्तुं शीलमस्य (स्वभाव से श्राद्ध करने वाला)—श्राद्ध+कृ+ट→श्राद्ध+कृ+अ→ऋ को गुण अर् श्राद्ध+कर उपपद समास श्राद्धकर।

वचनकरः—वचनं करोति, तदनुलोमः। (वचनानुकूल कार्य करने वाला)—वचन+कृ+ट→वचनकरः।

२३८. एजेरिति—णिच् प्रत्ययान्त (प्रेरणार्थक) एज् (कांपना) धातु

२३९ । अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ६।३।६७।

अरुषो द्विषतोऽजन्तस्य मुमागमः स्यात् खिदन्ते परे नत्वव्ययस्य। शित्वाच्छबादिः। जनमेजयतीति जनमेजयः।

२४० । प्रियवशे वदः खच् ३।२।३८।

प्रियंवदः। वशंवदः।

२४१ । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ३।२।७५।

मनिन् क्वनिप् विच् एते प्रत्यया धातोः स्युः।

से खश प्रत्यय होता है।

खश् प्रत्यय में अ शेष रहता है। शित होने से इसकी सार्वधातुक (तिङ् शित् सार्वधातुकम्) संज्ञा होती है। अतः बीच में शप् (अ) आदि आ जाता है। 'शित्' करने का फल आगे बतलाया जाता है—

२३९. अरुरिति—अरुष् द्विषत् और अजन्त (स्वरान्त) शब्द को मुम् का आगम होता है। खिदन्त शब्द परे होने पर किन्तु अव्यय को नहीं।

शित्वादिति—खश् प्रत्यय के शित् होने से शप् आदि होते हैं।

जनमेजयः—जनमेजयति (जनता को कंपाने वाला, संज्ञा है)— णिजन्त एज् धातु (एजि) से खश् प्रत्यय होता है। जन अम्+एजि+खश्→ एजि और खश् के बीच में शप्[1] (अ) होकर जन अम्+एजि+अ+अ (खश्) →'इ' को गुण ए तथा अय् होकर जन +एजय्+अ+अ पहले अ को पररूप[2] होता है तथा अम का लुक (सुपो धातु०) होकर→खिदन्त एजय शब्द परे रहने पर अजन्त जन को मुम् (म)—जन +म्+एजय→जनमेजयः।

प्रियवश इति—प्रिय और वश (कर्म) उपपद होने पर वद् धातु से खच् प्रत्यय होता है। खच मे अ शेष रहता है।

प्रियंवदः—प्रियं वदति (प्रिय बोलने वाला)—प्रिय+वद्+खच्→ प्रिय+वद्+अ→प्रिय से परे मुम् (म्) का आगम होकर प्रिय+म्+वद→ म् को अनुस्वार प्रियंवदः।

वशंवदः—वशंवदति (अधीन)—वश+वद्+खच्।

---

१. कर्तरि शप् ३।१।६८।। २. अतो गुणे ६।१।९७।।

२४२। नेड्वशि कृति ७।२।८।

वशादेः कृत इण् न स्यात्। शॄ हिंसायाम्। सुशर्मा। प्रातरित्वा।

२४३। विड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत् ६।४।४१।

अनुनासिकस्याऽऽत्स्यात् विजायत इति विजावा। ओणृ अपनयने। अवावा। विच्। रुष रिष हिंसायाम्। रोट्। रेट्। सुगुण।

---

२४१. अन्येभ्य इति—मनिन्, क्वनिप्, वनिप् और विच् ये प्रत्यय धातु से देखे जाते हैं।

इस सूत्र में 'अन्येभ्यः' का अर्थ है—पहले सूत्र—आतो मनिन् क्वनिब्वनिपश्च ३।२।७४। में कही गई (आकारान्त) धातुओं से भिन्न धातुओं से परे, इसलिये प्रयोग का अनुसरण करके धातु मात्र से ये प्रत्यय होते हैं। मनिन् में मन् क्वनिप् और वनिप् से वन् शेष रहता है। विच् का लोप (सर्वापहार) हो जाता है।

२४२. नेड्वशि—जिस कृत् के आदि में व, र, ल् तथा वर्गों के पांचवें चौथे, तीसरे अक्षर (वश्) होते हैं (वशादि) उसे इट् का आगम नहीं होता [यह 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' का बाधक है]।

सुशर्मा—सुष्ठु शृणाति (अच्छी तरह हिंसा करता है)—सु उपसर्ग पूर्वक शॄ (हिंसा करना) धातु से मनिन् प्रत्यय होकर सुशॄ+मन्→ऋ को गुण अर् होकर सुशर्+मन्→ऊपर के सूत्र से इट् का निषेध होकर सुशर्मन् प्र० एक० सुशर्मा।

प्रातरित्वा—प्रातः एति (प्रातः जाने वाला)—प्रातर् पूर्वक इण् (जाना) धातु से क्वनिप् प्रत्यय होकर प्रातर्+इ+वन्→प्रत्यय के पित् होने से पूर्व ह्रस्व 'इ' को तुक्' का आगम होकर प्रातर्+इ+त्→वन्→प्रातरित्वन्, प्र० एक० प्रातरित्वा।

२४३. विड्वनो—विट् और वनिप्, क्वनिप् (वन्) प्रत्यय परे होने पर अनुनासिक वर्ण को आ हो जाता है।

---

१. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१।

२४४। विवप् च ३।२।७६।

अयमपि दृश्यते। उखास्रत्। पर्णध्वत्। वाहभ्रट्।

विजावा—विजायते (विविध प्रकार से होने वाला)—वि पूर्वक जन् (उत्पत्ति, प्रादुर्भाव) धातु से वनिप् प्रत्यय होकर विजन+वन्→न् (अनुनासिक) को आ विज+आ+वन्+विजावन् प्र० एक० में विजावा।

अवावा—ओणति अपनयति इत्यर्थः (हटाने वाला)—ओणृ (हटाना) धातु से वनिप् प्रत्यय होता है। ओणृ+वन→णृ को आ होकर ओ+आ+वन्→ओ को अव्—अवावन्। प्र० एक० में अवावा।

रोट—(हिंसा करने वाला—रुष् (हिंसा करना) धातु से विच् प्रत्यय होता है। रुष्+विच्→विच् का लोप (सर्वापहार) तथा 'उ' को गुण ओ होकर रोष्। रोष् से प्रथमा एकवचन में ष् को ड (जश्त्व) तथा ट् (चर्त्व) होकर रोट्। इसी प्रकार रिष्' (हिंसा करना) धातु से रेट्।

सुगण—सुष्ठु गणयति (अच्छी तरह गिनने वाला) सु पूर्वक गण धातु से विच् प्रत्यय होता है। सुगण्+विच्→विच् का लोप सुगण्।

२४४. क्विप् चेति—धातुओं से क्विप् प्रत्यय भी देखा जाता है।

टिप्पणी—क्विप् का सर्वापहार हो जाता है। यह प्रत्यय कित् और पित् है।

उखास्रत्—उखायाः१ (पात्रात्) स्रसते [पतीली से गिरने वाला]—उखापूर्वक स्रंस् धातु से क्विप् प्रत्यय होकर उखा स्रस्+स स्+क्विप्→क्विप् का लोप तथा प्रत्यय के कित् होने से धातु के स् [अनुस्वार] का लोप२ उपपद समास तथा सुर् (सस्) लोप होकर उखास्रस् प्र० एक० में अन्त के स् को द् और द्३ को विकल्प त् (वावसाने से चर्त्व) होकर उखास्रत्।

पर्णध्वत्—पर्णानि ध्वसते [पत्ते से गिरने वाला]—पर्ण+ध्वंस्+क्विप् शेष उखास्रत् के समान है।

---

१. पिठरः स्थाली उखाकुण्डम्-अमरकोष। २. अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति।६।४।२४। ३. वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः।८।२।७२

२४५ । सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ।३।२।७८।
अजात्यर्थे सुपि धातोर्णिनिः स्यात् ताच्छील्ये द्योत्ये । उष्णभोजी ।
२४६ । मनः ।३।२।८२
सुपि मन्यतेर्णिनिः स्यात् । दर्शनीयमानी ।
२४७ । आत्ममाने खश्च ।३।२।८३।
स्वकर्मके मनने वर्तमानात् मन्यतेः सुपि खश् स्यात् चाण्णिनिः ।

वाहभ्रट्—वाहात् [अश्वात्] भ्रशते [अश्व से गिरने वाला]—वाह+भ्रंश्+क्विप्, क्विप् का लोप, न् का लोप होकर वाहभ्रश् । प्र० एकवचन में 'सु' प्रत्यय, सुलोप तथा श् को 'व्रश्च०' इत्यादि सूत्र से ष् और ष् को ड् [जश्त्व] ट् [चर्त्व] होकर वाहभ्रट् ।

२४५. सुपीति—जातिवाचक [गौ आदि] से भिन्न कोई सुबन्त उपपद होने पर धातु से णिनि प्रत्यय होता है यदि ताच्छील्य (आदत) प्रकट करता हो । 'णिनि' में इन् शेष रहता है ।

उष्णभोजी— उष्णं भुङ्क्ते तच्छील: अथवा भोक्तुं शीलमस्य (गर्म गर्म खाने की आदत वाला)—यहाँ उष्ण सुबन्त उपपद है, जो जातिवाचक नहीं प्रत्युत गुणवाचक है । उष्ण पूर्वक भुज् (खाना) धातु से णिनि प्रत्यय होकर उष्ण अम्+भुज्+इन्→'उ' को गुण ओ तथा उपपद समास और सुप् (अम्) लोप होकर उष्णभोजिन्; प्र० एक० में उष्णभोजी ।

२४६. मन इति—सुबन्त उपपद होने पर मन् धातु से णिनि होता है ।

दर्शनीयमानी—दर्शनीयं मन्यते (दर्शनीय मानने वाला)—'दर्शनीयम्' सबन्त उपपद होने पर मन् (जानना, दिवादि) धातु से णिनि प्रत्यय होता है । दर्शनीय अम्+मन्+इन्→मन् के म को वृद्धि[1] (मा) तथा उपपद समास और सुप् (अम्) लोप होकर दर्शनीय+मान्+इन्→दर्शनीयमानिन्; प्र० एक० में दर्शनीयमानी ।

२४७. आत्ममान इति—अपने आपको (स्वकर्मक) कुछ मानने के

---

१. अत उपधायाः ।७।२।११६।

पण्डितमात्मानं मन्यते पण्डितम्मन्यः। पण्डितमानी।

२४८। खित्यनव्ययस्य ६।३।६६।

खिदन्ते परे पूर्वपदस्य ह्रस्वः स्यात्। ततो मुम्। कालिम्मन्या।

२४९। करणे यजः ३।२।८५।

करणे उपपदे भूतार्थयजेर्णिनिः स्यात्, कर्तरि। सोमेनेष्टवान्

अथ में विद्यमान मन् धातु से सुबन्त उपपद होने पर खश् प्रत्यय होता है और णिनि भी।

पण्डितंमन्य—पण्डितमात्मानं मन्यते (अपने आपको पण्डित मानता है)—इस विग्रह में पण्डितम् सुबन्त उपपद होने पर मन् धातु से खश् प्रत्यय होता है। पण्डित अम्+मन्+खश्→शित् होने से खश् को सार्वधातुक[1] संज्ञा होती है और धातु से[2] श्यन् (य) हो जाता है। उपपद समास तथा सुप् (अम्) का लोप होकर→पण्डित+मन्+य (श्यन्)+अ=खिदन्त शब्द से पूर्व अजन्त (पण्डित) को मुम् (म्) का आगम होकर पण्डित+म्+मन्य+अ→अ को पररूप[3] होकर पण्डितम्मन्यः।

पण्डितमानी—पक्ष में णिनि प्रत्यय होकर पण्डित अम्+मन्+णिनि→दर्शनीयमानी के समान कार्य होकर रूप बनता है।

२४८ खितीति—खिदन्त परे होने पर अव्यय-भिन्न पूर्वपद को ह्रस्व होता है।

कालिम्मन्या—कालीम् आत्मानं मन्यते (अपने आप को काली समझती है)—काली सुबन्त उपपद होने पर मन धातु से खश् प्रत्यय होता है। धातु से श्यन् होकर काली+मन्य+अ→ऊपर के सूत्र से ई को ह्रस्व इ होकर मुम् का आगम होता है तथा स्त्रीबोधक टाप् प्रत्यय होकर कालिम्मन्या।

२४९. करण इति—करण कारक उपपद होने पर भूतकाल में यज

१. तिङ्शित् सार्वधातुकम्।
२. दिवादिभ्यः श्यन् ३।१।६९।
३. अतो गुणे ६।१।९७।

सोमयाजी । अग्निष्टोमयाजी ।

२५० । दृशेः क्वनिप् ३।२।९४।

कर्मणि भूते । पारं दृष्टवान् पारदृश्वा ।

२५१ । राजनि युधि कृञः ३।२।९५।

क्वनिपस्यात् । युधिरन्तर्भावितण्यर्थः । राजानं योधितवान् राज-

---

धातु के णिनि प्रत्यय होता है, कर्त्ता में ।

टिप्पणी—'करणे यजः २४९' से वनसुश्च २७१ तक के प्रत्यय भूतकाल में कर्तृ अर्थ में होते हैं ।

सोमयाजी—सोमेन इष्टवान् (जिसने सोमयाग किया, वह)—सोम उपपद होने पर यज् (देवपूजा करना आदि) धातु से भूतकालिक कर्तृ अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है । उपपद समास तथा सुप् (टा) लोप होकर सोम यज्+इन→ यज् के य को वृद्धि[1] (या) सोमयाजिन्; प्र० एकवचन में इ (उपधा) को दीर्घ तथा न् का लोप होकर सोमयाजी । इसी प्रकार 'अग्निष्टोमेनेन इष्टवान् इति' अग्निष्टोमयाजी ।

२५०. दृशेरिति—कर्म उपपद होने पर भूतार्थ में दृश् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है ।

पारदृश्वा—पारं दृष्टवान् (जिसने पार को देख लिया)—'पारम्' उपपद होने पर दृश् (देखना) धातु से भूतकालिक कर्तृ अर्थ में 'क्वनिप्' प्रत्यय, उपपद समास तथा सुप् लोप होकर पार+दृश्+वन→ पारदृश्वन् । प्र० एकवचन में पारदृश्वा ।

टिप्पणी—पारदृश्वन् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय तथा न् को 'र'[2] होकर 'पारदृश्वरी' रूप होता है ।

२५१. राजनि इति—राजन् कर्म उपपद होने पर युध् और कृञ् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है ।

---

१. अत उपधायाः ७।२।११६।

२. वनो र च ४।१।७

युध्वा । राजकृत्वा ।

२५२ । सहे च ३।२।९६।

कर्मणीति निवृत्तम् । सह योधितवान् सहयुध्वा । सहकृत्वा ।

युधीति—युध् धातु अकर्मक है । इससे पूर्व कर्म उपपद कैसे हो सकता है ? इस शका का समाधान करते हुए कहते हैं—यहाँ युध धातु अन्तर्भावित-ण्यर्थ ली गई है अर्थात् "युध्" धातु योधि (युध्+णिच्) प्रेरणार्थक को प्रकट करती है ।

राजयुध्वा—राजानं योधितवान् (जिसने राजा को लड़ाया)—राजन् (कर्म) उपपद होने पर युध् (युद्ध करना) धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है । उपपद समास तथा सुप् लोप होकर राजन् के नकार का लोप हो जाता है । राज युध्+वन्→राज युध्वन्→प्र० एक० में राजयुध्वा ।

राजकृत्वा—राजानं कृतवान् (जिसने राजा बनाया)—राजन् (कर्म) उपपद होने पर कृ धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है । उपपद समास सुप् लोप तथा न् लोप होकर राजकृ+वन् इस दशा मे क्वनिप् के पित् होने से 'कृ' को तुक् का आगम हो जाता है । राजकृ+त्+वन→राजकृत्वन् प्र० एक० राजकृत्वा ।

२५२. सहे चेति—'सह' उपपद होने पर युध् और कृ धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है ।

कर्मणीति—इस सूत्र में कर्मणि निवृत्त हो गया, यहाँ उसकी अनुवृत्ति नहीं आती, क्योकि 'सह' अव्यय है । इसका विशेषण कर्म नहीं हो सकता ।

सहयुध्वा—सह योधितवान् (साथ लड़ाया जिसने)—सह उपपद होने पर युध् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होकर प्र० एक० में सहयुध्वा । इसी प्रकार 'सह कृतवान् इति' सहकृत्वा ।

---

१. न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७।

२. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१।

२५३ । सप्तम्यां जनेर्डः ३।२।९७।

२५४ । तत्पुरुषे कृति बहुलम् ६।३।१४।

ङेर्लुक् स्यात् । सरसिजम् । सरोजम् ।

२५५ । उपसर्गे च संज्ञायाम् ३।२।९९।

"प्रजा स्यात्सन्ततौ जने" ।

---

२५३. सप्तम्याम् इति—सप्तम्यन्त उपपद होने पर जन् धातु से भूतार्थ में ड प्रत्यय होता है [ड में अ शेष रहता है । यह डित् है]

२५४. तत्पुरुष इति—तत्पुरुष समास में कृदन्त उत्तरपद होने पर ङि (सप्तमी एक०) का बहुत करके लोप नहीं होता ।

सरसिजम् सरोजम्—सरसि जातम् (सरोवर में उत्पन्न हुआ)—सप्तम्यन्त 'सरस्' शब्द उपपद होने पर जन् (उत्पन्न होना) धातु से ड प्रत्यय होता है। सरस्+ङि+जन्+अ (ड)→प्रत्यय के डित् होने से अन् (टि) का लोप होकर सरस्+ङि+ज्+अ→सरस्+ङि+ज यहाँ उपपद समास होने पर ङि (सुप्) का लोप प्राप्त हुआ ऊपर के सूत्र के अनुसार सप्तमी का विकल्प से लुक हुआ । जब लुक् नहीं हुआ तो सरसिज रूप बना । लुक् हो जाने पर सन्धि नियम से सरस् के स् को रु, रु को उ तथा अ+उ=ओ होकर 'सरोज' नपुं० प्र० एक० में सरसिजम्, सरोजम् ।

२५५. उपसर्गे इति—उपसर्ग उपपद होने पर जन् धातु से ड प्रत्यय होता है, संज्ञा में ।

२५६। क्तक्तवतू निष्ठा १।१।२६।

एतौ निष्ठासंज्ञौ स्तः।

२५७। निष्ठा ३।२।१०२।

भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात्। तत्र 'तयोरेव'-इति भावकर्मणोः क्तः। 'कर्तरि कृद्' इति कर्तरि क्तवतु। उकावितौ। स्नातं मया।

टिप्पणी—यहां से उपपद रहित धातु से होने वाले कृदन्त प्रत्यय कहे जा रहे हैं।

२५६. क्तेति—क्त और क्तवतु प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा होती है।

२५७. निष्ठा—भूत-अर्थ में वर्तमान धातु से निष्ठा-संज्ञक प्रत्यय होते हैं।

तत्रेति—इन दोनों में से 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः २१२' इसके अनुसार क्त प्रत्यय भाव और कर्म में होता है। क्तवतु प्रत्यय 'कर्तरि कृत् २११' से कर्ता में होता है।

उकाविति—उ और क् इत्संज्ञक हैं। क्तवतु में 'उ' की इत् संज्ञा होती है और क्त, क्तवतु दोनों में क् की इत् संज्ञा होती है। इत्संज्ञक का लोप हो जाता है। ये दोनों प्रत्यय कित् हैं।

स्नातं मया—(मैंने स्नान किया)—भूतार्थ में विद्यमान स्ना (ष्णा शौचे) धातु से भाव में क्त प्रत्यय होकर स्ना+त→नपुं० प्र० एक० में स्नातम्।

विशेष—(१) साधारणतया अकर्मक धातुओं से भाव में 'क्त' होता है, 'स्ना' अकर्मक है। अतः भाव में क्त हुआ है। भाव में (सामान्य) नपुंसक लिङ्ग तथा एक वचन होता है। भाववाच्य का कर्ता तृतीया विभक्ति में होता है, इसी से 'मया' यह दिया गया है।

(२) गत्यर्थक, अकर्मक तथा श्लिष्, शीङ् (सोना), स्था (ठहरना), आस् (बैठना), वस् (रहना), जन् (उत्पन्न होना), रुह् (चढ़ना), जॄ (जीर्ण होना)—इन धातुओं से कर्ता अर्थ (कर्तृवाच्य) में भी क्त प्रत्यय होता है, जैसे गतं देवदत्तेन, गतः देवदत्तः आदि इनके कुछ उदाहरण इस प्रकरण में

स्तुतस्त्वया विष्णुः । विश्वं कृतवान् विष्णुः ।

२५८ । रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ८।२।४२।

आगे मिलेंगे।[1]

स्तुतस्त्वया विष्णुः (तुमने विष्णु की स्तुति की)—भूतार्थ में स्तु (स्तुति करना) धातु से कर्म में क्त प्रत्यय होकर स्तु+त→प्रत्यय के कित् होने से 'उ' को गुण नहीं होता[2] स्तुत पु० प्रथमा एक० में स्तुत. ।

विशेष—सकर्मक धातु से कर्म में क्त प्रत्यय होता है, स्तु धातु सकर्मक है। अतः इससे कर्म में 'क्त' हुआ है। कर्म के अनुसार ही उसके लिङ्ग वचन और विभक्ति होते हैं, यह दिखलाने के लिये स्तुत. विष्णुः' (पुं०, प्रथमा एक०) दिया गया है, कर्म क्त प्रत्यय द्वारा 'उक्त' है, अतः विष्णु (कर्म) में प्रथमा है। कर्म में प्रत्यय होने से कर्ता अनुक्त है। अतः कर्ता तृतीया विभक्ति में है। इसी से 'त्वया' मे तृतीया विभक्ति है।

विश्वं कृतवान् विष्णुः (ससार को विष्णु ने बनाया)—'कृ' धातु से कर्त्ता मे क्तवतु प्रत्यय होता है, कृ+तवद्→कित होने से गुण का अभाव कृतवत्। पुं० प्रथमा एकवचन मे कृतवान्।

विशेष—प्रातिपदिक से सुबन्त पद कैसे बनते हैं, यह कौमुदी के सुबन्त प्रकरण में दिया गया है। यहाँ सक्षेपतः पुल्लिङ्ग में कृतवत्+सु→क्तवतु के उगित् होने से नुम्[3] का आगम कृतवन्त्+सु→सुलोप, त् लोप तथा नान्त की उपधा (अ) को दीर्घ[4] होकर कृतवान् बनता है।

स्त्रीलिङ्ग मे ङीप् (ई) होकर कृतवत्+ई कृतवती प्र० एक० में सुलोप होकर कृतवती (नदी के स्थान)। नपुंसकलिङ्ग में सुलोप होकर कृतवत्।

२५८. रदाभ्यामिति—र् और द से परे निष्ठा के त् को न् हो जाता है और निष्ठा से पूर्व धातु के द् को भी न् हो जाता है।

---

१. गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च ३।४।७२।

२. क्ङिति च १।१।५।

३. उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७।१।७०।

४. सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ६।४।८।

रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नः स्यात्। निष्ठापेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च। शॄ हिंसायाम्। ॠत इत्। रपरः। णत्वम्। शीर्णः। भिन्नः। छिन्नः।

२५९। संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः ८।२।४३।

निष्ठातस्य नः स्यात्। द्राणः। ग्लानः।

२६०। ल्वादिभ्यः ८।२।४४।

एकविंशतेर्लूञादिभ्य प्राग्वत्। लूनः। ज्या धातुः। ग्रहिज्येति

शीर्णः--(नष्ट हुआ)--शॄ (हिंसा करना) धातु से कर्म में क्त प्रत्यय होता है। ॠ को रेफ सहित इकार होकर इर्[1] तथा इ को दीर्घ[2] ई होकर शीर्+त इस अवस्था में र से परे निष्ठा के त् को न् हो जाता है, न् को ण् होकर शीर्+ण→शीर्ण, पु० प्र० एक० में शीर्णः।

भिन्नः (फाड़ा हुआ)—भिद् (फाड़ना) धातु से कर्म में क्त प्रत्यय होता है। भिद्+त यहाँ द् से परे निष्ठा के त् को न तथा पहले द् को भी न् होकर भिन्+न्→भिन्न→भिन्नः। इसी प्रकार छिद् (काटना) छिन्नः (काटा हुआ)।

२५९. संयोगादेरिति—जिस धातु के आदि में व्यञ्जनों का संयोग हो, अन्त में आकार हो तथा उसमें य् र् ल्, व् (यण्) में से कोई अक्षर हो, उस धातु से परे निष्ठा के त् को न् होता है।

द्राणः—द्रा (कुत्सित गति) धातु से क्त प्रत्यय होता है। द्रा+त यहाँ द्रा धातु के आदि में (द् और र् का) संयोग और अन्त में आकार है तथा इसमें र् (यण्) भी है अतः निष्ठा के त् को न् होकर द्रा+न→न् को ण→द्रा+ण→द्राणः।

ग्लानः--(दु.खी)—ग्लै (हर्षक्षय) धातु से क्त प्रत्यय होता है। धातु के ऐ को आ होकर[1] ग्ला+त इस दशा में ऊपर के सूत्र से त् को न् होकर ग्लानः।

२६०. ल्वादिभ्य इति—इक्कीस ... आदि धातुओं से परे

१. ॠत इद् ... ८।२।७७।
२.

संप्रसारणम् ।

२६१ । हलः ६।४।२।

अङ्गावयवाद्धलः परं यत्सम्प्रसारणं तदन्तस्य दीर्घः स्यात् । जीनः ।

२६२ । ओदितश्च ८।२।४५।

भुजो-भुग्नः । टुओश्वि, उच्छूनः ।

निष्ठा के त् को न् होता है ।

ये धातुएँ धातु पाठ में क्र्यादि गण में स्थित हैं ।

लूनः—(काटा हुआ)—लूञ् (काटना) धातु से क्त प्रत्यय होकर लू+त→त को न→लूनः ।

२६१. हल इति—अङ्ग के अवयव व्यञ्जन (हल्) से परे जो सम्प्रसारण हो तदन्त को दीर्घ हो जाता है ।

जीनः—(ओर्ण धातु वाला) ज्या (जीर्ण होना) धातु से क्त प्रत्यय होकर ज्या+त इस दशा में क्त के कित् होने के कारण य को इ (सम्प्रसारण[1]) हो जाता है । ज्+इ+आ त इस दशा में आकार का पूर्वरूप (इ+आ=इ) जि+त—ल्वादि से होने से निष्ठा त् का न् तथा 'हलः' से इ को दीर्घ (ई) जी+न=जीनः ।

२६२. ओदितश्चेति—जिन धातुओं में 'ओ' की इत् संज्ञा होती है, उनसे परे निष्ठा के त् को न् होता है ।

भुग्नः—(टेढ़ा)—भुजो (कौटिल्ये) धातु में 'ओ' की इत्संज्ञा और लोप होकर भुज् शेष रहता है । भुज्+क्त=भुज्+त=ऊपर के सूत्र से त् को न्—भुज् +न्=ज् को ग्[2] होकर भुग्+न=भुग्नः ।

उच्छूनः—(बढ़ा हुआ, सूजा हुआ)—उत् पूर्वक टुओश्वि (गति तथा वृद्धि) धातु से क्त प्रत्यय होता है । उत्+श्वि+त—ओदित् होने से निष्ठा को न्, उत्+श्वि—न इस दशा में व को सम्प्रसारण उ (उत्+श्+उ+इ)

---

१. 'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च' ६।१।१६। सूत्र वर्णित धातुओं को कित् ङित् परे होने पर सम्प्रसारण होता है ।

२. चोः कुः ८।२।३०।

२६३ । शुषः कः ८।२।५१।

निष्ठातस्य कः स्यात् । शुष्कः ।

२६४ । पचो वः ८।२।५२।

पक्वः । क्षै क्षये ।

२६५ । क्षायो मः ८।२।५३।

क्षामः ।

२६६ । *निष्ठायां सेटि* ६।४।५२

णेर्लोपः । भावितः । भावितवान् । दृह हिंसायाम् ।

+म→ह को पूर्वरूप' (उ+इ=उ) उत्+त+उ+न→उ को दीर्घ[2] उत्+त्+न→सन्धि कार्य होकर उत्तूनः ।

२६३. शुष इति—शुष् धातु से परे निष्ठा के त् को क् होता है ।

शुष्कः (सूखा)—शुष्+त→त को क होकर शुष्+क→शुष्क. ।

२६४. पच इति—पच् धातु से परे निष्ठा के त् को व् हो जाता है ।

पक्वः (पका हुआ)—पच् (पकाना) धातु से क्त प्रत्यय होकर पच्+त→त को व→पच्+व→च् को क्[3] पक्वः ।

२६५ क्षाय इति—क्षै (क्षयार्थे) धातु से परे निष्ठा के त् को म् होता है ।

क्षामः (क्षीण, दुबला)—क्षै धातु से क्त प्रत्यय होकर धातु के ऐ को 'आ' हो जाता है, क्षा+त इस दशा में त् को म् होकर क्षा+म→क्षाम । (यहाँ कर्ता में क्त प्रत्यय हुआ है) ।

२६६. निष्ठायामिति—इट् सहित (सेट्) निष्ठासंज्ञक प्रत्यय परे होने पर णि (णिच्) का लोप होता है ।

भावितः भावितवान्—यहाँ णिजन्त (प्रेरणार्थक) भू धातु (भावि से क्त तथा क्तवतु प्रत्यय होते हैं । भावि+क्त, भावि+क्तवतु→त और तवत् के वलादि होने से इट्[4] का आगम होता है । भावि+इ+त इस दशा में भावि ।

---

१. [illegible] ३।१।१८।   ३. [illegible] ६।४।२।

२. चोः कुः ८।२।३०।   ४. आर्धधातुकस्येड् वलादेः ७।२।३५।

२६७ । दृढः स्थूलबलयोः ७।२।२०।

स्थूले बलवति च निपात्यते ।

२६८ । दधातेर्हिः ७।२।४२।

तादौ किति । हितम् ।

२६९ । दो दद्घोः ७।४।४६।

घुसंज्ञकस्य दा इत्यस्य दद् स्यात् तादौ किति । चर्त्वम् । दत्तः ।

इ+तवत् इस दशा में, णि का लोप होकर भाव्+इ+त→भावितः, भावितवान् ।

२६७. दृढ इति—स्थूल और बलवान् अर्थ में 'दृढ' शब्द का निपातन किया जाता है ।

दृढ—(स्थूल, बलवान्)—दृह् (हिंसार्थक) धातु से क्त प्रत्यय होकर निपातन से इट् का अभाव, निष्ठा त को ढ तथा ह् का लोप होकर दृढ शब्द बनता है । (द्र० सिद्धान्त कौमुदी)

टिप्पणी—सिद्धान्त कौमुदी के अनुसार दृह्, दृहि, वृद्धौ, से यह शब्द बनता है । यही उचित भी है 'दृह्' 'हिंसायाम् से नहीं ।

२६८. दधातेरिति—धा धातु को हि आदेश हो जाता है तकारादि कित् प्रत्यय परे होने पर ।

हितम्—धा (धारण तथा पोषण करना) धातु से क्त प्रत्यय होकर धा+क्त→धा+त इस दशा में क्त के कित होने से धा को हि आदेश हो जाता है । हि+त→नपुं० प्रथमा एक० में हितम् ।

२६९. दो दद्घोरिति—घुसंज्ञक दा धातु को दद् आदेश हो जाता है तकारादि कित् प्रत्यय परे होने पर ।

दत्तः (दिया हुआ —दा (देना) धातु से क्त प्रत्यय होकर दा को दद् हो जाता है । दद्+त→द् को त् (चर्त्व) होकर दत्+त→दत्तः ।

टिप्पणी—यहाँ दा को दद् या दथ् आदेश होता है, ये दो मत हैं ।

२७० । लिटः कानज्वा ३।२।१०६।

२७१ । क्वसुश्च ३।२।१०७।

लिटः कानच् क्वसुश्च वा स्तः । तङानावात्मनेपदम् । चक्राणः ।

२७२ । म्वोश्च ८।२।६५।

मान्तस्य धातोर्नत्वं स्यात् म्वोः परतः । जगन्वान् ।

---

२७०. लिट इति—लिट् (लकार) को कानच् आदेश होता है विकल्प से। कानच् में आन शेष रहता है।

२७१. क्वसुरिति—लिट् को क्वसु आदेश भी होता है विकल्प से। क्वसु में वस् शेष रहता है।

तङ इति—तङ् (त से लेकर महिङ् तक धातु से लगने वाले ६ प्रत्यय) तथा आन् (कानच् शानच् आदि) की आत्मनेपद संज्ञा होती है। ये आत्मनेपदी धातुओं से होते हैं यह भाव है।

चक्राणः—(भूतकाल में करता हुआ)—कृ (करना) धातु से परे लिट् के स्थान में कानच होता है। कृ+आन→कानच् (लिट) परे होने पर धातु को द्वित्व कृ+कृ+आन→अभ्यासकार्य[1] होकर च+कृ+आन→ऋ को र् (यण), न को ण होकर चक्राणः।

२२७. म्वोश्चेति—मकारान्त धातु (के अन्त्यवर्ण) को नकार आदेश हो जाता है मकार और वकार परे रहने पर।

जगन्वान्—गम् (जाना) धातु से परे लिट् के स्थान में क्वसु हो जाता है। गम्+वस्→धातु को द्वित्व आदि कार्य होकर जगम्+वस् इस दशा में ऊपर के म् को न् होकर 'जगन्वस्' पुं० प्रथमा एकवचन में जगन्वान्।

टिप्पणी—जगन्वस् शब्द के रूप 'विद्वस्' के समान चलते हैं।

---

१. पहले कृ की अभ्याससंज्ञा [illegible] उसके 'ऋ' को अर् (उरण् रपरः), र लोप [illegible]

२७३ । लट: शतृशानचावप्रथमासमाधिकरणे ३।२।१२४।
अप्रथमान्तेन समानाधिकरणे लट एतौ स्तः । शबादि । पचन्तं चैत्रं पश्य ।

२७४ । आने मुक् ७।२।८२।
अदन्ताङ्गस्य मुगागमः स्यादाने परे । पचमानं चैत्रं पश्य ।

---

२७३. लट इति—प्रथमान्त से भिन्न पद के साथ समानाधिकरण में लट् के स्थान में शतृ और शानच् होते हैं।

शतृ में 'अत्' तथा शानच् में 'आन' शेष रहता है। ये दोनों प्रत्यय वर्तमान काल में होते हैं। शतृ परस्मैपदी धातुओं से होता है तथा शानच् आत्मनेपदी धातुओं से।

शबादीति—शतृ और शानच् प्रत्यय परे होने पर शप् आदि प्रत्यय (विकरण) होते हैं। इन दोनों में श की इत्संज्ञा होने से ये शित् हैं। शित् होने से इनकी सार्वधातुक संज्ञा है अतः भू+शप्+ति=भवति आदि के समान इनके परे रहने पर भी शप् आदि होते हैं। शप् में अ शेष रहता है।

पचन्तं चैत्रं पश्य—(पकाते हुए चैत्र को देखो)—पच् धातु से परे लट् के स्थान में शतृ होता है। पच+अत्→धातु से आगे शप् होकर पच्+अ+अत्→शप् के अ को 'अतो गुणे' से पररूप (अ+अ=अ) होकर पचत्। यह द्वितीयान्त "चैत्र" का समानाधिकरण है इसलिये पुंलिङ्ग द्वितीया एकवचन में पचन्तम्।

टिप्पणी—शतृ प्रत्ययान्त शब्द तीनों लिङ्गों में होते हैं:—नपुं० लिङ्ग में 'पचत्' आदि, पुंलिङ्ग में पचन्, पचन्तौ, पचन्तः इत्यादि तथा स्त्रीलिङ्ग में ङीप्[1] और नुम्[2] (न्) का आगम होकर पचन्ती इत्यादि नदी के समान रूप होते हैं।

२७४. आन इति—अकारान्त अङ्ग को मुक् (म) का आगम होता है, आन परे होने पर।

---

१. उगितश्च ४।१।६। शतृ प्रत्यय में ऋकार की इत् संज्ञा होती है अतः शतृ प्रत्ययान्त शब्द उगित् हैं। २. शप्श्यनोर्नित्यम् ७।१।८१

लडित्यनुवर्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात्प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित् सन् द्विजः।

२७५। विदेः शतुर्वसुः ७।१।३६।

वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा। विदन्। विद्वान्।

पचमानं चैत्रं पश्य (पकाते हुए चैत्र को देखो)—पच धातु से पर के स्थान पर 'शानच्' होता है। पच्+आन (शानच्) होकर पच+अ आन→पच+आन इस अवस्था में अदन्त अङ्ग 'पच' को 'आने मुक्' से आन मुक् (म्) का आगम हो जाता है—पच+म्+आन, पुं० द्वितीया एक० पचमानम्।

टिप्पणी—शानच् प्रत्ययान्त शब्द भी तीनों लिङ्गों में होते हैं—पुं० तथा नपुं० में अकारान्त शब्दों के समान तथा स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय होकर पचमान+आ→पचमाना आदि रमा के समान रूप होते हैं।

लडिति—इस सूत्र में वर्तमाने लट् (३।२।१२३) से लट् की अनुवृत्ति हो ही जाती, फिर भी यहाँ लट् ग्रहण किया है, इससे प्रथमान्त के सामानाधिकरण्य होने पर भी कहीं लट् को शतृ, शानच् हो जाते हैं।

सन् द्विजः (विद्यमान ब्राह्मण)—'अस्ति द्विजः' इस अर्थ में प्रथमान्त का समानाधिकरण अस् धातु से लट् के स्थान में शतृ हो जाता है—अस्+शतृ, इस दशा में धातु के अ का लोप[1] होकर स्+अत्=सत् प्रातिपदिक बनता है। इससे पुं० प्रथमा एक वचन में सन्। नपुं० सत्, स्त्री० सती।

टिप्पणी—सूत्र के अनुसार शतृ और शानच् प्रत्ययों का अप्रथमान्त प्रयोग ही प्राप्त है। इस ज्ञापक से प्रथमान्त प्रयोग भी होते हैं यह बात [illegible] है। वास्तव में प्रथमान्त प्रयोग प्रचुरता से मिलते हैं उनमें से ही 'सन् द्विजः' यह एक है।

२७५. विदेरिति—विद् (ज्ञाने अदा०) से परे शतृ को 'वसु' आदेश हो जाता है विकल्प से। वसु में वस् शेष रहता है।

---

1. श्नसोरल्लोपः ६।४।१११।

|तौ सत्संज्ञौ ११:।
|लृट: सद्वा ३।३।१४।

व्यवस्थितविभाषेयम्। तेनाप्रथमासामानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः सम्बोधने लक्षणहेत्वोश्च नित्यम्। करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य।

विद्वन्, विद्वान — विद् (जानना) धातु से परे लट् के स्थान में शतृ होता है। शतृ के स्थान में विकल्प से वसु होकर विद्+वस्→विद्वस्→पुं० प्र० एक० में विद्वान्। स्त्री० विदुषी। पक्ष में विद्+शतृ (अत्) विदत्—विदन्।

२७३. तौ सदिति—वे शतृ और शानच् सत्संज्ञक होते हैं।

२७४. लृट इति — लृट् के स्थान में सत् संज्ञक (शतृ शानच्) प्रत्यय होते हैं विकल्प से।

व्यवस्थितेति — यह व्यवस्थित विभाषा है अर्थात् सत् संज्ञक प्रत्ययों का विकल्प व्यवस्थित रूप में होता है, कहीं ये नित्य हो जाते हैं कहीं नहीं होते इसलिये अप्रथमा-सामानाधिकरण्य में, प्रत्यय तथा उत्तर पद परे होने पर सम्बोधन में तथा लक्षण और हेतु अर्थ में नित्य (लृट को) शतृ शानच् होते हैं।

इनमें से यहाँ (लघु कौमुदी में) अप्रथमा सामानाधिकरण्य में शतृ आदि का उदाहरण दिया गया है अन्यों (प्रत्यय आदि) में नहीं। इसी के अनुसार सामानाधिकरण्य का उदाहरण नीचे देते हैं।

करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य (भविष्य में कार्य करने वाले को देखो)— धातु से परे लृट् के स्थान में शतृ और शानच् होते हैं। लृट् के स्थान में होने के कारण इनके परे होने पर 'स्य' आ जाता है। कृ+स्य+शतृ तथा कृ+स्य+शान—इट् होकर तथा ऋ को गुण अर् होकर कर्+इ+स्य+अत् तथा कर्+इ+स्य+आन—स् को ष् तथा न् को ण् करिष्यत् करिष्यमाण) पुं० द्वितीया एकवचन में करिष्यन्तं करिष्यमाणम्।

---

१. स्वतन्त्री लघुदी: ३।१।१३।

२७८ । आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ३।२।१३४। क्विपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः ।

२७९ । तृन् ३।२।१३५। कर्ता कटान् ।

२८० । जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङः षाकन् ३।२।१५५।

२८१ । षः प्रत्ययस्य १।३।६। प्रत्ययस्यादिः षः इत्संज्ञः स्यात् । जल्पाकः । भिक्षाकः । कुट्टाकः । लुण्टाकः । वराकः, वराकी ।

---

२७८ आ क्वेरिति—आगे कहे जाने वाले क्विप् पर्यन्त प्रत्यय तच्छील, तद्धर्म तथा तत्साधुकारी कर्ता के अर्थ में होते हैं, यह जानना चाहिये ।

'भ्राज···भासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विप् ३।२।१७७ अन्येभ्योऽपि दृश्यते ३।२।१७८ में विहित क्विप् प्रत्यय पर्यन्त यहाँ से आगे कहे गये प्रत्यय इन तीन अर्थों में होते हैं :—१. उस शील (आदत) वाला, २. उसे धर्म या कर्तव्य मान कर करने वाला, ३. उसे भली प्रकार करने वाला ।

२७९. तृन् इति—धातु से तृन् प्रत्यय होता है तच्छील आदि कर्ता के अर्थ में ।

कर्ता कटान् (चटाई बनाने की आदत वाला, धर्म मानकर चटाई बनाने वाला या अच्छी प्रकार चटाई बनाने वाला)—कृ (करना) धातु से कर्तृशीलस्य (करना जिसका स्वभाव है) इस अर्थ में तृन् प्रत्यय होकर कृ+तृ→ऋ को गुण कर्+तृ=कर्तृ—पुं० एक में कर्ता ।

यहाँ 'कटान्' में कर्म में द्वितीया होती है । 'कर्तृकर्मणोः कृति' से जो षष्ठी प्राप्त होती है उसका 'न लोक०' निषेध हो जाता है ।

२८०. जल्पेति—जल्प, भिक्ष कुट्ट, लुण्ट और वृङ् धातुओं से तच्छील आदि कर्ता के अर्थ में षाकन् प्रत्यय होता है ।

२८१. ष इति—प्रत्यय के आदि ष् की इत् संज्ञा होती है । इत्संज्ञक ष् का लोप हो जाता है तथा षाकन् मे आक बचता है ।

जल्पाकः—जल्पितुं शीलमस्य (बोलना है स्वभाव जिसका)—जल्प्

२८२। सनाशंसभिक्ष उः ३।२।१६८। चिकीर्षुः। आशंसुः भिक्षुः।

२८३। भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपृजुग्रावस्तुवः क्विप्। ३।२।१७...

धातु से षाकन् प्रत्यय होकर जल्प्+आक—जल्पाकः।

इसी प्रकार भिक्ष्+षाकन्→भिक्षाकः (माँगने के स्वभाव वाला)। कुट्ट+षाकन्→कुट्टाकः (कूटने के स्वभाव वाला)। लुण्ट+षाकन्→लुण्टाकः (लूटने के स्वभाव वाला)। वृ (चाहना)+षाकन्→वर्+आक→वराकः (चाह के स्वभाव वाला, बेचारा)।

वराकी—षाकन् प्रत्यय के षित् होने के कारण इससे बने हुए शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीष्[1] प्रत्यय हो जाता है—वराक+ई (ङीष्)→वराकी।

२८२. सनेति—सन् प्रत्ययान्त धातु से तथा आङ् पूर्वक शंस् और भिक्ष् धातु से उ प्रत्यय होता है, तच्छील आदि कर्ता के अर्थ में।

चिकीर्षुः—(करने की इच्छा वाला)—कृ धातु से कर्तुमिच्छति (करना चाहता है) इस अर्थ में 'सन्' प्रत्यय होकर 'चिकीर्ष' सन्नन्त धातु बनती है। चिकीर्ष धातु से उ प्रत्यय होकर चिकीर्ष+उ→ष् से परे वाले अ का लोप[2] चिकीर्ष्+उ→चिकीर्षुः। [illegible]

आशंसुः (आशा करने वाला)—आङ् (उपसर्ग) सहित शंस् धातु से उ प्रत्यय होकर आशंस्+उ→आशंसुः।

भिक्षुः (भिक्षा करने वाला)—भिक्ष् धातु से उ प्रत्यय होकर भिक्ष्+उ→भिक्षुः।

२८३. भ्राजेति—भ्राज्, भास्, धुर्व्, द्युत्, ऊर्ज्, पॄ, जु तथा ग्राव पूर्वक स्तु धातु से क्विप् प्रत्यय होता है तच्छील आदि कर्ता के अर्थ में।

---

1. षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१।
2. अतो लोपः ६।४।४८

विभ्राट्। भाः।

७८४। राल्लोपः ६।४।२१। रेफाच्छ्वोर्लोपः स्यात् क्वौ झलादौ क्ङिति। धूः। विद्युत्। ऊर्क्। पूः।

विभ्राट् (विशेष दीप्ति वाला)—वि पूर्वक भ्राज् (चमकना) धातु से क्विप् प्रत्यय होता है। क्विप् का (सर्वापहार) लोप होकर विभ्राज् शब्द बनता है। प्र० ए० में 'सु' प्रत्यय उसका लोप हो जाता है। ज् को ष् और ष् को ड् तथा ड् को ट् (चर्त्व) होकर विभ्राट्।

भाः (दीप्ति, चमक)—भास्+क्विप्→क्विप् का लोप भास्। प्रथमा एक० 'सु' का लोप होकर भास् के स् को विसर्ग होकर भाः।

७८४. राल्लोप इति—रेफ (र) से परे च्छ् और व् का लोप होता है, क्विप् और झलादि (जिसके आदि में वर्गों के चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, प्रथम अक्षर तथा श ष स ह=झल् हो) कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर।

धूः (धुरी) धुर्व् (हिंसार्थक) धातु से क्विप् प्रत्यय होकर क्विप् का लोप हो जाता है। 'राल्लोप' से व् का लोप होकर धुर् रेफान्त शब्द बनता है। इससे प्रथमा एकवचन में सु प्रत्यय, उसका लोप, उ को दीर्घ (र्वोरुपधायाः) तथा र् को विसर्ग होकर धूः।[1,2]

विद्युत् (बिजली)—वि उपसर्ग सहित द्युत् (चमकना) धातु से क्विप् प्रत्यय होकर उसका लोप हो जाता है। विद्युत् हलन्त शब्द के प्रथमा एक-वचन में 'सु' लोप होकर विद्युत्।

ऊर्क् (बल वाला)—ऊर्ज् धातु से क्विप् प्रत्यय होकर क्विप् का लोप हो जाता है। ऊर्ज् हलन्त शब्द के प्र० ए० में ज् को ग् तथा क् होकर "ऊर्क्"।

पूः (पुर नगर)—पृ (पालन, पूर्ति करना) धातु से क्विप्, क्विप् का लोप। ऋ के ऋ को उर्[3]—पुर् हलन्त शब्द के प्र० ए० में पूः (धूः के समान)।

---

१. र्वोरुपधाया० ८।२।७६, २. खरवसा० ८।३।१५

३. उदोष्ठ्यपूर्वस्य ७।१।१०२, से ऋ को (उ पर) उर् होता है।

दृशिग्रहणादपकर्षाज्जवतेर्दीर्घः जूः । ग्रावस्तुत् । (वा) क्विब्वचिप्रच्छ्-यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च ॥ वक्तीति वाक् ।

२८५ । च्छ्वोः शूडनुनासिके च ६।४।१९। सतुक्कस्य छस्य वस्य च क्रमात् श ऊठ इत्यादेशौ स्तोऽनुनासिके क्वौ झलादौ च

दृशीति—अन्येभ्योऽपि दृश्यते ३।२।१७८। सूत्र से 'दृश्यते' का अपकर्ष होने से (और उसका अर्थ अन्य कार्य भी देखे जाते हैं यह मानने पर) क्विप् प्रत्यय परे होने पर जु धातु को दीर्घ हो जाता है।

टिप्पणी—यहां अपकर्ष का अर्थ है आगे के सूत्र से पहले सूत्र में किसी शब्द का खींचना। (विशेष देखिये विषय-प्रवेश)।

जूः (वेग वाला)—जु (गति) धातु से क्विप्, क्विप् लोप, उ को दीर्घ ऊ। जू कृदन्त शब्द से प्र० एक० में जूः।

ग्रावस्तुत् (पत्थर या पाषाण के गुण गाने वाला)—ग्रावन् उपपद पूर्वक स्तु (स्तुति करना, गुण बखानना) धातु से क्विप् प्रत्यय होकर उसका लोप हो जाता है। धातु से आगे तुक्[1] (त्) का आगम होकर 'ग्रावस्तुत्' कृदन्त शब्द बनता है। प्र० एक० में ग्रावस्तुत्।

क्विबिति (वा)—वच्, प्रच्छ्, आयत पूर्वक स्तु, कट पूर्वक प्रु, जु, और श्रि धातु से क्विप् प्रत्यय होता है, इन्हें दीर्घ होता है और सम्प्रसारण नहीं होता।

वाक्—वक्ति, (इति जो बोलती है, वाणी)—वच् (बोलना) धातु से क्विप् प्रत्यय, उसका लोप और 'अ' को दीर्घ होकर 'वाच्' कृदन्त शब्द बनता है। प्र० एक० में वाक्-(यह स्त्रीलिङ्ग है)।

२८५. च्छ्वोरिति—तुक् सहित छ् (च्छ) को तथा व् को क्रमशः श् और ऊठ् (ऊ) आदेश होते हैं अनुनासिक, क्विप् और झलादि कित् ङित् परे होने पर।

---

१. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१।

विछति। पृच्छतीति प्राट्। आयतं स्तौतीति आयतस्तूः। कटं प्रवते कटप्रूः। जूरुक्तः। श्रयति हरिं श्री।

२८६। दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे ३।२।१८२। दाबादेः ष्ट्रन् स्यात्करणेऽर्थे।

प्राट्—पृच्छति, इति (पूछने वाला)—प्रच्छ् धातु से क्विप् प्रत्यय, उसका लोप, दीर्घ तथा सम्प्रसारण का अभाव होने पर प्राछ्→ऊपर के सूत्र से च्छ् को श् आदेश होकर प्राश् कृदन्त से प्र० एक० में श् को ष्, ड् तथा ट् होकर प्राट् (विभ्राट् के समान)।

आयतस्तूः—आयतं स्तौति, इति (विस्तार से गुण गाने वाला)—आयत पूर्वक स्तु धातु से क्विप्, उसका लोप, दीर्घ होकर आयतस्तू बनता है। प्र० एक० में आयतस्तूः।

कटप्रूः—कटं प्रवते (चटाई बनाते वाला) कट पूर्वक प्रु धातु से क्विप् तथा दीर्घ होकर 'कटप्रू'। प्र० एक० कटप्रूः।

जूरुक्त इति—'जूः' ऊपर कहा जा चुका है।

श्रीः—(लक्ष्मी, सम्पत्ति)—"श्रयति हरिम् (हरि का आश्रय लेने वाली) यह एक अर्थ दिखलाया गया है यथार्थ में तो "श्रयति, इति श्रीः" यही व्युत्पत्ति है। श्रि (सेवा करना) धातु से क्विप् तथा दीर्घ होकर श्री। यह स्त्रीलिङ्ग है। यह 'ङी' प्रत्ययान्त नहीं अतः सु का लोप नहीं होता अपितु स् को विसर्ग होकर 'श्रीः'।

२८६. दाम्नीति—दाप् (काटना), नी (ले जाना), शस् (हिंसा करना); यु (मिलाना), युज् (युक्त करना), स्तु (स्तुति करना), तुद् (पीड़ा देना), सि (बांधना), सिच् (सींचना), मिह् (सींचना, मूत्र त्याग करना), पत् (गिरना), दश् (काटना), नह् (बांधना), इन धातुओं से ष्ट्रन् प्रत्यय होता है करण अर्थ में।

ष्ट्रन् में से ष् और न् चला जाता है। ष् के चले जाने पर ट् अपने रूप में आ जाता है और प्रत्यय का 'त्र' रूप रहता है।

२८८। अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः ३।२।१८४ अरित्रम्। लवित्रम्। धुवित्रम्। सवित्रम्। सहित्रम्। चरित्रम्।

मेढ्रम् (मूत्रेन्द्रिय)—मिह् धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय गुण मेह्+त्र इस दशा में ह् को ढ्[1], त् को ध्[2] तथा ढ्[3] और पहले ढ् का लोप[4] होकर मे+ढ्र—मेढ्रम्।

पत्त्रम् (सवारी,, पत्ता, पंख आदि)—पत्+त्र—होकर पत्त्रम्।

दंष्ट्रा (दाढ)—दंश्+त्र—श् को ष् होकर दंष्+त्र—त् को ट् (ष्टुत्व) दंष्ट्र स्त्री बोधक टाप्[5] प्रत्यय होकर दंष्ट्रा।

नद्ध्री (हल आदि में बाँधने की रस्सी, नाडी)—नह् धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय होकर ह् को ध् (नहो धः) तथा त को ध होकर नध्+ध्र—पहले ध् को द-- नद्ध्र—षित् होने से ङीप् प्रत्यय होकर नद्ध्री।

२८८. अर्तीति—ऋ (जाना), लू (काटना), धू (कांपना), सू (प्रेरणा देना), खन् (खोदना), सह् (सहन करना), चर् (जाना खाना) इन धातुओं से इत्र प्रत्यय होता है।

अरित्रम् (नाव चलाने का डंडा)—ऋ धातु से इत्र प्रत्यय होकर ऋ+इत्र—ऋ को गुण (अर्) होकर अर्+इत्र—अरित्र, नपुं० प्रथमा एक० में अरित्रम्।

टिप्पणी—इत्र प्रत्ययान्त शब्द प्रायेण नपुंसकलिङ्ग में होते हैं।

लवित्रम् (चाकू, छुरा)—लू धातु से इत्र प्रत्यय होकर लू+इत्र—ऊ को गुण ओ तथा ओ को अव् लवित्रम्।

धुवित्रम्[6] (पंखा)—धू धातु से इत्र प्रत्यय होकर धू+इत्र इस

---

१. हो ढः ८।२।३१। २. झषस्तथोर्धोऽधः ८।२।४०। ३ ष्टुना ष्टुः ८।४।४१। से ष्टुत्व। ४. ढो ढे लोपः ८।३।१३। ५. अजाद्यतष्टाप् ४।१।४ प्रत्यय के षित् होने पर भी अजादि गण मे होने के कारण टाप् होता है। ६. 'धुवित्रं व्यजनं तद् यद्रचितं मृगचर्मणा' अमरकोष।

२८६। पुवः संज्ञायाम् ३।२।१८५। पवित्रम्।

इति पूर्वकृदन्तम् ॥३॥

अथोणादयः ॥३॥

कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् ॥१॥

दशा में घु धातु के कुटादि मे होने के कारण 'इत्र' को ङित् के समान मान लिया जाता है तथा गुण नहीं होता। उ को उव् (उवङ्) होकर घु+उव्+इत्र—घुवित्रम्।

सवित्रम् (प्रेरणा का साधन)—सू धातु से इत्र प्रत्यय, उ को गुण ओ तथा ओ को अव् होकर सवित्रम्।

इसी प्रकार खन्+इत्र→खनित्रम् (कुदाल)—सह्+इत्र→सहित्रम् (सहन करने का साधन), चर्+इत्र→चरित्रम्।

२८६. पुव इति—पू धातु से संज्ञा में इत्र प्रत्यय होता है।

पवित्रम् (पवित्र करने का साधन)—पू+इत्र→ऊ को गुण ओ तथा अव् आदेश होकर पवित्रम्। यह उस दर्भ की संज्ञा है जो यज्ञादि के अवसर पर अनामिका अंगुलि में अगूठी के समान धारण किया जाता है। 'अस्त्री कुशं कुशो दर्भः पवित्रम्' अमरकोष ॥ इति पूर्वकृदन्तम् ॥२॥

अथोणादयः—जिन प्रत्ययों के आदि में उण् प्रत्यय है वे उणादि प्रत्यय कहलाते हैं। ये प्रत्यय कृत् प्रत्यय के अन्तर्गत हैं, किन्तु अष्टाध्यायी से पृथक् ५ पाद जिनमें ७५९ सूत्र हैं उणादि कोष या 'उणादि प्रकरण' नाम से प्रसिद्ध हैं।

कृवेति—कृ (करना), वा (गति, गन्ध), पा (पीना, रक्षा करना), जि (जीतना), मि (फेंकना), स्वद् (चखना), साध् (सिद्ध करना), अश् (व्याप्त होना) इन धातुओं से उण् प्रत्यय होता है।

कारुः (शिल्पी)—करोति इति इस अर्थ में कृ धातु से उण् प्रत्यय

२. गाङ् कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् १।२।१। १. विङति च १।१।५

करोतीति कारुः। वातीति वायुः। पायुर्गुदम्। जायुरौषधम्। मायुः पित्तम्। स्वादुः। साध्नोति परकार्यमिति साधुः। आशु शीघ्रम्।

२६०। उणादयो बहुलम् ३।३।१। एते वर्तमाने संज्ञायां च बहुलं स्युः। केचिदविहिता अप्यूह्याः।

होकर कृ+उ→ऋ को वृद्धि आर् कार्+उ→कारु; प्र० एक० में कारुः।

वायु—वाति इति (जो बहती है, निरन्तर चलती है)—इस अर्थ में वा+उण्→युक्[1] (य्) का आगम होकर वा+य्+उ→वायु। इसी प्रकार पा+य् (युक्)+उण् पायुः (गुदा)।

जायुः—(औषध) जयति रोगान् इति (रोगों को जीतने वाली) जि+उण्→णित् होने से 'इ' को वृद्धि[2] (ऐ) तथा ऐ को आय् होकर जाय्+उ→जायुः, इसी प्रकार मि+उण्→मायुः (पित्त)।

स्वादुः (स्वादिष्ट)—स्वद् धातु से उण् प्रत्यय, अ को वृद्धि[3] स्वाद्+उ→स्वादुः)।

साधुः (श्रेष्ठ, उत्तम) साध्नोति परकार्यमिति (दूसरों के कार्य सिद्ध करने वाला) इस व्युत्पत्ति में साध् धातु से उण् प्रत्यय होकर साधुः।

आशु (शीघ्र)—अश्नुते इति (जो व्यापक सा हो जाता है)—अश्+उण्→अ को वृद्धि (आ) आश्+उ→आशु।

आशु शब्द शीघ्रता अर्थ में अव्यय है। शीघ्रता युक्त द्रव्य के अर्थ में तीनों लिङ्गों में, विशेषण रूप में, इसका प्रयोग होता है।

२६०. उणादय इति—उण् आदि प्रत्यय वर्तमानकाल में तथा संज्ञा में बहुल करके होते हैं।

केचिदिति—कुछ अविहित (किसी सूत्र द्वारा जिनका विधान नहीं किया गया) भी कल्पित कर लेने चाहियें। उणादि प्रत्ययों को किस आधार पर

---

१. आतो युक् चिण् कृतोः ७।३।३३.   २. अचोञ्णिति ७।२।११५
३. अत उपधायाः ७।२।११६।

"संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु" इत्युणादयः ॥३॥

अथोत्तरकृदन्तप्रकरणम् ॥४॥

२९१ । तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ३।३।१०।
क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यत्यर्थे धातोरेतौ स्त. मान्तत्वादव्य

कल्पना की जाती है यह अग्रिम श्लोक में बतलाया है :—

संज्ञास्विति—संज्ञा शब्दों में (पहले) धातु के रूप की कल्पना करके तब उनसे परे प्रत्ययों की कल्पना करनी चाहिये । प्रत्ययों में कार्य (गुण, वृद्धि तथा इनका अभाव आदि) के अनुसार अनुबन्ध (कित्व, ङित्व या क्, ङ् आदि) समझने चाहियें । उणादि में यही शास्त्र है । जैसे—

"शकुल" यह प्रयोग देखा जाता है । इसकी शक् धातु और उलच् प्रत्यय मानकर व्युत्पत्ति की जाती है । उलच् में च् अनुबन्ध स्वरादि की दृष्टि से जोड़ा गया है ।

टिप्पणी—सूत्रकार के बहुल ग्रहण से तथा इस भाष्यस्थ श्लोक के आधार (प्रयुक्त) संज्ञा-शब्दों में धातु तथा प्रत्ययों की यथासंभव कल्पना करके नकी व्युत्पत्ति की जाती है । 'कृवापाजि०' इत्यादि शाकटायन प्रणीत उणादि त्र इसी का प्रपञ्च मात्र है अर्थात् इसकी विस्तृत व्याख्या है । इत्युणादयः ॥३॥

अथोत्तरकृदन्तम् । २९१ । तुमुन् इति—एक क्रिया के लिये की जाने वाली सरी क्रिया समीप रहने पर (उपपद) धातु से भविष्यत् अर्थ में तुमुन् और ण्वुल् ये दोनों प्रत्यय होते हैं ।

'तुमुन्' में से 'तुम्' शेष रहता है और ण्वुल में से 'वु' । वु को अक हो जाता है ।

टिप्पणी—(१) जिस क्रिया के लिये दूसरी क्रिया की जाती है उससे तुमुन् और ण्वुल् प्रत्यय होते हैं । तुमुन् प्रत्ययान्त अंग्रेजी के Gerundial

यत्वम् । कृष्णं द्रष्टुं याति । कृष्ण दर्शको याति ।

---

infinitive का काम करता है, जैसे-कृष्णं द्रष्टुं याति—He goes to see Krishna, यहाँ 'द्रष्टुम्'—देखने के लिये—to see इस अर्थ में आया है ।

(२) सूत्रार्थ में 'भविष्यत् अर्थ में' कहने का तात्पर्य यह है कि 'तुमुन्नन्त' की क्रिया दूसरी क्रिया की अपेक्षा भविष्य में होती है ।[1] इसलिये 'कृष्णं द्रष्टुमगच्छत्' यह प्रयोग भी होता है, यहाँ भी दर्शन क्रिया गमन क्रिया के उपरान्त (भविष्य में) होती है ।

(३) तुमुन् प्रत्ययान्त का कर्मवाच्य की क्रिया के साथ भी इसी रूप में प्रयोग होता है, जैसे—'रामो ग्रामं गन्तुमारेभे, रामेण ग्राम गन्तुमारेभे । किन्तु जब तुमुन्नन्त तथा मुख्य क्रिया का एक ही कर्म होता है तो कर्मवाच्य में वह कर्म प्रथमा में रक्खा जाता है जैसे—स ग्रन्थं पठितुमिच्छति, तेन ग्रन्थः पठितुमिष्यते, (देखिये आप्टे १८६) ।

कृन्मेजन्तः—मकारान्त होने से तुमुन् प्रत्ययान्त शब्द अव्यय होते हैं । 'कृन्मेजन्तः १।१।३९' सूत्र से आचार्य पाणिनि ने मकारान्त और एजन्त कृदन्तों की अव्यय संज्ञा की है ।

कृष्णं द्रष्टुं याति (कृष्ण को देखने के लिये जाता है)—यहाँ दो क्रियायें हैं देखना और जाना । 'जाना' क्रिया देखने के लिये की जा रही है अर्थात् जाने का प्रयोजन है देखना । इसलिये देखना अर्थ वाली 'दृश्' धातु से तुमुन् प्रत्यय होता है । दृश्+तुम् इस दशा में ऋ से परे अम्[3] का आगम होकर (द्+र+श्)+तुम् ऋ को र् (यण्) →(द्+र्+अ+श्+तुम्→द्रश्+तुम्→श् को

---

१. सि० को० बालकृष्ण सक्सेना सं० व्या०, पृ० ३१२ ।

२. सि०, वही, पृ० ३१३ ।

३. सृजिदृशोर्झल्यमकिति ६।१।५८—सृज् और दृश् धातु को झलादि अकित् प्रत्यय परे होने पर अम् का आगम होता है जैसे स्रष्टा, द्रष्टा आदि ।

२६२ । कालसमयवेलासु तुमुन् ३।३।१६७। कालार्थेषूपपदे तुमुन् स्यात् । कालः समयो वेला वा भोक्तुम् ।

२६३ । भावे ३।३।१८। सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातो घञ् स्यात् । पाकः ।

ष्[1] यथा त् को ट् (ष्टुत्व) होकर द्रष्+टुम्→द्रष्टुम् ।

यहाँ 'कृष्णम्' में 'न लोकाव्यय०' से षष्ठी का निषेध होकर कर्म द्वितीया विभक्ति होती है ।

कृष्णं दर्शको याति (कृष्ण को देखने वाला जाता है)—यहाँ भी क्रियार्थ क्रिया 'याति' उपपद है इसलिये दृश् धातु से ण्वुल् प्रत्यय होकर दृश्→वु→ को अक आदेश दृश्+अक→ऋ को गुण अर्→दर्+श्+अक=दर्शक, पुं प्र० एक० में दर्शकः ।

ण्वुल् प्रत्ययान्त शब्द तीनों लिङ्गों में होते हैं । यह प्रत्यय कर्ता में होता है । 'कृष्णम्' में कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है । यहाँ कृदन्त के योग में षष्ठी नहीं होती क्योंकि 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' से षष्ठी का निषेध हो जाता है ।

२६२. कालेति—कालार्थक शब्द उपपद होने पर धातु से तुमुन् प्रत्यय होता है ।

कालः समयो वेला वा भोक्तुम् (खाने का समय है)—कालवाची शब्द उपपद होने पर भुज् धातु से तुमुन् प्रत्यय हुआ है । भुज्+तुम्→उ को गुण ओ तथा ज् को ग्[2] एवं क् होकर 'भोक्तुम्' ।

२६३. भावे—सिद्ध अवस्था को प्राप्त धातु के अर्थ को कहने में धातु से घञ् प्रत्यय होता है । घञ् में 'अ' शेष रहता है ।

---

१. व्रश्चभ्रस्ज० ८।२।३६

२. चोः कुः ८।२।३०।

२९४। अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् ३।३।१९। कर्तृभिन्ने कारके घञ् स्यात्।

२९५। घञि च भावकरणयोः ६।४।२७। रञ्जेर्नलोपः स्यात्। रागः।

'भाव' का अभिप्राय है—धातु का अर्थ। यह दो प्रकार का होता है—१. साध्यावस्थापन्न, २. सिद्धावस्थापन्न। धात्वर्थ की साध्यता तिङ् प्रत्यय से प्रकट की जाती है, जैसे—'पचति' (पकाता है) क्रिया सिद्धि नहीं हुई, साध्य है। धात्वर्थ की सिद्धता कृदन्त से प्रकट होती है, जैसे पाक। यहाँ कृदन्त के द्वारा धातु का अर्थ भाव द्रव्य के रूप में प्रकट होता है और इसके साथ लिङ्ग वचन आदि का अन्वय होता है[1]।

पाकः (पकाने का भाव)—पच् धातु से भाव में घञ् प्रत्यय होता है। पच्+घञ्→पच्+अ+प्रत्यय के ञित् होने से प (उपधा) को वृद्धि[2] आ होकर पाच्+अ→च् को क्[3] होकर पाक्+अ→पाक, पु० प्रथमा एक० में पाकः।

टिप्पणी—घञन्त शब्द पुंलिङ्ग में होते हैं।

२९४. अकर्तरीति—कर्ता से भिन्न कारक में, संज्ञा के विषय में धातु से घञ् प्रत्यय होता है।

२९५. घञीति—भाव और करण में जो घञ्, उसके परे होने पर रञ्ज् धातु के नकार का लोप हो जाता है।

रागः—रञ्जनम् रज्यतेऽनेन इति वा (रँगना या जिससे रंगा जाता है अर्थात् रंग)—रञ्ज् (रंगना) धातु से भाव में (रञ्जनम्) या करण में (रज्यतेऽनेन) घञ् प्रत्यय होकर ऊपर के सूत्रानुसार दोनों अर्थों में धातु के न् (ञ्)

---

१. 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते' (भाष्य)।

२. अत उपधायाः ७।२।११६।

३. चजोः कु घिण्ण्यतोः ७।३।५२। घित् और ण्यत् प्रत्यय परे होने पर धातु के च्, ज् को क्, ग् होते हैं।

२९९। ड्वितः क्त्रिः ३।३।८८।

३००। क्त्रेर्मम् नित्यम् ४।४।२०। क्त्रिप्रत्ययान्ताद् मप् निर्वृ... ऽर्थे। पाकेन निर्वृत्तं पक्त्रिमम्। डुवप्-उप्त्रिमम्।

...ल का नाम] प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन् जनाः इति प्रस्थः [पर्वत शिखर]—प्र पूर्व... था धातु से अधिकरण में क प्रत्यय होकर प्र+स्था→अ प्रत्यय के कि... ने से आकार का लोप[1] प्र+स्थ्+अ→प्रस्थः।

विघ्नः (विघ्न, अन्तराय)—'विघ्नन्ति मनांसि अस्मिन्' (जिसमें मन मा... ते हैं)—इस विग्रह में विपूर्वक हन् धातु से क प्रत्यय होता है। वि+... न्→अ (क) इस दशा में हन् के अ (उपधा) का लोप[2] होकर ह् को घ... कुत्व) होकर विघ्+न्+अ+विघ्न.।

२९९. ड्वित इति—जिस धातु का डु इत्संज्ञक होता है (ड्वित्) उससे... रे क्त्रि प्रत्यय होता है। (क्त्रि में त्रि शेष रहता है)।

३००. क्त्रेरिति—क्त्रि प्रत्ययान्त से नित्य मप् प्रत्यय होता है निर्वृत्त... निष्पन्न या सिद्ध होना) अर्थ में।

टिप्पणी—सूत्र में 'नित्यम्' कहने से यह क्त्रि प्रत्यय मप् के विषय में... निर्वृत्त अर्थ में) ही होता है।

पक्त्रिमम्[4]—पाकेन निर्वृत्तम् (पाक से निष्पन्न, पका हुआ)—डुपचष्... ाके यह धातुपाठ में पठित धातु का रूप है। यहाँ 'डु' इत्संज्ञक है (तथा ष्...) अतः पच् धातु ड्वित् है। इससे क्त्रि प्रत्यय होकर पच्+त्रि→प् को... [5] पक्त्रि→ऊपर के सूत्र से मप् प्रत्यय होकर पक्त्रि+म→पक्त्रिमम्।

१. आतो लोप इटि च ६।४।६४।
२. गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि ६।४।९८।
३. हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ७।३।५४।
४. Ripened, Matured काले से०-७७७।
५. चोः कुः ८।२।३०।

३०१ । ट्वितोऽथुच् ३।३।८९। टुवेपृ कम्पने । वेपथुः ।

३०२ । यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् ३।३।९०। यज्ञः । याञ्चा । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः ।

उप्त्रिमम्—वापेन निर्वृत्तम् (बोने से निष्पन्न)—डुवप् बीजसन्ताने (बीज बोना) धातु से त्रि प्रत्यय तथा मप् प्रत्यय होकर वप+त्रि+म यहाँ प्रत्यय के कित् होने से व् को उ (सम्प्रसारण[1]) हो जाता है। उप्=त्रि+म→ उप्त्रिमम्।

टिप्पणी—इसी प्रकार 'कृत्रिम' शब्द भी बनता है—(डुकृञ्+क्त्रि+मप्)। पक्त्रिम आदि शब्दों के विशेष्य के अनुसार लिङ्ग वचन होते हैं।

३०१. ट्वित इति—जिस धातु का 'टु' इत्संज्ञक होता है उससे अथुच् प्रत्यय होता है (भाव में)। (अथुच् में अथु शेष रहता है)।

वेपथु (कम्पन)—टुवेपृ कम्पने (काँपना) धातु से अथुच् प्रत्यय होकर वेप्+अथु→वेपथु→पुं० प्रथमा एकवचन में वेपथुः। [अथु प्रत्ययान्त पुं० में होते हैं]।

३०२. यजेति—यज्, याच्, यत्, विच्छ्, प्रच्छ् और रक्ष् धातु से नङ् प्रत्यय होता है, भाव में। नङ् में न शेष रहता है।

यज्ञः (यज्ञ, हवन)—यज् [देवपूजा आदि] धातु से नङ् प्रत्यय होकर यज्+न→न् को ञ् [श्चुत्व[2]] यज्+ञ→ज्+ञ=ज्ञ यज्ञ, पुं० प्र० ए०व० यज्ञः।

टिप्पणी :—नङ् प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग में होते हैं केवल याच्ञा शब्द स्त्रीलिङ्ग है।

याच्ञा (याचना)—याच् (माँगना) धातु से नङ् प्रत्यय होकर याच्+न न् को ञ् याच्ञ स्त्रीबोधक प्रत्यय टाप्[3] होकर याच्ञ+आ—याच्ञा।

---

१. वचिस्वपियजादीनां किति ६।१।१५। वप् धातु यजादि में है।

२. स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४० ३. अजाद्यतष्टाप् ४।१।४

३०३ । स्वपो नन् ३।३।९१। स्वप्नः ।

३०४ । उपसर्गे घोः किः ३।३।९२। प्रधिः । उपधिः ।

यत्नः [प्रयत्न]—यत् [प्रयत्न करना] धातु से नङ् प्रत्यय होकर यत्+न—यत्नः ।

विश्नः [गति, कान्ति]—विच्छ् (जाना) धातु से नङ् प्रत्यय होकर विच्छ्+न इस दशा में च्छ् को श्[1] होकर विश्+न—विश्नः ।

प्रश्नः—प्रच्छ् [पूछना] धातु से नङ् प्रत्यय तथा च्छ् को श् ।

रक्ष्णः—[रक्षा] रक्ष् धातु से नङ् प्रत्यय तथा न् को ण्[2] होकर रक्ष्णः ।

३०३. स्वपः इति—स्वप् धातु से नन् प्रत्यय होता है, भाव में । नन् में न शेष रहता है ।

स्वप्नः [सोना, स्वप्न]—स्वप् [सोना] धातु से नन् प्रत्यय होकर स्वप्+न→स्वप्नः ।

३०४. उपसर्गे इति—उपसर्ग पूर्वक घु संज्ञक धातुओं से कि प्रत्यय होता है, भाव में तथा कर्तृ भिन्न कारक में ।

डुदाञ् (देना), दाण् (देना), दो (तोड़ना), देङ् (रक्षा करना)—इन दा-रूप को प्राप्त होने वाली तथा डुधाञ् (धारण करना) धेट् (पीना) इन धा-रूप को प्राप्त होने वाली धातुओं की घु[3] संज्ञा होती है ।

कि प्रत्यय मे इ शेष रहता है कि प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं ।

प्रधिः (चक्र की परिधि, पहिये का घेरा)—प्रपूर्वक धा धातु से कि प्रत्यय होकर प्रधा+इ—इस दशा में आकार का लोप[4] प्रध्+इ—प्रधि पुं० प्रथमा एकवचन में प्रधिः ।

उपधिः (कपट, दम्भ)—उपपूर्वक धा धातु से कि प्रत्यय होकर उपधा+इ→आकार का लोप उपधिः ।

---

१. च्छ्वोः शूडनुनासिके च ६।४।१९ २. रषाभ्यां नो णः समानपदे ।८।४।१। ३. दाधाघ्वदाप् १।१।२०। ४. आतो लोप इटि च ६।४।६४।

३०५। स्त्रियां क्तिन् ३।३।९४। स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिन् स्यात्। घञोऽपवादः। कृतिः। स्तुतिः ※ (वा) ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः॥ तेन नत्वम्। कीर्णिः। लूनिः। धूनिः। पूनिः।

टिप्पणी—(१) अधिकरण अर्थ में भी कि प्रत्यय होता है, जैसे—जलानि धीयन्तेऽस्मिन्निति जलधिः, नीरधि, उदधि आदि।

(२) उपाधि, व्याधि, आधि, सन्धि, अभिसन्धि (अभिप्राय) निधि (कोष) विधि (ब्रह्मा, विधान) तथा समाधि आदि शब्द भी कि प्रत्ययान्त है।

(३) 'कि' प्रत्ययान्त शब्द संस्कृत में पुंल्लिङ्ग होते।

३०५. स्त्रियांक्तिन्—स्त्रीलिङ्ग में भाव में क्तिन् प्रत्यय होता है। (क्तिन् में ति शेष रहता है)। यह घञ् प्रत्यय का बाधक है अर्थात् स्त्रीलिङ्ग मे भाव में क्तिन् होता है घञ् नहीं।

कृतिः (कार्य)—कृ धातु से क्तिन प्रत्यय होकर कृ+ति→स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एक० मे कृतिः। इसी प्रकार स्तु+क्तिन्→स्तुतिः।

ऋल्वादिभ्य इति (वा)—ऋकारान्त और लू आदि धातुओं से परे क्तिन् प्रत्यय निष्ठा (क्त, क्तवतु) के समान होता है, यह कहना चाहिये।

तेनेति—निष्ठा के समान होने से क्तिन् के त को भी न हो जाता है।

कीर्णिः (विक्षेप, बिखेरना)—कॄ (बिखेरना) धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर कॄ+ति→ऋकार को इर्[1] किर्+ति→इ को दीर्घ[2] कीर्+ति→निष्ठा के समान होने से र् से परे त् को न्[3] तथा न् को ण् होकर कीर्णि→कीर्णिः। इसी प्रकार गॄ+क्तिन्=गीर्णिः।

लूनिः (काटना)—लू (काटना) धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर ति को

---

१. ॠत इद्धातोः ७।१।१००।
२. हलि च ८।२।७७।
३. रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ८।२।४२।

॥ (वा) सम्पदादिभ्यः क्विप् ॥ सम्पत् । विपत् । आपत् । ॥ (वा) क्तिन्नपीष्यते ॥ सम्पत्तिः । विपत्तिः । आपत्तिः ।

३०६ । ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च ३।३।९७। । निपात्यन्ते ।

निष्ठावत् हो जाने से त का न् होता है इसी प्रकार धू+क्तिन्→धूनिः (कम्पन) पू+क्तिन्→पूनिः (पवित्रता) ।

सम्पदिति—(वा) सम् आदि उपसर्ग पूर्वक पद् धातु से क्विप् प्रत्यय होता है, भाव में (स्त्रीलिङ्ग में) ।

सम्पत् (सम्पत्ति) 'सम्' पूर्वक पद् धातु से क्विप् प्रत्यय, क्विप् का सं (सर्वापहार) सम्पद्, स्त्री० प्र० एक० में सम्पत् । इसी प्रकार वि-पद्+क्विप्→विपत् । आ+पद्+क्विप्→आपत् । वाऽवसाने से

क्तिन्निति—सम् आदि उपसर्ग पूर्वक पद् धातु से भाव में (स्त्रीलिङ्ग में) क्तिन् भी इष्ट है ।

सम्पत्तिः-सम्+पद्+क्तिन→सम्पद्+ति→दकार को तकार[1] (चर्त्व) होकर सम्पत्तिः । इसी प्रकार विपत्तिः, आपत्तिः ।

३०६ ऊतीति— ऊति, यूति, जूति, साति, हेति और कीर्ति इन क्तिन् प्रत्ययान्त शब्दों का निपातन किया गया है ।

इनमे जो कार्य किसी नियम (सूत्र) से प्राप्त नहीं, वे सब निपातन से सिद्ध हो जाते हैं ।

ऊति (रक्षा)—अव् (रक्षा करना) धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर अव्+ति→अकार तथा वकार के स्थान मे (ज्वर० आदि सूत्र से) ऊ (ऊठ्) होकर ऊ+ति→ऊतिः । उदात्त स्वर के लिये सूत्र मे निपातन किया गया है ।

---

१. स्वादिभ्यः ८।२।४४।
२. खरि च ८।४।५५।

३०७। ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च ६।४।२० एषा-मुपधावकारयोरूठ् स्यादनुनासिके क्वौ झलादौ क्ङिति। अतः क्विप्। जूः। तूः। स्रूः। ऊः। मूः।

यूति[1]—यु (मिश्रण करना) धातु से क्तिन् होकर निपातन से दीर्घ होता है। इसी प्रकार जु+क्तिन्[1]→जूतिः (वेग) में भी निपातन से दीर्घ होता है।

सातिः[2] (अन्त, अवसान)—षो (अन्तकर्म) धातु से क्तिन् होकर सो+ति इस अवस्था में ओ को इ प्राप्त[3] था निपातन से उसका अभाव हो जाता है तथा ओ को आ होकर[4] सातिः।

हेतिः—(हथियार)—हन् धातु से क्तिन् होकर निपातन में न् को इ→ होकर ह+इ+ति→गुण (अ+इ=ए) हेतिः।

कीर्तिः (ख्याति)—स्वार्थ णिजन्त (चुरादि) कृत् (संशब्दने[5]) धातु से युच्[6] प्रत्यय प्राप्त था किन्तु यहाँ निपातन से क्तिन् होता है। कृत्+ति→ ऋ को इर्[7] किर्+ति→इ को दीर्घ[8] ई कीर्तिः।

३०७. ज्वरेति—ज्वर, त्वर, स्रिव्, अव्, मव्—इन धातुओं के उपधा (अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण) तथा व् को ऊठ् होता है अनुनासिक, क्वि तथा झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहने पर।

अतः क्विप् इति—इसलिये (इन धातुओं से) क्विप् भी होता है अर्थात् इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय परे होने पर ज्वर् आदि को ऊठ् विधान किया गया है अतः इनसे क्विप् होता है।

---

१. जवन जूतिः (अमरकोष)।
२. सातिस्त्ववसाने स्यात् (अमरकोष)।
३. द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति ७।४।४०।
४. आदेच उपदेशेऽशिति ६।१।४५।
५. To name, to glorify—काले।
६. ण्यासश्रन्थो युच् ३।३।१०७।
७. उपधायाश्च ७।१।१०१।
८. उपधायां च ८।२।७८।

३०८। इच्छा ३।३।१०१। इषेर्निपातोऽयम्।

३०९। अ प्रत्ययात् ३।३।१०२। प्रत्ययान्तेभ्यो धातुभ्यः स्त्रिया-

जू (रोग)—ज्वर् (रोगे) धातु से क्विप् प्रत्यय, उसका लोप, वकार तथा प्रकार (उपधा) को ऊ (ऊठ्) होकर जूर् शब्द बनता है। जूर् से प्रथमा में जूः, जुरौ, जुरः। इसी प्रकार त्वर्→क्विप्→तूर्→तूः (शीघ्रकारी)।

स्रूः— (शोषक या जाने वाला,—स्रिव् (गति तथा शोषण)—धातु से क्विप् प्रत्यय, उसका लोप, इकार और वकार को ऊठ् होकर 'स्रू' ऊकारान्त शब्द बनता है। उससे स्रूः, स्रुवौ, स्रुः आदि।

ऊः (रक्षक) – अव् (रक्षा करना)+क्विप्→आकार तथा वकार को ऊठ् होकर 'ऊ' शब्द बनता है। उससे ऊः, उवौ, उवः आदि।

मू (बाँधने वाला)—मव (बाँधना)+क्विप्→आकार और वकार को ऊठ् होकर 'मू' उससे मूः, मुवौ, मुवः आदि।

टिप्पणी—ज्वर् आदि सूत्र के प्रसङ्ग से यहाँ क्विप् प्रत्यय के 'जूः' आदि रूप दे दिये गये हैं, इन शब्दों में क्विप् प्रत्यय कर्ता में होता है, भाव में नहीं तथा इस क्विप् का स्त्रीलिङ्ग से भी सम्बन्ध नहीं।

३०८. इच्छेति – इष् (इच्छा करना) धातु से इच्छा शब्द का निपातन किया गया है।

इच्छा—इष् धातु के निपातन द्वारा भाव में श (अ) प्रत्यय होता है। प्रत्यय के शित् होने से सार्वधातुक हो जाने के कारण यक्[1] प्राप्त था निपातन द्वारा उसका अभाव हो जाता है। इस प्रकार इष्+अ→ष् को छ[2] होकर इच्छ्+अ→छ से पूर्व त् (तुक्[3]), त् को च् होकर इच्छ्+ →स्त्रीत्वबोधक टाप् प्रत्यय होकर इच्छा। अलाभ्योऽन्ते त्

३०९. अ प्रत्ययादिति—प्रत्ययान्त धातु से स्त्रीलिङ्ग में 'अ' प्रत्यय होता है, भाव में तथा कर्ता भिन्न कारक में।

१. सार्वधातुके यक् ३।१।६७। २. इषुगमियमां छः ७।३।७७।
३. ६।१।७३।

मकारः प्रत्ययः स्यात् । चिकीर्षा । पुत्रकाम्या ।

३१० । गुरोश्च हलः ३।३।१०३। गुरुमतो हलन्तात्स्त्रियाम-
ः प्रत्ययः स्यात् । ईहा ।

३११ । ण्यासश्रन्थो युच् ३।३।१०७। अकारस्यापवादः ।
णा । हारणा ।

प्रत्ययान्त धातुएं वे कहलाती हैं जो धातु या सुबन्त से कोई प्रत्यय लगाने
नती हैं, जैसे—कृ+सन्→चिकीर्ष (चिकीर्षति), पुत्र+काम्य→पुत्रकाम्य
(काम्यति) आदि ।

चिकीर्षा—(करने की इच्छा)—कृ धातु से इच्छार्थक सन् (स) प्रत्यय
कर 'चिकीर्ष' धातु बनती है । चिकीर्ष से भाववाचक 'अ' प्रत्यय होकर
र्ष+अ→अ का लोप' चिकीर्ष्+अ चिकीर्ष→स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय
कर चिकीर्ष+आ→चिकीर्षा ।

पुत्रकाम्या (पुत्र की इच्छा)—'पुत्रमात्मन इच्छति, (अपना पुत्र चाहता
इस अर्थ में पुत्र से काम्यच् प्रत्यय होकर 'पुत्रकाम्य' धातु बनती है ।
से स्त्रीलिङ्ग भाव में अ प्रत्यय होकर पुत्रकाम्या ।

१०१. गुरोश्चेति—जिस व्यञ्जनान्त (हलन्त) धातु में कोई गुरु अक्षर
(संयुक्त व्यञ्जन तथा दीर्घ स्वर) हो उससे स्त्रीलिङ्ग में (भाव में) अ प्रत्यय
ता है ।

ईहा (चेष्टा)—ईह् (चेष्टा करना) धातु व्यञ्जनान्त है और इसका ई
है अतः इससे अ प्रत्यय होता है । ईह्+अ→स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय
कर ईह+आ→ईहा ।

१११. ण्यासेति—णि प्रत्ययान्त, आस् तथा श्रन्थ् धातु से युच् प्रत्यय
ता है, स्त्रीलिङ्ग भाव में ।

अकारस्येति—युच् प्रत्यय 'अ' प्रत्यय का बाधक है । यहां ण्यन्त से
प्रत्ययान्त धातु होने के कारण 'अ प्रत्ययात्-३०६' तथा आस् और श्रन्थ् से

---

१. अष्टो सोपः १।४।४८।

३१२ । नपुंसके भावे क्तः ३।३।११४।

३१३ । ल्युट् च ३।३।११५। हसितम् । हसनम् ।

३१४ । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ३।३।११८।

३१५ । छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य ६।४।९६। द्विप्रभृत्युपसर्गहीनस्य

पूर्वसूत्र ण्यन्त धातु होने के कारण सूत्रोक्त सू. ३१०' से युच् प्रत्यय प्राप्त था ।

कारणा (यातना[1]) - कृ धातु से णिच् (प्रेरणार्थक) प्रत्यय होकर कारि ण्यन्त धातु बनती है । 'कारि' से (स्त्री) भाव में युच् प्रत्यय होकर कारि+यु→यु को अन[2] कारि+अन→णि (इ) का लोप[3] कार्+अन→न को ण तथा स्त्रीत्वबोधक टाप् प्रत्यय होकर कारणा । इसी प्रकार अन्य हृ (हारि)+युच्→हारणा । आस्+युच्→आसना (आसन, स्थिति) । घट्+युच्→घटना ।

३१२. नपुंसक इति—नपुंसकलिङ्ग भाव में धातु से क्त प्रत्यय होता है ।

३१३. ल्युडिति—नपुंसकलिङ्ग भाव में धातु से ल्युट् प्रत्यय भी होता है ।

हसितम् हसनम् (हँसना)— हस् (हँसना) धातु से नपुंसकलिङ्ग भाव में क्त तथा ल्युट् प्रत्यय होते हैं । हस्+त→इट् का आगम होकर हस्+इ+त→हसितम् । हस्+यु→यु का अन आदेश होकर हस्+अन→हसनम् ।

३१४. पुंसीति—करण तथा अधिकरण अर्थ में पुंलिङ्ग में प्रायः घ प्रत्यय होता है, संज्ञा शब्द बनाने के लिये ।

३१५. छादेरिति—दो या दो से अधिक (दो आदि) उपसर्ग रहित छादि धातु छादि को ह्रस्व हो जाता है, घ प्रत्यय परे होने पर ।

---

१. कारणा तु यातना तीव्रवेदना (अमर कोष) ।

२. युवोरनाकौ ७।१।१।

३. णेरनिटि ६।४।५१।

छादेर्ह्रस्वः स्यात् घे परे। दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेनेति दन्तच्छदः। आकुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकरः।

३१६। अवे तॄस्त्रोर्घञ् ३।३।१२०। अवतारः कूपादेः। अवस्तारो जवनिका।

३१७। हलश्च ३।३।१२१। हलन्ताद्घञ् स्यात्। घापवादः।

दन्तच्छदः (ओष्ठ)—दन्ताश्छाद्यन्ते अनेन (दाँत ढके जाते हैं जिससे):—यहाँ ण्यन्त छादि धातु से करण अर्थ में घ प्रत्यय होता है। दन्त+छादि+घ→णि का लोप तथा आ को ह्रस्व (अ) होकर दन्त+छद्+घ→दन्तच्छदः।

आकरः (खान, खनि)—आकुर्वन्ति अस्मिन् (चारों ओर से आकर काम करते हैं जिसमें)—यहाँ अधिकरण अर्थ में आङ् पूर्वक कृ धातु से घ प्रत्यय होता है। आङ्+घ (अ)+कृ को गुण अर् आकरः।

३१६ अव इति —अव उपसर्ग पूर्वक तॄ और स्तॄ धातु से संज्ञा मे घञ् प्रत्यय होता है करण तथा अधिकरण में।

अवतारः (कूप आदि का सोपान, घाट)—अवतरन्ति अत्र (जिसमें उतरते हैं) यहाँ अव पूर्वक तॄ (तैरना) धातु से घञ् प्रत्यय होकर अव+तॄ+घ→ञित् प्रत्यय परे होने पर ॠ को वृद्धि आर् अव+तार्+अ अवतारः।

टिप्पणी—भाव प्रत्ययान्तों में क्त, ल्युट् प्रत्ययान्त नपुंसक लिङ्ग में, क्तिन् आदि प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में तथा शेष घञ्, अच्, अप् आदि प्रत्यय वाले शब्द पुंल्लिङ्ग में होते हैं।

अवस्तारः (जवनिका पर्दा)—अवस्तृणाति अनेन (जिससे ढका जाता है)—यहाँ स्तॄ (आच्छादन करना) धातु से घञ् प्रत्यय होकर अव+स्तॄ+घ→ॠ को वृद्धि आर् होकर अवस्तारः रूप होता है।

हलश्चेति—हलन्त (जिनके अन्त में हल् अर्थात् व्यञ्जन होता है)

---

१ छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य ६।४।९६।

रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः। अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिरित्यपामार्गः।

३१८। ईषद्दुस्सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ३।३।१२६। करणाधिकरणयोरिति निवृत्तम्। एषु दुःखसुखार्थेषूपपदेषु खल्। तयोरेवेति भावे कर्मणि च। कृच्छ्रे—दुष्करः कटो भवता।

धातु से घञ् प्रत्यय होता है।

घापञ्चाद इति—यह घञ् प्रत्यय घ का बाधक है। 'पुंसि संज्ञायाम् ३१४, से घ प्राप्त था।'

रामः—रमन्ते योगिनोऽस्मिन् (जिसमें योगी रमते हैं)—यहाँ अधिकरण अर्थ में रम् धातु से घञ् प्रत्यय होता है। रम्+अ (घञ्)→अ (उपधा) को वृद्धि[1] (आ) होकर राम्+अ→रामः।

अपामार्गः—अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिः (जिससे रोग आदि का शोधन होता है, एक औषधि जिसे हिन्दी में 'चिरचिटा' कहते हैं)—यहाँ अप पूर्वक मृज् (शुद्ध करना) धातु से घञ् प्रत्यय होता है। अप+मृज्+घञ्→ऋ को वृद्धि[2] आर् तथा ज् को ग्[3] होकर अप+मार्ग्+अ→घञ् प्रत्ययान्त परे होने पर उपसर्ग 'अप' के अन्त को दीर्घ होकर[4] अपामार्गः।

२१८. ईषदिति कठिनता (दुःख) और सरलता (सुख) बोधक ईषद्, दुस् और सु उपसर्ग उपपद होने पर धातुओं से खल् प्रत्यय होता है। खल् में 'अ' शेष रहता है, ख् और ल् की इत् संज्ञा होती है।

करणेति—'करण और अधिकरण अर्थ में' इसकी निवृत्ति हो गई अर्थात् खल् प्रत्यय इन अर्थों में नहीं होता। फिर किस अर्थ में होता है? तयोरेव॰ सूत्र के अनुसार खल् प्रत्यय भाव और कर्म में होता है।

यहाँ कृच्छ्रार्थ (कठिनता) दुस् का विशेषण है और अकृच्छ्रार्थ ईषद् तथा

---

१. अत उपधायाः ७।२।११६। २. मृजेर्वृद्धिः ७।२।११४।

३. चजोः कु घिण्ण्यतोः ७।३।५२।

४. उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् ६।३।१२२।

कृच्छ्रे—ईषत्करः। सुकरः।

३१९। आतो युच् ३।३।१२८। खलोऽपवादः। ईषत्पानः सोमो भवता। दुष्पानः। सुपानः।

सु का क्योंकि ऐसा ही सम्भव है।

दुष्करः कटो भवता—(आपको चटाई बनाना कठिन है)—दुःखेन कर्तुं योग्यः, इस अर्थ में दुस् पूर्वक कृ धातु से कर्म में खल् प्रत्यय होता है। दुस्+कृ+अ (खल्)→ऋ को गुण अर्→दुस+कर्+अ→सकार को रुत्व-विसर्ग तथा ष्, दुष्करः।

ईषत्करः (सहज में ही करने योग्य)–ईषद्+कृ+खल्→ईषत+कर्+अ→ईषत्करः।

सुकरः (सुख से करने योग्य)—सु+कृ+खल्→सु+कर्+अ→सुकरः।

३१९ आत इति—कठिनता और सरलताबोधक ईषद्, दुस् तथा सु उपपद होने पर आकारान्त धातु से युच् प्रत्यय होता है।

खल इति—यह युच् प्रत्यय खल् प्रत्यय का बाधक है। युच में यु शेष रहता है। यु को 'अन' हो जाता है।

ईषत्पानः सोमो भवता (आपको सोम पीना सरल है)—यहाँ सरलताबोधक (अकृच्छ्रार्थक) ईषद् उपपद होने पर आकारान्त धातु पा (पीना) से (खल् प्रत्यय को बाधकर) युच् होता है। ईषद्+पा+यु→यु को अन→ईषत्पानः। इसी प्रकार दुस्+पा+युच्→दुष्पानः (कठिनता से पिया जाने योग्य) सु+पा+युच=सुपानः (सुख से पिया जाने योग्य)।

टिप्पणी—ईषत्करः; ईषत्पानः इत्यादि में कर्म में खल् प्रत्यय हुआ है, प्रत्यय द्वारा कर्म के उक्त हो जाने के कारण कटः, सोमः आदि में प्रथमा विभक्ति होती है तथा कर्त्ता के अनुक्त होने से 'भवता' में तृतीया होती है। यहाँ कर्त्ता से षष्ठी[1] नहीं होती, क्योंकि खलर्थक[2] प्रत्ययान्तों के योग में

---

१. कर्तृकर्मणोः कृति २।३।६५। २. न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् २।३।६९।

३२० । अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा ३।४।१८

प्रतिषेधार्थयोरलंखल्वोरुपपदयोः क्त्वा स्यात् । प्राचां ग्रहणं पूजार्थम् । अमैवाव्ययेनेति नियमान्नोपपदसमासः दो दद्घो. । अलं दत्त्वा ।

उसका निषेध हो जाता है ।

यहाँ से आगे इस प्रकरण की समाप्ति पर्यन्त क्त्वा तथा णमुल् प्रत्यय का विधान किया गया है ।

३२०. अलमिति—निषेधार्थक अलं और खलु शब्द उपपद होने पर धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है ।

'क्त्वा' में त्वा शेष रहता है । कित् करने का प्रयोजन है—

१. गुणवृद्धिनिषेध, २. सम्प्रसारण आदि ।

प्राचामिति—'प्राचाम्' यह कहना आदर प्रकट करने के लिये है। अभिप्राय यह है कि कुछ सूत्रों में आचार्य-विशेष (शाकल्यस्य आदि) का नाम या 'प्राचाम्' (प्राचीनों के मत में। इत्यादि ग्रहण करने से कार्य (विधि) का विकल्प अभीष्ट होता है किन्तु यहाँ तो 'वासरूप' परिभाषा के अनुसार ही पक्ष में ल्युट् आदि प्रत्यय हो जाते हैं । अतः विकल्प के लिये 'प्राचाम्' ग्रहण की आवश्यकता नहीं, केवल आदर-प्रदर्शन के लिये इसका ग्रहण किया गया है।

अमैवेति—'अव्यय से साथ यदि उपपद का समास होता है तो अम् के साथ ही' इस नियम से क्त्वा प्रत्ययान्त के साथ उपपद समास नहीं होता ।

अलं दत्त्वा (मत दो)—प्रतिषेधार्थक 'अलम्' शब्द उपपद होने पर दा (देना) धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है । दा+त्वा→दा को दद् (दथ्) आदेश होकर तथा त (चर्व) होकर दत्+त्वा→दत्त्वा ।

टिप्पणी—क्त्वा प्रत्ययान्त शब्द अव्यय[1] होते हैं इनके रूप नहीं चलते ।

१. क्त्वातोसुन्कसुनः १।१।४०

घुमास्थेतीत्वम्। पीत्वा खलु। अलंखल्वोः किम्? मा कार्षीत्। प्रतिषेधयोः किम्? अलङ्कारः।

३२१। समानकर्तृकयोः पूर्वकाले ३।४।२१। समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा स्यात्। भुक्त्वा व्रजति। द्वित्वमतन्त्रम्। भुक्त्वा पीत्वा व्रजति।

पीत्वा खलु (मत पीजिये) – प्रतिषेधार्थक 'खलु' शब्द उपपद होने पर पा (पीना) धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर पा+त्वा→कित् प्रत्यय (क्त्वा) परे होने से 'पा' के आ को 'ई' होकर पीत्वा।

अलंखल्वोः किमिति—अलं और खलु के पूर्व होने पर, ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि 'मा कार्षीत्' (मत कीजिये) यहाँ प्रतिषेधार्थक 'मा' (माङ्) उपपद होने पर धातु से 'क्त्वा' नहीं होता।

प्रतिषेधयोः किमिति—यदि प्रतिषेधार्थक अलं खलु हों, ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि 'अलङ्कारः' आदि में क्त्वा नहीं होता। यहाँ 'अलम्' प्रतिषेध अर्थ में नहीं अपितु 'भूषण' अर्थ में है।

३२१. समानेति—जहाँ दो (या अधिक) धात्वर्थों का एक (समान) कर्ता हो वहाँ पूर्वकाल में वर्तमान धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है।

पूर्वकाल में वर्तमान धातु से क्त्वा होने के कारण क्त्वा प्रत्ययान्त को पूर्वकालिक क्रिया कहा जाता है। हिन्दी में 'कर' या 'करके' लगाकर इसका अर्थ प्रकट किया जाता है।

भुक्त्वा व्रजति (खाकर जाता है) – यहाँ दो क्रियायें हैं खाना (भुज्) और जाना (व्रज्) इन दोनों का कर्ता एक है। इनमें 'खाना' क्रिया पूर्वकाल में होती है, अतएव 'खाना' अर्थ वाली भुज् धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर भुज्+त्वा→ज को ग् तथा क् होकर भुक्+त्वा→भुक्त्वा।

द्वित्वमिति—सूत्र में 'समानकर्तृकयोः' शब्द में द्विवचन अविवक्षित है (अभिप्राय नहीं) अर्थात् जहाँ दो क्रियायें हों उनमें से पहली से क्त्वा होता है।

---

१. घुमास्थागापाजहातिसां हलि ६।४।६६।

३२२ । न क्त्वा सेट् १।२।१८। सेट् क्त्वा किन्न स्यात्

३२३ । रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च १।२।२६। इवर्णोवर्णोप
धाद्धलादेः रलन्तात्परौ क्त्वासनौ सेटौ वा कितौ स्तः। द्युतित्वा

यह अभिप्राय नहीं अपितु यदि दो से अधिक क्रियायें हों तो उनमें से जो पूर्व
क्रियायें होती हैं, उन सबसे क्त्वा हो जाता है, जैसे भुक्त्वा पीत्वा व्रजति
यहाँ तीन क्रियायें हैं, इनमें पूर्वकाल में वर्तमान भुज् और पा दोनों धातुओं
से क्त्वा हो जाता है।

३२२. न क्त्वेति—सेट् (इट् सहित) क्त्वा कित् नहीं होता।

टिप्पणी—कुछ धातुओं से परे क्त्वा प्रत्यय को इट् का आगम हो जाता
है, वहाँ क्त्वा सेट अर्थात् इट् सहित है। क्त्वा में क् इत् है अतः यह कित्
है किन्तु ऊपर के सूत्र के अनुसार 'सेट् क्त्वा' कित् नहीं अर्थात् उसके परे
होने पर गुणवृद्धि निषेध आदि (कित् के) कार्य नहीं होते।

शयित्वा (सोकर)—शी (सोना) धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर शी+
त्वा→त्वा को इट (इ) का आगम होकर शी+इ+त्वा→सेट् क्त्वा के
कित् न रहने से गुण का निषेध[1] नहीं होता तथा ई को गुण (ए) होकर
शे+इ+त्वा←ए को 'अय्' आदेश शय्+इ+त्वा=शयित्वा।

सेट् किमिति—सूत्र में सेट् क्यों कहा ? इसलिये कि अनिट् 'क्त्वा'
कित् होता ही है, जैसे—'कृत्वा' यहाँ इट् नहीं होता अतः क्त्वा सेट् नहीं
तथा यह कित ही है इसलिये यहाँ ऋ को गुण नहीं होता।

३२३. रल इति—जिस धातु की उपधा में इ वर्ण और उ वर्ण हों
तथा आदि में हल् (व्यञ्जन) हो और अन्त में रल् (कोई स्पर्श अन्तःस्थ,
र, श, स, ष, ह) हो उससे परे सेट् क्त्वा और सन् विकल्प से कित् होते हैं।

टिप्पणी—सूत्र में 'व्युपधात्' शब्द का अर्थ है उपधा इवश्च वी में हावे
अरश्च=उ वर्ण और इ वर्ण हैं उपधा में जिसकी ऐसी धातु।

द्युतित्वा, द्योतित्वा (चमक कर)—यहाँ द्युत् (दीप्त करना) धातु से

---

१. क्ङिति च १।१।५।

द्योतित्वा। लिखित्वा, लेखित्वा। व्युपधात्किम्? वर्तित्वा। रलः किम्? सेवित्वा। हलादेः किम्? एषित्वा। सेट् किम्? भुक्त्वा।

३२४। उदितो वा ७।२।५६।

उदितः परस्य क्त्व इड् वा स्यात्। शमित्वा, शान्त्वा।

क्त्वा प्रत्यय होता है तथा त्वा को इट्। द्युत् धातु की उपधा (अन्त्य वर्ण से पहला वर्ण) में उवर्ण है आदि में हल् (द्) है और अन्त में रल् (त्) है। अतः ऊपर के सूत्रानुसार क्त्वा प्रत्यय विकल्प से कित् होता है। जब कित् होता है तो गुण नहीं होता 'द्युतित्वा'। कित् न होने पर गुण होकर द्योतित्वा। इसी प्रकार लिखित्वा लेखित्वा (लिखकर)।

व्युपधात् किमिति—यदि उपधा में इ, उ हों, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि 'वर्तित्वा' में क्त्वा कित् नहीं होता। यहाँ 'वृत्' धातु है उसकी उपधा में 'ऋ' है।

रलः किमिति—सूत्र में रलन्त धातु हो ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि 'सेवित्वा' में क्त्वा कित् नहीं होता, अतः गुण हो जाता है। 'षिव्' धातु के अन्त में 'व्' है जो 'रल्' में नहीं आता।

हलादेः किमिति—हलादि धातु हो, यह क्यों कहा? इसलिये कि 'एषित्वा' में क्त्वा कित् नहीं होता तथा गुण होता है। इष् धातु के आदि में अच् (स्वर) है, हल् नहीं।

सेट् किमिति—इस सूत्र के अर्थ में सेट् क्यों कहा? इसलिये कि 'भुक्त्वा' आदि में 'क्त्वा' कित् ही होता है तथा यहाँ गुण-निषेध हो जाता है। यहाँ क्त्वा अनिट् है।

३२४. उदितो वेति—जिन धातुओं में उकार इत्संज्ञक है, उनसे परे क्त्वा को इट् विकल्प से होता है।

शमित्वा, शान्त्वा (शान्त होकर)—यहाँ शमु उपशमे (दिवादि¹) धातु है। यह उदित् है अतः क्त्वा परे होने पर विकल्प से इट् होता है। शम्+इ+त्वा→शमित्वा। जब इट् नहीं होता तो शम्+त्वा→अ को दीर्घ¹

---

१. अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति ६।४।१५।

देवित्वा, द्यूत्वा। दधातेर्हिः—हित्वा।

३२५। जहातेश्च क्त्वि ७।४।४३। हित्वा, हाङस्तु हात्वा।

३२६। समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ७।१।३७। अव्ययपूर्वपदेऽनञ्समासे क्त्वो ल्यबादेशः स्यात्। तुक्। प्रकृत्य। अनञ् किम्? अकृत्वा।

शाम्+त्वा→म को अनुस्वार तथा परसवर्ण होकर शान्त्वा।

देवित्वा, द्यूत्वा (खेलकर)—यहाँ दिव् (क्रीडा आदि) उदित् धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर विकल्प से इट् होता है। दिव्+इ+त्वा+इ को गुण (ए) देवित्वा। इट् के अभाव में दिव्+त्वा→व् को ऊठ्[१] (ऊ) दि+ऊ+त्वा→इ को य् (यण्) द्यूत्वा।

हित्वा (धारण करके)—धा+क्त्वा→प्रत्यय के कित् होने से धा को 'हि'[२] आदेश होकर हि+त्वा→हित्वा।

३२५. जहातेश्चेति—ओहाक् त्यागे (जहाति) धातु को भी 'हि' आदेश होता है, क्त्वा परे होने पर।

हित्वा (त्यागकर)—हा (ओहाक्) धातु से क्त्वा प्रत्यय→क्त्वा परे होने पर ऊपर के सूत्र से 'हा' को हि' आदेश होकर हि+त्वा→हित्वा।

हाङ् इति—(ओहाङ् गतौ, हाङ्) का 'हात्वा' रूप होता है।

हात्वा (जाकर)—ओहाङ् (जाना) धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर हा+त्वा→हात्वा। यहाँ धातु को 'हि' आदेश नहीं होता। इसीलिये सूत्र में 'जहाति' कहा है जो 'ओहाक् त्यागे' का रूप है। ओहाङ् गतौ' का 'जिहीते' रूप होता है।

३२६. समास इति—जिस समास में अव्यय पूर्वपद हो उसमें क्त्वा को ल्यप् आदेश हो जाता है, किन्तु नञ् समास में नहीं। ल्यप् में य शेष रहता है।

प्रकृत्य (प्रकरण चलाकर)—प्र+कृत्वा यहाँ प्र का कृत्वा से समास

---

१. च्छ्वोः शूडनुनासिके च ७।४।१९। २. दधातेर्हिः ७।४।४२ (२६८)।

३२७ । आभीक्ष्ण्ये णमुल् च ३।४।२२। आभीक्ष्ण्ये द्योत्ये
विषये णमुल् स्यात् क्त्वा च ।

३२८ । नित्यवीप्सयो: ८।१।४। आभीक्ष्ण्ये वीप्सायां च द्योत्ये
स्य द्वित्वं स्यात् । आभीक्ष्ण्यं तिङन्तेष्वव्ययसंज्ञकेषु कृदन्तेषु च ।

। है (कुगति प्रादयः) । समास होने से ऊपर के सूत्र के अनुसार क्त्वा के
न में ल्यप् आदेश हो जाता है । प्रकृ+य इस दशा में पित् कृत् (ल्यप्)
होने से तुक्[1] का आगम होता है, प्रकृ+त्+य→प्रकृत्य ।

अनञिति—सूत्र में अनञ् कहने का क्या प्रयोजन है ? यह कि नञ्
स में क्त्वा को ल्यप् नहीं होता, जैसे—अकृत्वा (न करके) । यहाँ नञ्
कृत्वा के साथ नञ् समास होता है ।

३२७. आभीक्ष्ण्य इति—यदि बार बार करना या लगातार करना
भीक्ष्ण्य = पौन: पुन्य = पुन: पुन: होना) बतलाना हो तो क्त्वा प्रत्यय के
। में णमुल् प्रत्यय होता है और क्त्वा भी ।

३२८. नित्येति—जब बार बार होना (नित्य) और प्रत्येक वस्तु में
(वीप्सा) प्रकट करना हो तो पद को द्वित्व (दो बार प्रयोग) हो
है ।

आभीक्ष्ण्यमिति—तिङन्तों (क्रियाओं) में तथा अव्ययसंज्ञक कृदन्तों में
का बार बार होना या लगातार होना (आभीक्ष्ण्य) प्रकट होता है ।

टिप्पणी—यहाँ 'नित्य' और 'आभीक्ष्ण्य' समानार्थक हैं । जिस क्रिया को
बार बार या लगातार करता है वह नित्य कहलाती है (काशिका) ।
क्या की नित्यता तिङन्तों और अव्ययसंज्ञक कृदन्त क्त्वान्त आदि से
की जाती है; जैसे—भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति । 'वीप्सा' का अर्थ है—अनेक
का एक साथ क्रिया और गुण के साथ सम्बन्ध दिखलाने की इच्छा,
ग्रामो ग्रामो रमणीय: ।

---

1. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१।

स्मारं स्मारं नमति शिवम् । स्मृत्वा स्मृत्वा । पायं पायम् । :
भोजम् । श्राव श्रावम् ।

३२९ । अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत् ३।४
एषु कृञो णमुल स्यात् । सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवंभूतश्चेत् कृञ् । ब

स्मारं स्मारं नमति शिवम् (याद कर करके शिवजी को नमस्कार क
है)—यहाँ स्मरण क्रिया का बार बार होना (आभीक्ष्य) प्रकट कर
लिए स्मृ+(स्मरण करना) धातु से णमुल् प्रत्यय होता है । स्मृ+णमु
स्मृ+अम्→ऋ को वृद्धि[1] आर् स्मार्+अम्→स्मारम्→नित्य अ
द्वित्व (नित्यवीप्सयोः) होकर स्मारं स्मारम् । पक्ष में क्त्वा प्रत्यय स्मृ+
→स्मृत्वा स्मृत्वा ।

पायम्पायम् (बार बार पीकर या रक्षा करके)—यहाँ पा धा
आभीक्ष्य अर्थ में णमुल् प्रत्यय होकर पा+अम्→णित् कृत् परे होने
युक् का आगम[2] पा+य्+अम्→पायम्→द्विप्रयोग (द्वित्व) होकर
पायम् । पक्ष में पीत्वा पीत्वा ।

भोजं भोजम् (बार बार खाकर)—क्रिया के बार बार होने को
करने के लिये भुज् धातु से णमुल् प्रत्यय होकर भुज्+अम्→उ को
ओ→भोजम्→द्वित्व होकर भोजं भोजम् । पक्ष में—भुक्त्वा भुक्त्वा ।

श्रावं श्रावम् (बार बार सुनकर)—आभीक्ष्य अर्थ में श्रु धातु से ण
प्रत्यय होकर श्रु+णमुल्→श्रु+अम्→उ को वृद्धि[3] औ तथा
आदेश होकर श्राव्+अम्+श्रावम्→द्वित्व होकर श्रावं श्रावम् । पक्ष
श्रुत्वा श्रुत्वा ।

३२९. अन्यथेति—अन्यथा, एवम्, कथम् और इत्थम्—इ
उपपद होने पर कृञ् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है यदि कृञ् का अप्र

१. अचोञ्णिति ७।२।११५।
२. आतो युक् चिण्कृतोः ७।३।३३।
३. अचोञ्णिति ७।२।११५।

त्वात्प्रयोगानर्हं इत्यर्थः। अन्यथाकारम्, एवङ्कारम्, कथङ्कारम्, इत्थङ्कारं भुङ्क्ते। सिद्धेति किम्? शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते।

इत्युत्तरकृदन्तप्रकरणम् ॥४॥

(प्रयोग न करना) सिद्ध हो।

व्यर्थत्वादिति—सिद्धाप्रयोग का अर्थ है—'व्यर्थ होने के कारण कृञ् धातु का प्रयोग आवश्यक न हो' अर्थात् कृञ् धातु का प्रयोग तो होता है, किन्तु उसका कोई अर्थ नहीं प्रकट होता।

अन्यथाकारं भुङ्क्ते—(अन्य प्रकार से खाता है)—यहाँ 'अन्यथा भुङ्क्ते' का जो अर्थ होता वही 'अन्यथाकारं भुङ्क्ते' का अर्थ है, इसलिये 'कृ' धातु का प्रयोग व्यर्थ है, उसका अप्रयोग सिद्ध है। ऐसे 'अन्यथा' पूर्वक कृञ् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है। अन्यथा+कृ+णमुल्→ऋ को वृद्धि आर् अन्यथा+कार्+अम्→अन्यथाकारम्। इसी प्रकार एवं+कृ+णमुल्→एवङ्कारम् (इस प्रकार से), कथङ्कारम्, इत्थङ्कारम्।

सिद्धेतिकिम् इति—सूत्र में सिद्धाप्रयोग (कृ का प्रयोग व्यर्थ हो) क्यों दिया? इसलिए कि जहाँ 'कृ' का प्रयोग आवश्यक होता है, वहाँ अन्यथा आदि पूर्वक 'कृ' धातु से णमुल् प्रत्यय नहीं होगा, जैसे—'शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते।' (सिर को अन्यथा करके खाता है), यहाँ कृ धातु के प्रयोग के बिना [illegible] ही निरर्थक है। [illegible] ॥

श्रथ तद्धितप्रकरणम्

अथ साधारणप्रत्ययाः ॥१॥

३३० । समर्थानां प्रथमाद्वा ४।१।८२। इदं पदत्रयमधिक्रियते प्राग्दिश इति यावत् ।

३३१ । अश्वपत्यादिभ्यश्च ४।१।८४। एभ्योऽण् स्यात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु । अश्वपतेरपत्यादि—आश्वपतम् । गाणपतम् ।

अथ तद्धितेति—'तद्धित' शब्द अन्वर्थ संज्ञा है, 'तेभ्यः (प्रयोगेभ्यः) हिताः तद्धिताः' जो उन उन प्रयोगों के लिये हितकर हैं, इसलिये प्रयोग के अनुसार ही तद्धित प्रत्ययों का व्यवहार होना चाहिये । (सि० तत्त्वबोधिनी) ।

३३०. समर्थानामिति—समर्थानाम्, प्रथमात्, वा इन तीन पदों का प्राग्दिशो विभक्तिः (५।३।१) तक अधिकार है ।

प्राग्दिशो विभक्तिः सूत्र से आगे स्वार्थिक प्रत्यय चलते हैं, उनमें इस अधिकार का प्रयोजन नहीं ।

अभिप्राय यह है—तद्धित विधायक सूत्रों में पहले उच्चारित पद द्वारा जिसका बोध हो, सामर्थ्य (अर्थ कथन योग्यता) होने पर उससे (विकल्प से) प्रत्यय होता है । जैसे—'तस्यापत्यम्' इस तद्धित विधायक सूत्र में 'तस्य' और 'अपत्यम्' दो शब्द हैं । इनमें प्रथम उच्चारित 'तस्य' है, इससे (षष्ठयन्त) 'उपगु' इत्यादि का बोध होता है । अतः 'उपगोः अपत्यम्' इस अर्थ में 'उपगु' शब्द से विकल्प से प्रत्यय होता है ।

३३१. अश्वेति—अश्वपति आदि शब्दों से अण् प्रत्यय होता है। प्राग्दीव्यतीय (अपत्य आदि) अर्थों में । यहाँ प्राग्दीव्यतोऽण् ४।१।८३ से अण् की अनुवृत्ति आती है ।

टिप्पणी—तेन दीव्यति ४।४।२ सूत्र कहा गया है, वहाँ तक प्राग्दीव्यतीय अर्थ है । प्राग्दीव्यतीय अर्थों में—अपत्यार्थ, रक्तार्थ, चतुरर्थ, शैष तथा विकारार्थ सम्मिलित हैं ।

३३२। दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः ४।१।८५।
दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यः स्यात्। अणोऽप
दितेरपत्यं दैत्यः। अदितेरादित्यस्य वा—

आश्वपतम्—अश्वपतेः अपत्यादि (अश्वपति की अपत्य इत्यादि
विग्रह मे तद्धित विधायक सूत्र में प्रथम उच्चारित समर्थ पद अश्वपति
प्रत्यय होता है। 'अश्वपति ङस्+अण्' इसकी 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से
पदिक संज्ञा होकर ङस् का लोप हो जाता है।[1] अश्वपति+अ इस
आदि के 'अ' को वृद्धि[2] (आ) होकर तथा अन्त के 'इ' का लोप[3]
आश्वपत्+अ→आश्वपत शब्द बनता है। फिर अर्थ के अनुसार नपुंस
प्रथमा के एक वचन में 'आश्वपतम्' रूप बनता है।

टिप्पणी (i) जिन तद्धित प्रत्ययों मे ञ्, ण् इत्संज्ञक होता है
णित् कहलाते हैं। उनके परे होने पर शब्द के प्रथम स्वर को वृद्धि हो
है (तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७) इसी प्रकार कित् प्रत्यय परे होने
(किति च ७।२।११८)।

(ii) यकारादि तथा अजादि प्रत्यय परे होने पर पूर्व की भ संज्ञा
और भ संज्ञक के इवर्ण तथा अवर्ण का ईकार तथा तद्धित परे होने प
हो जाता है (यस्येति च)।

गाणपतम्—गणपतेरपत्यम् (गणपति की सन्तान आदि)—गणप
अश्वपति आदि (गण) में पढ़ा है इससे अण् प्रत्यय होकर 'आश्वपत
समान रूप होता है।

३३२. दित्येति—दिति, अदिति, आदित्य तथा जिसमें पति
उत्तरपद हो–ऐसे शब्दों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में ण्य प्रत्यय होता है।
दोष रहता है। यह अण् का बाधक है।

दैत्य—दितेरपत्यम् (दिति की सन्तान)—दिति शब्द से अपत्य

---

१. सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७१।
२. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।
३. यस्येति च ६।४।१४८।

३३३ । हलो यमां यमि लोपः ८।४।६४। हलः परस्य यमो लोपः स्याद्वा यमि । इति यलोपः । आदित्यः । प्राजापत्यः । ॐ (वा) देवाद्यञञौ ॥ दैव्यम्, दैवम् ।

उपर्युक्त सूत्र से 'ण्य' प्रत्यय होता है दिति+य इस दशा में आदि 'इ' को वृद्धि (ऐ) तथा अन्त्य 'इ' का लोप होकर दैत्+य→दैत्य. रूप बनता है।

अदितेरिति—अदिति तथा आदित्य दोनों से ण्य प्रत्यय होकर आदित्य रूप होता है।

३३३. हल इति – व्यञ्जन (हल्) से परे यम् (य, र, ल, व तथा वर्गों के पञ्चम अक्षर, का लोप हो जाता है, यम् परे होने पर।

आदित्यः—अदितेः अपत्यम् (अदिति की सन्तान, — इस विग्रह में अदिति शब्द से ण्य प्रत्यय होकर आदि अ को वृद्धि (आ) तथा 'इ' लोप हो जाता है और आदित्य रूप बनता है।

आदित्यस्य अपत्यम् (आदित्य की सन्तान,— इस विग्रह मे ण्य प्रत्यय होकर 'आदित्य+य' इस दशा में य् से आगे वाले अ का लोप[1] होकर आदित्य्+य इस दशा मे ऊपर के सूत्र से 'य्' (यम् लोप हो जाता है तथा आदित्य रूप बनता है।

प्राजापत्य —प्रजापतेः अपत्यम् पुमान् (प्रजापति की पुरुष सन्तान)—

इस विग्रह में पति उत्तरपद होने से प्रजापति शब्द से ण्य प्रत्यय होता है। प्रजापति+य→आदि वृद्धि, इ' का लोप प्राजापत्+य प्राजापत्यः।

देवाद् इति (वा) देव शब्द से अपत्यादि अर्थों मे यञ् और अञ् प्रत्यय होते हैं। यञ् में (य) और अञ्' मे अ शेष रहता है।

दैव्यम्, दैवम् - देवस्य अपत्यम् (देव की सन्तान)—इस विग्रह में 'देव' से यञ् तथा अञ् प्रत्यय होते हैं। देव+य तथा देव+अ इस दशा में आदि ए को वृद्धि[2] (ऐ) तथा व् से आगे वाले (अ) का लोप[3] होकर दैव्यम् तथा दैवम् रूप होते हैं।

---

१. यस्येति च ६।४।१४८। २. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७

३. यस्येति च ।६।४।१४८।

❀ (वा) बहिषष्टिलोपो यञ्च ॥ बाह्यः । ❀ (वा) ईकक् च ।

२३४ । किति च ७।२।११८। किति तद्धिते चाचामादेरचो वृद्धि स्यात्। बाहीकः। ❀ (वा) गोरजादिप्रसङ्गे यत् ॥ गोरपत्यादि गव्यम्।

२३५ । उत्सादिभ्योऽञ् ४।१।८६। औत्सः ।

इति साधारणप्रत्ययाः ॥१॥

बहिष इति (वा)—बहिस् शब्द से अपत्यादि अर्थों में यञ् प्रत्यय होता है और टिसंज्ञक अर्थात् 'इस्' का लोप होता है।

बाह्यः - बहिर्भवः (बाहर होने वाला) — इस विग्रह में बहिस् शब्द से यञ् प्रत्यय होकर 'इस्' (टिसंज्ञक) का लोप हो जाता है। आदि वृद्धि अ को आ होकर बाह्+य→बाह्यः रूप बनता है।

ईकक चेति—बहिस् शब्द से इन अर्थों में ईकक् प्रत्यय होता है और टि संज्ञक का लोप भी।

११४. कितीति—कित् तद्धित परे होने पर स्वरों में आदि स्वर को वृद्धि होती है। [कित् का अर्थ है जिसमें क् की इत्संज्ञा होकर उसका लोप हो गया हो। ईकक् प्रत्यय में 'क्' की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है अतः यह कित् है।]

बाहीकः—बहिर्भवः (बाहर होने वाला)—इस विग्रह में बहिस् शब्द से ईकक् प्रत्यय होकर बहिस्+ईक इस दशा में इस् (टि) का लोप तथा 'किति च' से आदि स्वर अ को वृद्धि (आ) होकर बाहीकः रूप बनता है।

गोरजादीति (वा)—स्वर है आदि में जिनके (अजादि) अर्थात् अण् इत्यादि प्रत्यय प्राप्त होने पर गो शब्द से यत् प्रत्यय होता है।

गव्यम्—गोः अपत्यादि (गो की सन्तान आदि)—इस विग्रह में गो शब्द से यत् प्रत्यय होता है। गो+य इस दशा में ओ को अव् (वान्तो यि प्रत्यये) होकर गव्+य→गव्य शब्द बनता है।

११५. उत्सादिभ्य इति—उत्स इत्यादि शब्दों से अपत्यादि अर्थों में

अथ अपत्याधिकारः ॥२॥

२६ । स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ४।१।८७

धान्यानां भवन इत्यतः प्रागर्थेषु स्त्रीपुंसाभ्यां क्रमान्नञ्स्नञौ स्तः। स्त्रैणः । पौंस्नः ।

अञ् प्रत्यय होता है।

औत्सः—उत्सस्य अपत्यम् पुमान् (उत्स की पुरुष सन्तान)—इस विग्रह में उत्स शब्द से उपर्युक्त सूत्र के अनुसार अञ् प्रत्यय होता है। उत्स+अ इस अवस्था में आदि स्वर उ को वृद्धि[1] (औ) तथा अन्त्य अकार का लोप[2] होकर औत्स+अ→औत्सः रूप बनता है।

इति साधारणप्रत्ययाः ॥१॥

अथ अपत्यप्रत्ययाः । स्त्रीपुंसाभ्यामिति—'धान्यानां भवने' ५।२।१। इस सूत्र से पूर्व के अर्थों में स्त्री और पुंस्-शब्द से क्रम से नञ् और स्नञ् प्रत्यय होते हैं। नञ् में न तथा स्नञ् में स्न शेष रहता है।

स्त्रैणः—स्त्रियाः अपत्यम्, स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूहः आदि (स्त्री की सन्तान, स्त्रियों में होने वाला, स्त्रियों का समुदाय आदि)—इन विग्रहों में स्त्री शब्द से (अपत्यादि अर्थों में) उपर्युक्त सूत्र से नञ् प्रत्यय होता है। स्त्री+न इस अवस्था में आदि वृद्धि (ई को ऐ) तथा न को ण होकर स्त्रैणः रूप बनता है।

पौंस्नः—पुंसः अपत्यादि (पुरुष का अपत्यादि)—पुंस् शब्द से स्नञ् प्रत्यय होकर पुंस्+स्न इस दशा में पुंस् के सकार का लोप[3] हो जाता है। आदि उ को वृद्धि (औ) पौंस्नः।

---

१. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७। २. यस्येति च ६।४।१४८।
३. संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३।

३३७ । तस्यापत्यम् ४।१।९२। षष्ठ्यन्तात्कृतसन्धेः समर्थादपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः ।

३३८ । ओर्गुणः ।६।४।१४६। उवर्णान्तस्य भस्य गुणः स्यात् तद्धिते । उपगोरपत्यमौपगवः । आश्वपतः । दैत्यः । औत्सः । स्त्रैणः । पौंस्नः ।

३३९ । अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ।४।१।१६२। अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात् ।

३४० । एको गोत्रे ।४।१।९३। गोत्रे एक एवापत्यप्रत्ययः स्यात् । उपगोर्गोत्रापत्यमौपगवः ।

---

३३७. तस्येति—षष्ठ्यन्त कृतसन्धि समर्थ पद से अपत्य अर्थ मे पहले *कहे हुए तथा आगे कहे जाने वाले प्रत्यय विकल्प से होते हैं ।*

३३८. ओरिति—जिसके अन्त मे 'उ' वर्ण है ऐसे भसंज्ञक को गुण होता है, तद्धित प्रत्यय परे होने पर ।

औपगवः—उपगोः अपत्यं पुमान् (उपगु की पुरुष सन्तान)—यहाँ 'उपगु' शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । उपगु+अ इस दशा मे आदि स्वर को वृद्धि (उ को औ) तथा अन्तिम 'उ' को ऊपर के सूत्रानुसार गुण (उ को ओ) होकर औपगो+अ इस दशा मे ओ को अव् हो जाता है तथा औपगवः रूप बनता है ।

'आश्वपतः' इत्यादि शब्द ऊपर आ चुके हैं ।

३३९. अपत्यमिति—अपत्य रूप में विवक्षित पौत्र आदि की गोत्र संज्ञा होती है ।

३४०. एक इति—गोत्र अर्थ मे एक ही (अपत्यवाचक) प्रत्यय होता है ।

औपगवः—उपगोः गोत्रापत्यम् (उपगु की गोत्रापत्य)—यहाँ उपगु शब्द से अण् प्रत्यय होकर पूर्ववत् औपगवः रूप होता है । 'एकोगोत्रे' नियम

३४१ । गर्गादिभ्यो यञ् ।४।१।१०५। गोत्रापत्ये । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । वात्स्यः ।

३४२ । यञञोश्च ।२।४।६४। गोत्रे यद्यञन्तमञन्तं च तदव-यवयोरेतयोर्लुक् स्यात्तत्कृते बहुत्वे न तु स्त्रियाम् । गर्गाः । वत्साः ।

३४३ । जीवति तु वंश्ये युवा ४।१।१६३। वंश्ये पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादि तद् युवसंज्ञमेव स्यात् ।

के कारण उपगु की पाँचवी, दसवीं या सौवीं आदि गोत्रापत्य को कहने के लिये भी 'औपगव' शब्द ही पर्याप्त होता अन्य कोई प्रत्यय करने की आवश्य-कता न होगी ।

३४१. गर्गादिभ्य इति—गर्ग आदि शब्दों से गोत्रापत्य अर्थ में यञ् प्रत्यय होता है ।

गार्ग्यः—गर्गस्य गोत्रापत्यम् (गर्ग के पौत्र आदि)—इस अर्थ में गर्ग शब्द से यञ् प्रत्यय होता है । 'गर्ग+य' इस दशा में आदि अ को वृद्धि (आ) तथा अन्त्य अकार का लोप होकर 'गार्ग्यः' रूप बनता है । इसी प्रकार वत्सस्य गोत्रापत्यम् वात्स्यः ।

यञञोरिति—गोत्र अर्थ में जो यञ् प्रत्ययान्त और अञ् प्रत्ययान्त शब्द हों उनके अवयव यञ् अञ् का लोप हो जाता है उन अर्थों के बहुत्व में, किन्तु स्त्रीलिङ्ग में लोप नहीं होता ।

गर्गाः—गार्ग्य शब्द के बहुवचन में गर्गाः होता है । यहाँ उपर्युक्त सूत्रानुसार गर्ग+यञ् (गार्ग्य) में यञ् का लोप होता है । इस प्रकार गार्ग्यः, गार्ग्यौ, गर्गाः रूप होंगे । इसी प्रकार वत्साः ।

टिप्पणी--द्वितीयादि विभक्तियों के बहुवचन में भी गोत्र प्रत्यय यञ और अञ् का लोप हो जाता है तथा गर्गान् इत्यादि रूप बनते हैं ।

३४३. जीवतीति=वंश्य अर्थात् पिता इत्यादि के जीवित रहते पौत्र की जो अपत्य (प्रपौत्र) उसकी युवासंज्ञा ही होती है ।

३४४ । गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् ।४।१।९४। यून्यपत्ये गोत्रप्रत्ययान्तादेव प्रत्ययः स्यात् । स्त्रियां तु न युवसंज्ञा ।

३४५ । यञिञोश्च ।४।१।१०१। गोत्रे यौ यञिञौ तदन्तात्फक् स्यात् ।

३४६ । आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ।७।१।२। प्रत्ययादेः फस्य आयन्, ढस्य एय्, खस्य ईन्, छस्य ईय्, घस्य इय् स्युः । गर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः । दाक्षायणः ।

टिप्पणी—वश्य का अर्थ है वंश में हुआ, पूर्वज, पिता पितामह आदि । यदि इनमें से कोई जीवित हो तो पौत्र (प्रथम गोत्रापत्य) की सन्तान को युवापत्य कहा जाता है ।

३४४. गोत्रादिति—युवापत्य अर्थ में गोत्रप्रत्ययान्त से ही प्रत्यय होता है, स्त्रीलिङ्ग में तो युवा संज्ञा होती नहीं ।

३४५. यञिञोश्च—गोत्र अर्थ में जो यञ् और इञ् प्रत्यय होते हैं, तदन्त से (युवापत्य अर्थ में) फक् प्रत्यय होता है । फक् में 'क्' का लोप होकर फ शेष रहता है ।

३४६. आयनेति—प्रत्यय के आदि फकार को आयन्, ढकार को एय्, खकार को ईन्, छकार को ईय्, घकार को इय् हो जाता है ।

गार्ग्यायणः—गर्गस्य युवापत्यम् (गर्ग की युवापत्य)—इस अर्थ में ऊपर के नियम के अनुसार गोत्रप्रत्ययान्त 'गार्ग्य' शब्द से (यञिञोश्च) फक् प्रत्यय होता है । गार्ग्य + फ, इस दशा में फकार को आयन् होकर तथा गार्ग्य के यस्य[1] अ का लोप होकर गार्ग्य् + आयन् + अ → (न् को ण्) गार्ग्यायणः ।

टिप्पणी—यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि अपत्य या सन्तति तीन प्रकार की है - १-अनन्तरापत्य (पुत्र), २-गोत्रापत्य (पौत्रादि), ३-युवापत्य (वह प्रपौत्र आदि जिसके पिता, पितामह आदि में से कोई जीवित हो) । इनमें से अनन्तरापत्य में—गर्गस्य अनन्तरापत्यं गार्गिः (अत इञ्), गोत्रापत्य में—

---

१. यस्येति च ६।४।१४८।

३४७ । अत इञ् ।४।१।९५। अदन्तं यत्प्रातिपदिकं तस्मादिञ् स्यात् अपत्येऽर्थे दाक्षिः ।

३४८ । बाह्वादिभ्यश्च ।४।१।९६। बाहविः । औडुलोमिः ।

गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः (गर्गादिभ्यो यञ्) तथा युवापत्य में–गर्गस्य युवापत्यम् गार्ग्यायणः (यञिञोश्चेति फक्) ।

दाक्षायणः—दक्षस्य युवापत्यम् (दक्ष की युवापत्य) यहाँ दक्ष से गोत्र प्रत्यय इञ् होकर 'दाक्षि' बनता है। दाक्षि से युवापत्य अर्थ में 'यञिञोश्च' सूत्र से फक् प्रत्यय होता है । दाक्षि+फ→दाक्षि+आयन्+अ=अन्त्य इकार का लोप, न को ण→दाक्षायणः ।

३४७. अत इति—अदन्त शब्द से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है।

दाक्षि—दक्षस्यापत्यम् (दक्ष की सन्तान)—इस अर्थ में 'दक्ष' शब्द से इञ् प्रत्यय हुआ । दक्ष+इ→आदि वृद्धि (अ को आ), अन्त्य अकार का लोप→दाक्षिः ।

३४८. बाह्वादिभ्य इति–बाहु आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है ।

बाहवि—बाहोरपत्यम् (बाहु की सन्तान)—इस अर्थ में बाहु शब्द से उपर्युक्त सूत्र के अनुसार इञ्' प्रत्यय होता है। बाहु+इ इस दशा में उ को गुण[1] (ओ) तथा अव् होकर 'बाहु+अव्+इ→बाहविः' रूप होता है।

औडुलोमिः—उडूनि (=नक्षत्राणि) इव लोमानि यस्य स उडुलोमा (तारों के समान लोम वाला एक ऋषि) तस्य अपत्यम् (उडुलोम की सन्तान)—इस अर्थ में 'बाहु' आदि गण में होने के कारण 'उडुलोमन्' शब्द से 'इञ्' प्रत्यय होता है। उडुलोमन्+इ इस अवस्था में आदि वृद्धि उ को औ तथा अन् (टि) का लोप[2] होकर "औडुलोमि" शब्द बनता है।

१- ओर्गुणः ६।४।१४६। २. नस्तद्धिते ६।४।१४४।

※ (वा) लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः। उडुलोमाः। आकृतिगणोऽयम्।

२४६। अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् ।४।१।१०४। एभ्यो-ऽञ्। ये त्वत्रानृषयस्तेभ्योऽपत्येऽन्यत्र तु गोत्रे। बिदस्य गोत्रं बैदः। बैदौ। बिदाः। पुत्रस्यापत्यं पौत्रः, पौत्रौ, पौत्राः। एवं दौहित्रादयः।

लोम्न इति (वा)—अपत्यार्थक बहुवचन में लोमन् शब्द से अ प्रत्यय कहना चाहिए।

उडुलोमा—उडुलोम्नः अपत्यानि (उडुलोम की सन्तानें)—इस अर्थ में उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार उडुलोमन् से 'अ' प्रत्यय होता है। उडुलोमन् + अ इस अवस्था में अन् लोप होकर प्रथमा के बहुवचन में उडुलोमाः रूप बनता है।

आकृतिगण इति—यह (बाह्व आदि) आकृतिगण है। जिन शब्दों में इञ् (तद्धित) प्रत्यय दिखलाई देता है किन्तु इञ् प्रत्यय करने वाला कोई सूत्र (नियम) नहीं मिलता, उन्हें बाह्व आदि गण में समझना चाहिए।

२४६. अनृषीति – बिद आदि शब्दों से गोत्र अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है किन्तु इनमें जो ऋषि नहीं है उनसे (अनन्तर) अपत्य अर्थ में होता है।

बैदः—बिदस्य गोत्रापत्यम् (बिद ऋषि की गोत्रापत्य)—बिद शब्द से गोत्रापत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होकर बिद+अ इस अवस्था में आदि इ को वृद्धि ऐ तथा अन्त्य अ का लोप होता है और बैदः रूप बनता है।

बिदाः—गोत्रापत्यार्थक 'अञ्' प्रत्यय का बहुवचन में लोप[1] हो जाता है।

पौत्रः—पुत्रस्य अपत्यम् (पुत्र की सन्तान)—पुत्र शब्द ऋषि नहीं। अतः इससे अनन्तर अपत्य में अञ् प्रत्यय होता है। पुत्र+अ=पौत्र. रूप बनता है।

---

१. यञञोश्च २।४।६४। (२४२)

३५० । शिवादिभ्योऽण् ४।१।११२। अपत्ये । शैवः । गाङ्गः ।

३५१ । ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च ४।१।११४। ऋषिभ्यः—वासिष्ठः । वैश्वामित्रः । अन्धकेभ्यः—श्वाफल्कः । वृष्णिभ्यः—वासुदेवः । कुरुभ्यः—नाकुलः । साहदेवः ।

पौत्राः—यहाँ गोत्रापत्य अर्थ में यञ् प्रत्यय नहीं अतएव बहुवचन में यञ् का लोप नहीं होता ।

एवमिति—इसी प्रकार दुहितुः अपत्यम् (पुत्री की सन्तान)—दुहितृ +ण्→ऋ को र् (यण्) होकर दौहित्+र्+अ→दौहित्रः इत्यादि ।

शिवादीति—शिव आदि (गण) से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

३५० शैव —शिवस्यापत्यम् (शिव की सन्तान)—इस अर्थ में 'शिव' से अण् प्रत्यय होकर 'शिव+अ' इस दशा में आदिवृद्धि इ को ऐ तथा अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है ।

गाङ्ग —गङ्गाया: अपत्यम् (गङ्गा की सन्तान)—इस अर्थ में गङ्गा शब्द से 'अण्' प्रत्यय अन्त्य आकार का लोप (यस्येति च) होकर गाङ्गः ।

३५१, ऋष्यन्धकेति ऋषि=प्रसिद्ध वसिष्ठ आदि । अन्धक, वृष्णि और कुरु ये वंशों के नाम हैं—इनसे अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

ऋषिभ्य इति—ऋषि के नामों से, जैसे—

वासिष्ठ –वसिष्ठस्य अपत्यम् (वसिष्ठ की सन्तान)—ऋषिवाचक वसिष्ठ शब्द से अण् प्रत्यय होकर आदिवृद्धि (व को वा) तथा अन्त्य (अ का) लोप होता है । इसी प्रकार विश्वामित्रस्यापत्यम्–वैश्वामित्रः ।

अन्धकेभ्य इति—अन्धक वंश वालों से, जैसे—

श्वाफल्कः—श्वफल्कस्य अपत्यम्, श्वफल्क अन्धक वंश का है, अतः इससे अण् प्रत्यय होकर "श्वाफल्कः" बनता है ।

वृष्णिभ्य इति—वृष्णि वंश वालों से, जैसे—

वासुदेव—"वसुदेवस्यापत्यम"—व [illegible]

३५२। मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वायाः ४।१।११५। संख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्य उदादेशः स्यादण् प्रत्ययश्च। द्वैमातुरः। षाण्मातुरः। सांमातुरः। भाद्रमातुरः।

३५३। स्त्रीभ्यो ढक् ४।१।१२०। स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् स्यात्। वैनतेयः।

इससे अण् प्रत्यय होता है।

कुरुभ्य इति—कुरु वंशियों से, जैसे—

नाकुलः—नकुलस्यापत्यम्, कुरुवंश में होने से नकुल से अण् प्रत्यय होता है। इसी प्रकार साहदेवः।

३५२. मातुरिति—(अपत्य अर्थ में)-संख्या, सम् और भद्र पूर्वक मातृ शब्द को उत् आदेश होता है और अण् प्रत्यय।

टिप्पणी—मातृ शब्द के अन्त्य स्वर अर्थात् ऋ को 'उ' (उत्) होता है।[1] और वह 'र' सहित होकर 'उर्' होता है।[2]

द्वैमातुरः—द्वयोर्मात्रोरपत्यं पुमान् (दो माताओं की पुरुष सन्तान)-इस अर्थ में द्विपूर्वक मातृ शब्द से अण् प्रत्यय तथा ऋ को उर् हो जाता है। द्वि+मात्+उर्+अ इस दशा में आदि इ को वृद्धि (ऐ) होकर द्वैमातुरः रूप बनता है। इसी प्रकार 'षण्णां मातॄणामपत्यं पुमान्'[3] षाण्मातुरः[4]। 'संमातुरपत्यं पुमान्' सांमातुरः। 'भद्रमातुरपत्यं पुमान् (अच्छी माता की पुरुष सन्तान) भाद्रमातुरः।

३५३. स्त्रीभ्य इति—स्त्री प्रत्ययान्त शब्दों से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है।

ढक् में क् का (इत्संज्ञा) लोप हो जाता है तथा ढ को एय्[5] हो जाता है।

---

१. अलोऽन्त्यस्य १।१।५२। २. उरण् रपरः १।१।५१।
३. गणेशः। ४. कार्तिकेयः।
५. आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ७।१।२। (३४९)

३५४। कन्यायाः कनीन च ४।१।११६। चादण्। कानीनो व्यासः कर्णश्च।

३५५। राजश्वशुराद्यत् ४।१।१३७। ॐ (वा) राज्ञो जातावेवेति वाच्यम्।

३५६। ये चाभावकर्मणोः ६।४।१६८। यादौ तद्धिते परेऽन् प्रकृत्या स्यान्न तु भावकर्मणोः। राजन्यः।

वैनतेयः—विनतायाः अपत्यं पुमान् (विनता की पुरुष सन्तान)—इस अर्थ में स्त्रीप्रत्ययान्त (विनत+टाप्) विनता शब्द से ढक् प्रत्यय होता है। ढ को एय् तथा आदि इ को वृद्धि[1] (ऐ) और अन्त्य आ का लोप[2] होकर वैनतेयः रूप होता है।

३५४. कन्याया इति—कन्या शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है और कन्या को कनीन आदेश हो जाता है।

कानीनः—कन्यायाः अपत्यं पुमान् (कन्या की पुरुष सन्तान)—इस अर्थ में कन्या शब्द से अण् प्रत्यय तथा कनीन आदेश होकर कन्या+अ→कनीन+अ (आदि वृद्धि) कानीनः रूप होता है।

३५५. राजेति—राजन् और श्वशुर शब्द से यत् प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में।

राज्ञ इति (वा)—राजन् शब्द से जाति में ही (यत्) होता है, यह कहना चाहिये। अर्थात् यत् प्रत्यय से बने हुए शब्द की वाच्य 'जाति' होती है।

३५६. ये चेति—यकारादि तद्धित परे होने पर 'अन्' ज्यों का त्यों (प्रकृत्या) रहता है किन्तु भाव और कर्म में नहीं।

राजन्यः—राज्ञोऽपत्यं जातिः (राजा की सन्तान क्षत्रिय जाति)—इस अर्थ में राजन् शब्द से यत् प्रत्यय होता है। राजन्+य→राजन्यः=क्षत्रिय।

---

१. किति च ७।२।११८। २. यस्येति च ६।४।१४८।

ातावेवेति किम् ?

३५७ । अन् ६।४।१६७ अन प्रकृत्या स्यादणि परे । राजनः ।
व्रशुर्यः ।

३५८ । क्षत्राद् घः ४।१।१३८ क्षत्रियः । जातावित्येव ।
ात्रिरन्यत्र ।

टिप्पणी—राजन्+य इस दशा में 'नस्तद्धिते' सूत्र से अन् (टि) का लोप
प्त हुआ "ये चाभावकर्मणोः" से निषेध हुआ और अन् ज्यों का त्यों (प्रकृत्या)
। रह गया ।

जाताविति— जाति में ही हो ऐसा क्यों कहा गया ? इसलिये कि जाति-
न्न अर्थ में यत् प्रत्यय नहीं होता। जैसे—राजनः ।

३५७. अन् इति—अण् प्रत्यय परे होने पर अन् ज्यों का त्यों रहता है ।

राजनः—राज्ञोऽपत्यम् (राजा की सन्तान)—इस अर्थ में राजन् शब्द से
ण् प्रत्यय होता है। राजन्+अ इस दशा में 'नस्तद्धिते' से अन् (टि)
। लोप प्राप्त होता है, किन्तु, 'अन् ३५७' के अनुसार अन् का प्रकृति भाव
कर राजन्+अ→राजनः रूप होता है ।

श्वशुर्यः—श्वशुरस्यापत्यं पुमान् (श्वसुर की पुरुष सन्तान)—इस अर्थ में
शुर शब्द से यत् प्रत्यय होता है । श्वशुर+य→अन्त्य अकार का लोप श्वशुर
-य→श्वशुर्यः ।

३५८. क्षत्राद् इति—क्षत्र शब्द से घ प्रत्यय होता है। (जाति अर्थ
हो) ।

क्षत्रियः—क्षत्रस्यापत्यं जातिः (क्षत्र की सन्तान, जाति)—इस अर्थ में क्षत्र
ब्द से घ प्रत्यय होकर घ को इय् हो जाता है ... →अन्त्य अ का
लोप→क्षत्+इय→क्षत्रियः ।

जाताविति—क्षत्र ... होता है अतएव

... के अनुसार इञ्
... और क्षत्+इ



३५९ । रेवत्यादिभ्यष्ठक् ४।१।१४६।

३६० । ठस्येकः ७।३।५०। अङ्गात्परस्य ठस्येकादेशः स्यात्
रैवतिकः।

३६१ । जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् ४।१।१६८। जनपद
त्रियवाचकाच्छब्दादञ् स्यादपत्ये। पाञ्चालः। *(वा) क्षत्रियसमान

---

३५९. रेवत्यादिभ्यः इति—रेवती आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में ठ
प्रत्यय होता है।

३६०. ठस्येति—अङ्ग संज्ञक से परे ठ् को इक् आदेश होता है।

रैवतिकः—रेवत्याः अपत्यम् पुमान् (रेवती की पुरुष सन्तान)—इस अर्थ में 'रेवती' शब्द से ठक् प्रत्यय होता है। ठ को इक् होकर रेवती+इक् इस दशा में आदि ए को वृद्धि[1] ऐ तथा अन्त्य ई का लोप होकर रैवत्+इक→ रैवतिकः रूप बनता है।

३६१. जनपदेति—जो जनपदवाचक शब्द क्षत्रिय का भी वाचक हो उससे अञ् प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में।

पाञ्चालः—पञ्चालानामपत्यं पुमान् (पञ्चालों की पुरुष सन्तान)—इस अर्थ में जनपदवाचक तथा क्षत्रियवाचक पञ्चाल शब्द से अञ् प्रत्यय होता है। पञ्चाल+अ इस दशा मे आदिवृद्धि (अ को आ) तथा अन्त्य अ का लोप होकर पाञ्चालः रूप होता है।

टिप्पणी—जनपद प्रदेश को कहते हैं। पञ्चाल शब्द एक जनपद का नाम है और उसकी निवासी एक क्षत्रिय जाति का भी।

क्षत्रिय इति (वा)—जो जनपदवाचक शब्द समान रूप से क्षत्रियवाचक भी हैं उनसे तस्य राजा (उसका राजा) इस अर्थ में अपत्य अर्थ के समान प्रत्यय होते हैं।

पाञ्चालः—पञ्चालानां राजा (पञ्चालों का राजा)—इस अर्थ में भी..

---

१. किति च ७।२।११८।   २. यस्येति च ६।४।१४८।

शब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत् ॥ पञ्चालानां राजा पाञ्चालः ॥ *(वा) पूरोरण् वक्तव्यः ॥ पौरवः । *(वा) पाण्डोर्ड्यण् ॥ पाण्ड्यः ।

३६२ । कुरुनादिभ्यो ण्यः ।४।१।१७२। कौरव्यः । नैषध्यः ।

अपत्य अर्थ के समान अञ् प्रत्यय होकर पाञ्चालः रूप बनता है ।

पूरोरिति (वा)—पूरु शब्द से राजा अर्थ में अण् प्रत्यय होता है यह कहना चाहिये ।

पौरवः—पूरूणां राजा (पूरु नामक जनपद का राजा)—इस अर्थ में 'पूरु' शब्द से अण् प्रत्यय होता है । पूरु+अ→आदिवृद्धि ऊ को औ तथा अन्त के उ को गुण[1] (उ को ओ) होकर पौरो+अ→पौरव्+अ→पौरवः रूप होता है ।

पाण्डोरिति (वा)—समान रूप से जनपद तथा क्षत्रियवाचक पाण्डु शब्द से राजा अर्थ में ड्यण् प्रत्यय होता है । 'ड्यण्' में ड् और ण् का लोप हो जाता है । य शेष रहता है । डित् होने के कारण इस प्रत्यय के परे होने पर टि का लोप होता है ।

पाण्ड्यः—पाण्डूनां राजा (पाण्डु जनपद का राजा)—इस अर्थ में पाण्डु शब्द से ड्यण् प्रत्यय होता है । पाण्डु+य→उ (टि) का लोप[2] होकर पाण्ड्+य→पाण्ड्यः रूप बनता है ।

३६२. कुरुनादिभ्य इति—समान रूप से जनपद तथा क्षत्रियवाचक कुरु शब्द और नकारादि शब्दों से ण्य प्रत्यय होता है ।

कौरव्यः—कुरूणाम् अपत्यं पुमान् अथवा कुरूणां राजा (कुरुओं की पुरुष सन्तान या कुरुओं का राजा)—इस अर्थ में कुरु शब्द से ण्य प्रत्यय होता है । कुरु+य→आदिवृद्धि[3] उ को औ तथा अन्तिम उ को गुण[4] (ओ) कौरो+य→कौरव्+य→कौरव्यः ।

---

१. ओर्गुणः ६।४।१४६।   २. टेः ६।४।१४३।
३. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।   ४. ओर्गुणः ६।४।१४६।

३६३ । ते तद्राजाः ।४।१।१७४। अञादयस्तद्राजसंज्ञाः स्युः

३६४ । तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ।२।४।६२। बहुष्वर्थे तद्राजस्य लुक् स्यात् तदर्थकृते बहुत्वे न तु स्त्रियाम्। इक्ष्वाकवः पञ्चालाः। इत्यादि।

३६५ । कम्बोजाल्लुक् ।४।१।१७५। अस्मात्तद्राजस्य लुक्

नैषध्यः—निषधानाम् अपत्यं पुमान् अथवा निषधानां राजा (निषध का अपत्य या निषध का राजा)—अकारादि निषध शब्द जनपद क्षत्रियों का नाम है। इससे ञ्य प्रत्यय होकर निषध+य→आदिवृद्धि नैषध+य अन्त्य अकार का लोप नैषध्यः रूप होता है।

३६३. ते इति—अञ् आदि प्रत्ययों की तद्राज संज्ञा होती है।

३६४. तद्राजस्येति—बहुवचन में तद्राज प्रत्यय का लोप हो जाता है यदि तद्राज प्रत्यय के अर्थ का बहुत्व हो, किन्तु स्त्रीलिङ्ग में नहीं।

इक्ष्वाकवः—इक्ष्वाकूणां राजानः (इक्ष्वाकुओं के राजा)—'ऐक्ष्वाकव' (इक्ष्वाकूणां राजा) शब्द के बहुवचन में 'इक्ष्वाकवः' होता है—इक्ष्वाकु+अञ् (ऐक्ष्वाकव) से बहुवचन की विवक्षा में अञ् का लोप हो जाता है।

पञ्चालाः—पञ्चालानां राजानः (पञ्चालों के राजा)—पाञ्चाल (पञ्चालानां राजा) शब्द के बहुवचन में तद्राजप्रत्यय (अञ्) का लुक् हो जाता है।

कम्बोजादिति—कम्बोज शब्द से तद्राजप्रत्यय का लोप (लुक्) हो जाता है।

टिप्पणी—एकवचन और द्विवचन में तद्राज प्रत्यय का लुक् करने के लिये यह सूत्र है। जैसा कि अग्रिम उदाहरणों से स्पष्ट होता है।

३६५. कम्बोज—कम्बोजानां राजा (कम्बोजों का राजा)—इस अर्थ में "जनपदशब्दात् ३६१" से अञ् प्रत्यय होता है। इस सूत्र से 'अञ्' का लुक् हो [illegible] है। अञ् प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी इसके अर्थ (राजा) का बोध [illegible] है। इसी प्रकार कम्बोजौ इत्यादि।

स्यात् । कम्बोजः । कम्बोजौ । * (वा) कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम् । चोलः । शकः । केरलः । यवनः । इत्यपत्याधिकारः ॥२॥

अथ रक्ताद्यर्थकाः ॥३॥

३६६ | तेन रक्तं रागात् ।४।२।१। अण् स्यात् । रज्यतेऽनेनेति रागः । कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम् ।

कम्बोजादिभ्य इति (वा — सूत्र में कम्बोज के स्थान पर) कम्बोजादि से तद्राजप्रत्यय का लुक् होता है यह कहना चाहिये ।

चोलः — चोलानां राजा (चोलों का राजा)—इस अर्थ में चोल शब्द से राजा अर्थ में द्व्यच् (दो स्वर वाला) होने के कारण अण् प्रत्यय हुआ । उसका ऊपर के वार्तिक से लोप हो गया । इसी प्रकार शकानां राजा शकः ।

केरल:—'केरलानां राजा'—इस अर्थ में अञ् प्रत्यय हुआ । उसका उपर्युक्त वार्तिक से लोप हो गया । इसी प्रकार 'यवनानां राजा यवनः' इत्यपत्याधिकारः ॥२॥

अथ रक्ताद्यर्थकाः—तेन रक्तम् आदि अर्थ के प्रत्यय यहाँ से प्रारम्भ होते हैं ।

३६६. तेनेति—रंगविशेषवाची शब्द से (रागात्) 'उससे रंगा हुआ' इस अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

रज्यते इति—इससे रंगा जाता है, अतएव रंग को राग कहा गया है । अर्थात् सूत्र में राग का अर्थ है, रंगने की वस्तु, नीला पीला आदि रंग ।

काषायम्—कषायेण रक्तं वस्त्रम् (गेरुआ रंग से रंगा हुआ वस्त्र)—इस अर्थ में कषाय शब्द से उपर्युक्त सूत्र से अण् प्रत्यय होता है । कषाय+अ इस दशा में 'आदिवृद्धि' (अ को आ) तथा अन्त्य अ का लोप होकर काषाय्+अ =काषायम् ।

---

१. इदम् अणबकलिकुमुदमसारङ्गु ।४।१।१७०।
२. जनपदशब्दात्० ४।१।१६८ (३६१)
३. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।   ४. यस्येति च ६।४।१४८।

३६७ । नक्षत्रेण युक्तः कालः ।४।२।३। अण् स्यात्

* (वा) तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम् ॥ पुष्येण यु
पौषमहः ।

३६८ । लुबविशेषे ।४।२।४। पूर्वेण विहितस्य लुप् स्यात् षष्टि
दण्डात्मकस्य कालस्यावान्तरविशेषश्चेन्न गम्यते । अद्य पुष्यः ।

३६९ । दृष्टं साम ।४।२।७। तेनेत्येव । वसिष्ठेन दृष्टं वासिष्
साम ।

---

३६७. नक्षत्रेणेति— नक्षत्र-विशेषवाचक शब्द से 'नक्षत्र से सम्बद्ध काल
इस अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

तिष्येति (वा) —नक्षत्र-सम्बन्धी अण् प्रत्यय परे होने पर (नक्षत्र+अणि)
तिष्य और पुष्य के य का लोप हो जाता है, यह कहना चाहिये ।

पौषम् (अहः)—पुष्येण युक्तम् (पुष्यनक्षत्र सम्बन्धी दिन अर्थात् पुष्यनक्षत्र
में स्थित चन्द्रमा से युक्त)—इस विग्रह में उपर्युक्त सूत्र से पुष्य शब्द से अण्
प्रत्यय होता है। पुष्य+अ इस दशा में आदि वृद्धि (उ को औ) तथा अन्त्य
अकार का लोप होकर 'पौष्य्+अ' इस अवस्था में ऊपर के वार्तिक से य् का
लोप होकर 'पौष'+पौषम् रूप बनता है ।

३६८. लुबिति—पूर्व सूत्र से कहे हुए (अण् प्रत्यय) का लोप हो जाता है
यदि साठ दण्ड रूप काल के अवान्तर भेद (रात या दिन) का ज्ञान न हो ।

अद्य पुष्यः—अद्य पुष्येण युक्तः कालः (आज पुष्यनक्षत्र से सम्बद्ध चन्द्रमा
युक्त काल है)—यहाँ पुष्य शब्द से पूर्व सूत्र से अण् हुआ । इस सूत्र से अण् का
लोप हो जाता है क्योंकि यहाँ रात या दिन आदि विशेष काल का पता नहीं
चलता ।

३६९. दृष्टमिति—'उसके द्वारा (तेन) देखा गया (दृष्ट) साम' इस अर्थ
में तृतीयान्त समर्थ से अण् प्रत्यय होता है ।

३७० । वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ ४।२।६। वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम् ।

३७१ । परिवृतो रथः ४।२।१०। अस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति । वस्त्रेण परिवृतो वास्त्रो रथः ।

वासिष्ठं साम—वसिष्ठेन दृष्टं साम (वशिष्ठ द्वारा दृष्ट साम)—इस विग्रह में वसिष्ठ शब्द से अण् प्रत्यय होता है। वसिष्ठ+अ इस दशा में आदि वृद्धि अ को आ तथा अन्त्य अ का लोप होकर वासिष्ठ्+अ→वासिष्ठ→वासिष्ठम् ।

३७०. वामदेवादिति—'उससे देखा गया साम' अर्थ में वामदेव शब्द से ड्यत् तथा ड्य प्रत्यय होते हैं।

ड्यत् और ड्य दोनों में 'य' शेष रहता है। तकार (तित्) स्वर[1] के लिये लगाया गया है।

वामदेव्यम्—वामदेवेन दृष्टं साम (वामदेव द्वारा देखा गया साम)—इस विग्रह में वामदेव शब्द से ड्यत् और ड्य प्रत्यय होकर वामदेव+य इस दशा में अ (टि) का लोप हो जाता है तथा वामदेव्य रूप बनता है।

टिप्पणी—साम मन्त्र विशेष हैं, जिन ऋषियों ने मन्त्र दर्शन किया अर्थात् जिन्हें मन्त्रों का ज्ञान हुआ, वे मन्त्र उसके द्वारा देखे गये (दृष्ट) कहलाते हैं।

३७१. परिवृत इति—'उससे ढका हुआ रथ' इस अर्थ में तृतीयान्त से अण् प्रत्यय होता है।

वास्त्रो रथः—वस्त्रेण परिवृतः रथः (वस्त्र से ढका हुआ रथ)—इस

---

१. तित्स्वरितम् ६।१।१८५। इससे ड्यत् का 'अ' स्वरित होता है, किन्तु ड्य का य आद्युदात्तश्च ३।१।३। से उदात्त होता है।

२. टेः ६।४।१४३।

३७२ तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ४।२।१४। शरावे उद्धृतः शाराव ओदनः।

३७३। संस्कृतं भक्षाः ४।२।१६। सप्तम्यन्तादण् स्यात्संस्कृत यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत्ते स्युः। भ्राष्ट्रेषु संस्कृता भ्राष्ट्रा यवाः।

३७४। साऽस्य देवता ४।२।२४। इन्द्रो देवता अस्येति ऐन्द्र

विग्रह में वस्त्र शब्द से अण् प्रत्यय होता है। वस्त्र+अ→वास्त्र्+अ→वास्त्रो रथः।

३७२. तत्रेति—अमत्र का अर्थ है पात्र। 'उसमें उठाकर रक्खा हुआ' इस अर्थ में पात्रवाचक शब्द से अण् प्रत्यय होता है।

शाराव ओदनः—शरावे उद्धृतः (सराई में उठाया हुआ)—इस अर्थ में शराव (सराई) शब्द से उपर्युक्त सूत्र से अण् प्रत्यय होता है। शराव+अ→ शारावः।

३७३. संस्कृतमिति—'उसमें संस्कृत' इस अर्थ में सप्तम्यन्त से अण् प्रत्यय होता है, यदि वह संस्कृत पदार्थ भक्ष्य (खाने की वस्तु) हो।

भ्राष्ट्राः यवाः—भ्राष्ट्रेषु संस्कृताः। (भाड़ में संस्कार किये हुए या भुने हुए)—इस अर्थ में भ्राष्ट्र शब्द से उपर्युक्त सूत्र से अण् प्रत्यय होता है। भ्राष्ट्र+अ इस दशा में आदि वृद्धि[1] आ को आ अन्त्य अ का लोप होकर 'भ्राष्ट्र' शब्द बनता है।

३७४. सास्येति—'वह इसका देवता है।' इस अर्थ में प्रथमान्त देवतावाची शब्द से अण् प्रत्यय होता है।

---

१. यद्यपि भ्राष्ट्र के आदि में आ है, यहाँ वृद्धि की आवश्यकता नहीं तथापि 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः' अर्थात् मेघ के समान लक्षण प्रवृत्त होते हैं, इस न्याय से वृद्धि होती है। भाव यह है कि जैसे मेघ कृषि–योग्य भूमि पर बरसता है, ...ी आवश्यकता न होते हुए भी तरङ्गित सागर पर, इसी प्रकार नियम ...) भी लक्ष्यानुसार आवश्यकता न होने पर भी लगते हैं।

हविः। पाशुपतम् बार्हस्पत्यम्।

३७५। शुक्राद् घन् ४।२।२६। शुक्रियम्।

३७६। सोमाट्ट्यण् ४।२।३०। सौम्यम्।

३७७। वाय्वृतुपित्रुषसो यत् ४।२।३१।

ऐन्द्रं हविः—इन्द्रो देवताऽस्य (इन्द्र है देवता इसका वह हवि)—इस अर्थ में इन्द्र शब्द से उपर्युक्त सूत्रानुसार अण् प्रत्यय होता है। इन्द्र+अ इस दशा में आदिवृद्धि इ को ऐ तथा अन्त्य 'अ' का लोप होकर ऐन्द्र' शब्द बनता है। हविः का विशेषण होने से नपुं० प्रथमैकवचन में 'ऐन्द्रम्'।

टिप्पणी—देवता अर्थ में सभी प्रयोगों को हविस् (नपुं०) का विशेषण करके नपुं० में दिया गया है।

पाशुपतम्—पशुपतिः देवताऽस्य (पशुपति है देवता इसका)—इस अर्थ में (अश्वपत्यादिभ्यश्च ४।१।८४) अण् प्रत्यय, आदि वृद्धि, अन्त्य (इ) का लोप होकर रूप बनता है। इसी प्रकार "बृहस्पतिः देवताऽस्य" बार्हस्पत्यम्। (दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः ४।१।८५)

३७५. शुक्रादिति—शुक्र शब्द से वह इसका देवता है' इस अर्थ में घन् प्रत्यय होता है।

शुक्रियम्—शुक्रो देवताऽस्य (शुक्र है देवता इसका)—इस अर्थ में उपर्युक्त सूत्र से शुक्र से घन् प्रत्यय होता है। शुक्र+घ यहाँ घ् को इय्[1] होकर शुक्र+इय्+अ (क्र के अ का लोप)[2]→शुक्रिय→शुक्रियम्।

३७६. सोमादिति—सोम शब्द से 'साऽस्य देवता' अर्थ में ट्यण् प्रत्यय होता है। ट्यण् में य शेष रहता है।

सौम्यम्—सोमो देवताऽस्य (सोम है देवता इसका)—इस अर्थ में सोम शब्द से ट्यण् प्रत्यय होता है। सोम+य→आदि वृद्धि, अन्त्य लोप—सौम्यम्।

३७७. वाय्विति—वायु, ऋतु, पितृ, उषस् शब्दों से, 'साऽस्य देवता, अर्थ में, यत् प्रत्यय होता है।

---

१. आयनेयीनीयियः० ७।१।२। (२४६) २. यस्येति च ६।४।१४८।

ऋतव्यम् ।

३७८ । रीङ् ऋतः ७।४।२७। अकृद्यकारे असार्वधातुके यकारे च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः स्यात् । 'यस्येति च' । पित्र्यम् उषस्यम् ।

३७८ (क) । पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ४।२।३६। एते निपात्यन्ते । पितुर्भ्राता पितृव्यः । मातुर्भ्राता मातुलः ।

वायव्यम्—वायुर्देवताऽस्य (वायु है देवता इसका)—इस अर्थ में 'वायु' शब्द से यत् प्रत्यय होता है । 'वायु+य' यहाँ उ को गुण[1] (ओ) तथा ओ को अव् आदेश[2] होकर वायव्+य→वायव्यम् रूप होता है ।

० ऋतव्यम्—ऋतुर्देवताऽस्य (ऋतु है देवता इसका)—इस अर्थ में यत् प्रत्यय होकर वायव्य के समान रूप होता है ।

३७८. रीङ् इति—कृद् तथा सार्वधातुक से भिन्न यकार और च्वि प्रत्यय परे रहने पर ऋदन्त अङ्ग को रीङ् आदेश होता है । (ऋ को रीङ्) ।

पित्र्यम्—पितरो देवताऽस्य (पितर हैं देवता जिसके वह हवि)—इस अर्थ में पितृ शब्द से 'वाय्वृतु० ३७७' सूत्र से यत् प्रत्यय होता है । पितृ+य इस दशा में "रीङ् ऋतः" से ऋ को री होकर पित् री+य तथा 'यस्येति च' से ई का लोप होकर पित्+र्+य→पित्र्य→पित्र्यम् रूप बनता है ।

उषस्यम्—उषाः देवताऽस्य हविषः (उषा है देवता इस हवि की)—इस अर्थ में यत् प्रत्यय होकर उषस्+य→उषस्य→उषस्यम् रूप होता है ।

पितृव्येति—पितृव्य, मातुल, मातामह पितामह—इन शब्दों का निपातन किया जाता है ।

टिप्पणी—"निपातन" पाणिनीय व्याकरण का पारिभाषिक शब्द है । जहाँ शब्दों के सिद्ध कर सूत्र में पढ़ दिये जाते हैं उनमें आवश्यकतानुसार प्रत्यय तथा आदेश आदि जाने जाते हैं वहाँ 'निपातन' (निपात्यन्ते) कहा जाता है ।

---

१. ओर्गुणः ६।४।१४६।   २. वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७९।

मातुः पिता मातामहः। पितुः पिता पितामहः।

३७९। तस्य समूहः ४।२।३७। काकानां समूहः काकम्।

३८०। भिक्षादिभ्योऽण् ४।२।३८। भिक्षाणां समूहो भैक्षम्। गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम्। इह *(वा) भस्याढे तद्धिते इति पुंवद्भावे कृते—

पितृव्यः - पितुर्भ्राता (पिता का भाई, चाचा ताऊ)—इस अर्थ मे पितृ शब्द से व्यत् प्रत्यय का निपातन किया गया है। पितृ+व्य→पितृव्यः।

मातुल—मातुर्भ्राता (माता का भाई, मामा)—इस अर्थ में मातृ शब्द से निपातन द्वारा डुलच् प्रत्यय होता है। डुलच् मे से उल शेष रहता है—मातृ+उल इस दशा में ऋ (टि) का लोप[1]→मात्+उल→मातुलः।

मातामहः—मातुः पिता (माता का पिता, नाना)—इस अर्थ मे मातृ शब्द से डामहच् प्रत्यय का निपातन किया गया है। मातृ+आमह→ऋ (टि) लोप→मात्+आमह→मातामहः। इसी प्रकार पितुः पिता (पिता का पिता, बाबा) पितृ+डामहच्→पितामहः।

३७९. तस्येति—षष्ठ्यन्त पद से (उसका) समूह अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।

काकम्—काकानां समूहः (कौओं का समूह)—इस अर्थ में काक शब्द से अण् प्रत्यय होता है काक+अ→आदि वृद्धि आ को आ तथा अन्त्य अ का लोप काक्+अ→काक→काकम्।

३८०. भिक्षादिभ्य इति—भिक्षा आदि शब्दों से, समूह अर्थ में, अण् प्रत्यय होता है।

टिप्पणी—भिक्षा आदि शब्दों से, समूह अर्थ में, अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् २।४७ आदि सूत्रों से ठक् आदि प्रत्यय प्राप्त हुए, उन्हें बाधने के लिये

---

१. टेः ६।४।१४३।

३८१ । इनण्यनपत्ये ६।४।१६४। अनपत्यार्थेऽणि परे इन्प्रकृत्य
स्यात् । तेन 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो न । युवतीनां समूहो यौवनम्

प्रकृत सूत्र द्वारा 'अण्' का विधान किया गया है।

भैक्षम्—भिक्षाणां समूहः (भिक्षा का समूह)—इस अर्थ में भिक्षा शब्द से
उपर्युक्त सूत्र द्वारा अण् प्रत्यय होता है। भिक्षा+अ→आदि वृद्धि इ' को ऐ
तथा अन्त्य 'आ' का लोप होकर "भैक्षम्' रूप बनता है।

गार्भिणम्—गर्भिणीनां समूहः (गर्भिणियों का समूह)—इस अर्थ में
गर्भिणी शब्द से (भिक्षादिगण में होने के कारण) अण् प्रत्यय होता है।
गर्भिणी+अ इस दशा में गर्भिणी को पुंल्लिङ्ग के समान रूप (पुंवद्भाव)
होकर तथा आदि वृद्धि होकर गार्भिन्+अ→गार्भिणम् रूप होता है।

इह····· टिलोपो नेति—यहाँ गर्भिणी+अण् इस अवस्था में 'भस्याढे
तद्धिते' (वा) (ढ भिन्न तद्धित परे होने पर भसंज्ञक को पुंवद्भाव होता है)
इस वार्तिक से पुंवद्भाव होकर 'गर्भिन्+अ' इस दशा में नस्तद्धिते से 'टि'
का लोप प्राप्त हुआ किन्तु—

३८१. इन् इति—अपत्य अर्थ से भिन्न अण् परे होने पर 'इन्' प्रकृतिभाव
से रहता है।

इस कारण नस्तद्धिते से टि का लोप नहीं होता। (क्योंकि यहाँ अपत्यार्थ
से भिन्न अर्थात् समूह अर्थ में अण् है)।

यौवनम्—युवतीनां समूहः (युवतियों का समूह) इस अर्थ में युवति
शब्द से (भिक्षादिभ्योऽण्) अण् प्रत्यय होने पर युवति+अण् पुंवद्भाव
युवन्+अ→आदि वृद्धि उ को औ तथा अन् को[1] प्रकृतिभाव→यौवन→
यौवनम् रूप होता है।

टिप्पणी—युवति=युवन्+ति (यूनस्तिः ४।१।७७) अतः पुंवद्भाव
से युवति को युवन् हो जाता है। भाषा में 'यौवतम्' शब्द का भी प्रयोग
मिलता है वह शतृ प्रत्ययान्त युवत् शब्द से ङीप् (स्त्री प्रत्यय) होकर बने
हुए युवती शब्द से (अनुदात्तादेरञ् ४।२।४४) अञ प्रत्यय होकर पुंवद्भाव

१. अन् ६।४।१६८ (३२७)

३८२ । ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् ४।२।४३। तलन्तं स्त्रियाम् । ग्रामता । जनता । बन्धुता । *(वा) गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम् । गजता । सहायता । * (वा) अह्नः ख. क्रतौ ॥ अह्नीनः । होकर बनता है (सि० कौ० सूत्र १२४१)।

३८२. ग्रामेति—ग्राम, जन और बन्धु शब्द से समूह अर्थ में तल् प्रत्यय होता है ।

तलन्तमिति (लि॰) तल् प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में होता है । (इससे स्त्रीप्रत्यय टाप् जोड़ा जाता है) ।

ग्रामता—ग्रामाणां समूहः (ग्रामों का समूह)—इस अर्थ में ग्राम शब्द से तल् प्रत्यय होता है । ग्राम+त स्त्रीलिङ्ग होने के कारण टाप् प्रत्यय होकर ग्राम+त+आ→ग्रामता शब्द बनता है । इसी प्रकार जनानां समूहः (जनों का समुदाय) जनता, बन्धूनां समूहः (बन्धुओं का समूह) बन्धुता ।

गजेति (वा)—गज और सहाय शब्दों से भी समूह अर्थ में तल् प्रत्यय करना चाहिए ।

गजानां समूहः (हाथियों का समूह)—गजता, सहायानां समूहः (सहायकों का समूह) सहायता ।

अह्न इति—अहन् शब्द से समूह अर्थ में ख प्रत्यय होता है यदि क्रतु (यज्ञ) वाच्य हो ।

अह्नीनः—अह्नां समूहेन साध्यः क्रतुः (दिनों के समूह में किया जाने वाला यज्ञ—इस अर्थ में अहन् शब्द से ख प्रत्यय होता है । अहन्+ख इस दशा में ख को ईन[1] आदेश होकर अहन्+ईन→अन् (टि) का लोप[2] अह्+ईन→अह्नीन→अह्नीनः ।

---

१. आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ७।१।२। (११६)
२. नस्तद्धिते ६।४।१४४। (१३०)

३८३। अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् ४।२।४७।

३८४। इसुसुक्तान्तात्कः ७।३।५१। इस् उस् उक्तान्तात्परस्य ठस्य कः स्यात्। साक्तुकम्। हास्तिकम्। धैनुकम्।

• ३८५। तदधीते तद्वेद ४।२।५९।

---

३८३. अचित्तेति—अचेतनवाची से तथा हस्ति और धेनु शब्द से समूह अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

३८४. इसुसिति—जिन शब्दों के अन्त में इस्, उस्, उक् या तकार हो उनसे परे ठ को क हो जाता है।

टिप्पणी—यहाँ उक् प्रत्याहार है, जिससे उ, ऋ, लृ का ग्रहण होता है।

साक्तुकम्—सक्तूनां समूहः (सत्तुओं का समूह)—इस अर्थ में अचित्तवाची सक्तु शब्द से समूह अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। सक्तु शब्द के अन्त में उक् (उ) है अतः ठ को क हो जाता है। सक्तु+क→आदि वृद्धि[1] स को सा→साक्तुक→साक्तुकम्।

हास्तिकम्—हस्तिनां समूहः (हाथियों का समूह)—इस अर्थ में हस्तिन् शब्द से ठक् प्रत्यय होता है। हस्तिन्+ठक् यहाँ ठस्येकः ७।३।५० से ठ को 'इक' हो जाता है। हस्तिन+इक→इन् (टि) लोप[2] तथा आदि वृद्धि ह को हा→हास्त्→इक→हास्तिक→हास्तिकम्।

टिप्पणी—हस्तिनीनां समूहः इस अर्थ में भी भस्याढे तद्धिते से पुंवद्भाव होकर 'हास्तिकम्' रूप होता है।

धैनुकम्—धेनूनां समूहः (धेनुओं का समूह)—इस विग्रह में धेनु शब्द से उगन्त सूत्र से ठक् प्रत्यय होता है। धेनु+ठक्→उक् अन्त में होने से ठ को क धेनु+क→आदि वृद्धि ए को ऐ – धैनु+क→धैनुकम्।

३८५. तदधीते इति—द्वितीयान्त से 'उसे पढ़ता है' या 'उसे जानता

---

१. किति च ७।२।११८ (३१४)

२. नस्तद्धिते १३०।

३. किति च ३१४।

३८६। न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् ७।३।३। पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्य न वृद्धिः किं तु ताभ्यां पूर्वौ क्रमादैचावागमौ स्त । व्याकरणमधीते वेद वा वैयाकरणः।

३८७। क्रमादिभ्यो वुन् ४।२।६१। क्रमकः। पदकः। शिक्षकः। मीमांसकः। इति रक्ताद्यर्थकाः ॥३॥

है' इस अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं।

३८६. न य्वाभ्यामिति—पदान्त के यकार तथा वकार से आगे वाले (पर) स्वर को वृद्धि नहीं होती, किन्तु उनसे पूर्व क्रमशः ऐच् का आगम होता है अर्थात् य् से पूर्व ऐ तथा व् से पूर्व औ का आगम होता है।

वैयाकरणः—व्याकरणमधीते वेद वा (व्याकरण को पढ़ता है। या जानता है)—इस विग्रह में व्याकरण शब्द से अण् प्रत्यय होता है। व्याकरण+अण् यहाँ आदि वृद्धि प्राप्त होती है उसे बाधकर 'न य्वाभ्याम्' इत्यादि सूत्रानुसार य् से पूर्व ऐ का आगम हो जाता है। व्+ऐ+या करण+अ अन्त्य अकार का लोप—वैयाकरण→वैयाकरणः।

टिप्पणी—व्याकरण=वि+आकरण, यहाँ वि उपसर्ग (पद) है, इ को य् हुआ है, अतः य् पदान्त माना जाता है तथा 'न य्वाभ्याम्' से वृद्धिनिषेध और ऐच् का आगम होता है।

३८७. क्रमादिभ्य इति—क्रम आदि शब्दों से 'उसे पढ़ता है' या 'जानता है' अर्थ में वुन् प्रत्यय होता है।

क्रमकः—क्रममधीते वेद वा (क्रम पाठ को पढ़ता है या जानता है)—इस विग्रह में क्रम शब्द से उपर्युक्त सूत्रानुसार वुन् प्रत्यय होता है। क्रम+वुन्→ वु को अक[1] होकर क्रम+अक→अन्त्य अकार का लोप[2] क्रम+अक क्रमक→ क्रमकः। इसी प्रकार पदं, पदपाठमधीते वेद वा (पद पाठ को पढ़ता है या जानता है) पदकः।

शिक्षकः—शिक्षामधीते वेद वा (शिक्षा को पढ़ता है या जानता है)—इस

१. युवोरनाकौ ७।१।१। २. यस्येति च ६।४।१४८।

अथ चातुरर्थिकाः ॥४॥

३८८ । तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ४।२।६७ उदुम्ब
सन्त्यस्मिन्देशे औदुम्बरो देशः ।

३८९ । तेन निर्वृत्तम् ४।२।६८ कुशाम्बेन निर्वृत्ता नग
कौशाम्बी ।

अर्थ में शिक्षा + वुन् → शिक्षा + अक प्रत्यय आकार का लोप[1] शिक्ष् + अक →
शिक्षकः । इसी प्रकार मीमांसामधीते वेद वा मीमांसकः ।

इति रक्ताद्यर्थकाः ॥३॥

अथ चातुरर्थिकाः—अब चातुरर्थिक प्रत्यय प्रारम्भ किये जाते हैं । इस प्रकरण में चार अर्थों में प्रत्यय कहे गये हैं इसी से इसका नाम चातुरर्थिक है । ये चार अर्थ हैं—१. वह वस्तु इसमें है, २. उसके द्वारा बनाया गया ३. उसका निवास, ४. उससे दूर न होने वाला । प्रत्ययान्त शब्द देश-विशेष अर्थात् किसी स्थान का नाम होता है ।

३८८. तदस्मिन्निति—'वह वस्तु इसमें है' इस अर्थ में प्रथमान्त शब्द से यथोक्त (कहे हुए तथा आगे कहे जाने वाले) प्रत्यय होते हैं, यदि प्रत्ययान्त शब्द देश का नाम हो ।

औदुम्बरो देशः—उदुम्बराः सन्त्यस्मिन् देशे (गूलर हैं इस देश में)—इस विग्रह में उदुम्बर शब्द से अण् प्रत्यय होता है । उदुम्बर + अण् आदि वृद्धि उ को औ तथा अन्त्य अकार का लोप-औदुम्बर् + अ → औदुम्बरः । देशविशेष का नाम है ।

३८९. तेनेति—'उसने बसाया (बनाया)' इस अर्थ में तृतीयान्त शब्द से यथोक्त प्रत्यय होते हैं ।

कौशाम्बी—कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी (कुशाम्ब के द्वारा बसाई हुई

---

१. यस्येति च ६।४।१४८।

९९० । तस्य निवासः ४।२।६९।
शिबीनां निवासो देशः शैबः ।
९९१ । अदूरभवश्च ४।२।७०।
विदिशाया अदूरभवं नगरं वैदिशम् ।
९९२ । जनपदे लुप् ४।२।८१।
जनपदे वाच्ये चातुरर्थिकस्य लुप् स्यात् ।
९९३ । लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने १।२।५१।
लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः । पञ्चालानां निवासो जन-

ी)—इस विग्रह में कुशाम्ब शब्द से अण् प्रत्यय होता है। कुशाम्ब+अ→ द वृद्धि अन्त्य अकार का लोप (कौशाम्ब) तथा स्त्रीत्व बोधक ङीप् (ई) प होकर कौशाम्बी ।

९९०. तस्येति—'उसका निवास' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त शब्द से यथोक्त ण् आदि) प्रत्यय होते हैं ।

शैबः—शिबीनां निवासो देशः (शिबि लोगों का निवास देश)—इस विग्रह शिबि शब्द से अण् प्रत्यय होता है। शिबि+अण्→आदिवृद्धि, अन्त्य र का लोप होकर शैब्+अ→शैबः ।

९९१. अदूरेति—'उसका अदूरभव अर्थात् दूर न होने वाला' इस अर्थ में न्त से यथोक्त (अण् आदि) प्रत्यय होते हैं ।

वैदिशम्—विदिशायाः अदूरभवं नगरम् (विदिशा नामक नगरी से दूर न वाला नगर)—इस अर्थ में विदिशा शब्द से अण् प्रत्यय होता है। विदिशा अण्—आदि वृद्धि इ को ऐ तथा अन्त्य आकार का लोप होकर वैदिश्+अ वैदिशम् ।

९९२. जनपद इति—जनपद अर्थात् देशविशेष वाच्य होने पर चातुरर्थिक लोप हो जाता है ।

९९३. लुपीति—प्रत्यय का लुप् (लोप) हो जाने पर प्रकृति (मूल) के लिङ्ग (जाति) तथा वचन होते हैं ।

पद: पञ्चालाः । कुरवः । अङ्गाः । वङ्गाः । कलिङ्गाः ।

३६४ । वरणादिभ्यश्च ४।२।८२।

अजनपदार्थ आरम्भः । वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः ।

टिप्पणी—सूत्र में युक्त शब्द का अर्थ है—प्रकृति (जिससे प्रत्यय किया जाता है) और 'व्यक्ति' का अर्थ है—लिङ्ग (पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग आदि)।

पञ्चालाः—पञ्चालानां निवासो जनपदः (पञ्चाल लोगों का निवास जनपद)—इस अर्थ में पञ्चाल शब्द से 'तस्य निवासः' अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। उनका निवास एक जनपद है अतः 'जनपदे लुप्' से अण् का लोप हो जाता है। अब 'पञ्चाल' शब्द एक जनपद का नाम है इसलिए उससे एकवचन प्राप्त होता है। किन्तु 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' के अनुसार प्रकृति क्षत्रियवाचक पञ्चाल शब्द (जो पुंल्लिङ्ग तथा बहुवचन है) के समान पुंल्लिङ्ग तथा बहुवचन में होता है।

इसी प्रकार—कुरूणां निवासो जनपदः (कुरु लोगों का निवास जनपद) कुरवः । अङ्गानां निवासो जनपदः अङ्गाः । वङ्गानां निवासो जनपदः वङ्गाः । कलिङ्गानां निवासो जनपदः कलिङ्गाः ।

टिप्पणी—पञ्चाल आदि जनपदों के नाम सदा पुंल्लिङ्ग और बहुवचन में ही प्रयुक्त होते हैं।

३६४, वरणादिभ्य इति—वरणा आदि शब्दों से परे चातुरर्थिक प्रत्यय का लोप होता है।

अजनेति—जनपद से भिन्न अर्थ में लोप करने के लिए यह सूत्र बनाया गया है (जनपद में तो पहले सूत्र से ही लोप हो जाता है)।

वरणाः—वरणानामदूरभवं नगरम् (वरणा से दूर न होने वाला नगर)—इस विग्रह में 'अदूरभव' अर्थ में अण् प्रत्यय होता है वरणा+अण्' यहाँ उपर्युक्त सूत्र से अण् का लोप हो जाता है तथा प्रकृति के समान लिङ्ग वचन होकर वरणाः रूप बनता है।

३६५ । कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् ४।२।८७।

३६६ । झयः ८।२।१०।

झयन्तान्मतोर्मस्य वः । कुमुद्वान् । नड्वान् ।

३६७ । मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८।२।९।

मवर्णावर्णान्तान्मवर्णावर्णोपधाच्च यवादिवर्जितात्परस्य मतोर्मस्य वः ।

---

३६५. कुमुदेति—कुमुद, नड, वेतस शब्दों से ड्मतुप् प्रत्यय होता है, चातुरर्थिक ।

टिप्पणी—ड्मतुप् में मत् शेष रहता है, डित् होने से इसके परे होने पर टि का लोप हो जाता है[1] ।

३६६. झयः—झयन्त से परे 'मतु' के म को व हो जाता है ।

टिप्पणी—झय् प्रत्याहार है, जिसके अन्तर्गत वर्गों के प्रथम-द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्ण आते हैं । 'झय्' का कोई वर्ण जिसके अन्त में होता है वह शब्द झयन्त कहलाता है; जैसे कुमुद् ।

कुमुद्वान्—कुमुदाः सन्ति अस्मिन् देशे (कुमुद होते हैं इस देश में)—इस अर्थ में कुमुद शब्द से ड्मतुप् प्रत्यय होता है । कुमुद+ड्मतुप् अ (टि) का लोप होकर कुमुद् शब्द झयन्त (दकारान्त) हो जाता है । तब "झय." से मतु के म् को व् होकर 'कुमुद्वत्' शब्द बनाता है । इससे प्रथमा, एकवचन में कुमुद्वान् ।

नड्वान्—नडाः सन्ति अस्मिन् देशे [नड (नरकुल या नरसल) होते हैं [इस देश में]—इस अर्थ में नड+ड्मतुप्→नड्+मत्←नड्वत्→नड्वान् (पूर्ववत्) ।

३६७. मादुइति[2]—जिस शब्द के अन्त में मकार या अकार हो तथा जिसमें अन्तिमवर्ण से पूर्व मकार या अकार हो (मवर्णावर्णोपधात्[3]) उससे परे

---

१. टेः ६।४।१४३ ३. अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा १।१।६५।

२. सूत्र के 'मात्' शब्द का 'मवर्ण तथा अवर्ण' यह अर्थ है । 'मकारश्च अकारश्च अनयोः समाहारः मं तस्मात् मात्' ।

वेतस्वान्।

६३८। नडशादाड्ड्वलच् ४।२।८८।

नड्वलः। शाद्वलः।

३९९। शिखाया वलच् ४।२।८९।

शिखावलः।

इति चातुरर्थिकाः ॥४॥

मतु के म् को व् हो जाता है।

वेतस्वान्—वेतसाः सन्ति अस्मिन् देशे (वेत होते हैं इस देश में)—विग्रह में वेतस शब्द से ड्मतुप् प्रत्यय होता है। वेतस+ड्मतुप्→म(और वेतस्+मत् इस अवस्था में अन्तिम वर्ण से पूर्व अकार होने के का (मवर्णोपध) मतु के म् को व् हो जाता है; वेतस्वत→वेतस्वान्।

३९८. नडेति—नड और शाद शब्द से चातुरर्थिक ड्वलच् प्र होता है।

ड्वलच् में वल शेष रहता है। डित् होने से इसके परे रहने पर टि ल होता है।

नड्वल—नडाः सन्ति अस्मिन् देशे—नड+ड्वलच् टि (अ) लोप +वल→नड्वल.।

शाद्वल—शादाः सन्ति अस्मिन् देशे (हरी घास है इस देश में)—विग्रह में शाद+ड्वलच् टि (अ) लोप→शाद्वलः। पूर्ववत्।

३९९. शिखाया इति—शिखा शब्द से चातुरर्थिक वलच् प्रत्यय होता है

शिखावल—शिखाः सन्ति अस्मिन् देशे (शिखा है इस स्थान में)—विग्रह में शिखा शब्द से वलच् प्रत्यय होकर अप बनता है।

इति चातुरर्थिकाः

अथ शैषिकाः ॥५॥

४०० । शेषे ४।२।९२।

अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषस्तत्राणादयः स्युः । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम् श्रावणः शब्दः । औपनिषदः पुरुषः । दृषदि पिष्टा दार्षदाः सक्तवः । चतुर्भिरुह्यते चातुरं शकटम । चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः । 'तस्य विकारः' इत्यत प्राक शेषाधिकारः ।

अथ शैषिकाः—यहाँ से शैषिक प्रत्यय आरम्भ होते हैं। शेष अर्थों में होने वाले प्रत्यय शैषिक कहलाते हैं।

४०० शेषे इति—अपत्य अर्थ से लेकर चातुरर्थिक तक के अर्थों से अन्य अर्थ शेष है, उस (शेष अर्थ) में अण् आदि प्रत्यय होते हैं।

चाक्षुषं रूपम्—चक्षुषा गृह्यते (चक्षु से जिसका ग्रहण किया जाता है)- इस विग्रह में चक्षुष् शब्द से अण् प्रत्यय होता है। चक्षुष्+अण् आदि वृद्धि (अ को आ) चाक्षुष्+अ→चाक्षुषम्।

श्रावणः शब्दः—श्रवणेन गृह्यते [श्रवण (कान) से जिसका ग्रहण किया जाता है]—श्रवण+अण्→श्रावण+अ→श्रावणः।

औपनिषदः पुरुषः—उपनिषद्भिः प्रतिपादितः (उपनिषदों के द्वारा जिसका प्रतिपादन किया गया है)-इस अर्थ में उपनिषद् शब्द से अण् प्रत्यय होता है। उपनिषद्+अण् आदि वृद्धि उ को औ औपनिषदः।

दार्षदाः सक्तवः—दृषदि पिष्टाः (पत्थर पर पिसे हुए सत्तू)—इस अर्थ में दृषद् शब्द से अण् प्रत्यय होता है। दृषद्+अण् आदि वृद्धि ऋ को आर् दार्षद्+अ→दार्षद, प्रथमा बहु० में दार्षदाः।

चातुरं शकटम्—चतुर्भिः उह्यते (जो चार से ले जाया जाता है)—इस अर्थ में चतुर् शब्द से अण् प्रत्यय होकर चतुर्+अ आदि वृद्धिः चातुरम्।

चातुर्दशं रक्षः—चतुर्दश्यां दृश्यते (जो चतुर्दशी में दिखलाई देता है)—इस अर्थ में चतुर्दशी शब्द से अण् प्रत्यय होकर चतुर्दशी+अण्→आदि वृद्धि तथा अन्त्य ई का लोप होकर चातुर्दश्+अ→चातुर्दश। रक्षः का विशेषण होने से नपुं० एकवचन में चातुर्दशम्।

४०१ । राष्ट्राऽवारपाराद्घखौ ४।२।९३।

आभ्यां क्रमाद् घखौ स्तः शेषे । राष्ट्रे जातादिः राष्ट्रियः, अ
रपारीणः । क्ष(वा) अवारपाराद्विगृहीतादपि विपरीताच्चेति
व्यम् ॥ अवारीणः पारीणः । पारावारीणः । इह प्रकृतिविशेषात् घाद
युद्युलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते, तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्त
वक्ष्यन्ते ।

तस्येति—तस्य विकारः' ४।३।१३४। इस सूत्र से पहले शेष
अधिकार है ।

४०१. राष्ट्रेति—राष्ट्र और अवारपार शब्द से क्रमशः घ और
प्रत्यय होते हैं ।

राष्ट्रियः—राष्ट्रे जातः, राष्ट्रे भवः आदि (राष्ट्र में पैदा हुआ आदि)
जात आदि अर्थों में राष्ट्र शब्द से घ प्रत्यय होता है । राष्ट्र+घ→घ्
इय् तथा राष्ट्र के अन्तिम 'अ' का लोप होकर राष्ट्र→इय→राष्ट्रियः ।

अवारपारीणः—अवारपारं गतः (वार पार गया हुआ)—इस अर्थ
अवारपार शब्द से 'ख' प्रत्यय होता है । अवारपार+ख→ख को ईन आ
तथा अन्त्य अकार का लोप होकर अवारपार्+ईन→(न् को ण्) अवा
पारीणः ।

अवारेति (वा)—अवारपार शब्द से, पृथक् किये जाने पर (अवार औ
पार) तथा उलट देने पर (पार+अवार=पारावार) भी ख प्रत्यय होता
यह कहना चाहिये ।

अवारीणः—अवारे जातः (वार में हुआ)—अवार शब्द से ख प्रत्य
होकर अवार+ख=अवार+ईन→अवारीणः । इसी प्रकार 'पारे जातः'—
पारीणः (पार+ख), पारावारे जातः'—पारावारीणः (पारवार+ख) ।

इहेति—यहाँ प्रकृति विशेष (राष्ट्र आदि) से 'घ' आदि (राष्ट्रावा
पाराद् घखौ) से लेकर ट्यु, ट्युल्, तुट् (सायं चिर॰ ४।३।२३) पर्यन्त प्रत्यय कहे
गये हैं, उनके जात (तत्र जातः ४।३।२५) इत्यादि अर्थ तथा समर्थ विभक्तियाँ

४०२ । ग्रामाद् यखञौ ४।२।९४।
ग्राम्य.ग्रामीणः ।
४०३ । नद्यादिभ्यो ढक् ४।२।९७।
नादेयम् । माहेयम् । वाराणसेयम् ।

(सप्तम्यन्त आदि) आगे कही जायेंगी । इस प्रकार प्रत्यय-विधायक तथा अर्थविधायक सूत्रों की एकवाक्यता से सूत्रों का अर्थ किया जाता है, यह भाव है ।

४०२. ग्रामाद् इति—ग्राम शब्द से शैषिक अर्थों में य, खञ् प्रत्यय होते हैं ।

ग्राम्यः—ग्रामे जातः ग्रामे भवः आदि (ग्राम में पैदा हुआ इत्यादि)—इन अर्थों में ग्राम शब्द से य प्रत्यय होता है । ग्राम+य→अन्त्य अकार का लोप-ग्राम्यः ।

ग्रामीणः—ग्रामे जातः आदि अर्थ में ग्राम शब्द से खञ । ग्राम+ख→ख को ईन तथा ग्राम के अन्त्य अकार का लोप होकर ग्राम+ईन→(न् को ण्) ग्रामीणः ।

४०३. नद्यादिभ्य इति—नदी आदि शब्दों से जातादि अर्थों में ढक् प्रत्यय होता है ।

नादेयम्—नद्यां जातम् आदि (नदी में हुआ आदि)—इन अर्थों में नदी शब्द से उपर्युक्त सूत्र से ढक् प्रत्यय होता है । नदी+ढक्→ढ को एय् आदेश होकर नदी+एय इस अवस्था में ढक् प्रत्यय के कित् होने से आदि वृद्धि१ (अ को आ) । तब अन्त्य ई का लोप२ होकर 'नादेयम्' रूप बनता है । इसी प्रकार—मह्यां जातम् आदि (पृथ्वी पर हुआ इत्यादि) माहेयम्, मही+ढक→मही+एय→माहेयम् । वाराणस्यां जातम् आदि (वाराणसी में हुआ इत्यादि) वाराणसेयम्, वाराणसी→ढक्→वाराणसी+एय→वाराणस्+एय→वाराणसेयम् ।

---

१. किति च ७।२।११८।   २. यस्येति च ६।४।१४८।

४०४। दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् ४।२।९८।
दाक्षिणात्यः। पाश्चात्त्यः। पौरस्त्यः।

४०५। द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ४।२।१०१।
दिव्यम्। प्राच्यम्। अपाच्यम्। उदीच्यम्। प्रतीच्यम्।

---

४०४. दक्षिणेति—दक्षिणा पश्चात् और पुरस् इन शब्दों से त्यक् प्रत्यय होता है (शैषिक)।

दाक्षिणात्यः—दक्षिणा जातः आदि (दक्षिण में उत्पन्न हुआ इत्यादि) इस विग्रह में दक्षिणा शब्द से उपर्युक्त सूत्रानुसार त्यक् प्रत्यय होता है दक्षिणा+त्यक्→कित् परे होने के कारण आदि वृद्धि 'अ' को आ→दाक्षिणात्यः।

टिप्पणी—यहाँ 'दक्षिणादाच्' ५।३।३६ इस सूत्र के अनुसार बना दक्षिण+आ=दक्षिणा शब्द लिया जाता है, जो अव्यय है, (सि॰ कौ॰, अतएव दक्षिणा जातः, दक्षिणा भवः यह विग्रह होगा। इसी प्रकार पश्चात् भवः (पीछे या पश्चिम में हुआ) पाश्चात्यः। पुरो भवः पहले या पूर्व में हुआ)—पुरस्+त्यक्→पौरस्त्यः।

४०५. द्युप्राग् इति—दिव्, प्राच्, अपाच् उदच् और प्रतीच् इन शब्दों से जातादि अर्थों में यत् प्रत्यय होता है।

दिव्यम्—दिवि जातम् आदि (स्वर्ग में हुआ आदि)—यहाँ दिव् शब्द से उपर्युक्त सूत्रानुसार यत् प्रत्यय होता है। दिव्+य→दिव्यम्।
इसी प्रकार प्राच्यम्-प्राच्यां भवं प्राग् भव वा (पूर्व दिशा में होने वाला) प्राच्+यत्।

अपाच्यम्—अपाच्यां जातं भवं वा (दक्षिण दिशा में हुआ) अपाच्+यत्→अपाच्यम्।

४०६ । अव्ययात्त्यप् ४।२।१०४। ॐ (वा) अमेहक्वतसित्रेभ्य एव ॥ अमात्यः । इहत्यः । क्वत्यः । ततस्त्यः । तत्रत्यः । ❀ (वा) त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम् ॥ नित्यः ।

४०७ । वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् १।१।७३। यस्य समुदायस्याचां मध्ये आदिर्वृद्धिस्तद् वृद्धसंज्ञं स्यात् ।

उदीच्यम्—उदीच्यां जातं, भवं वा (उत्तर दिशा में हुआ), उदीच् +यत् ।

प्रतीच्यम्—प्रतीच्यां जातं भवं वा (पश्चिम दिशा में हुआ)—प्रतीच् +यत्→प्रतीच्यम् ।

४०६. अव्ययाद् इति—अव्यय से शैषिक त्यप् प्रत्यय होता है । त्यप् में त्य शेष रहता है ।

अमेहेति (वा)—अमा (सह, साथ) इह (यहाँ), क्व (कहाँ) तस् प्रत्ययान्त (ततः, यतः आदि) और त्र प्रत्ययान्त (तत्र आदि) अव्ययों से ही त्यप् प्रत्यय होता है ।

अमात्यः—अमा (सह) भवः (साथ रहने वाला, मन्त्री)—इस विग्रह में अमा शब्द से त्यप् प्रत्यय होता है । अमा+त्यप्→अमा+त्य→अमात्यः ।

इसी प्रकार इह भवः (यहाँ होने वाला)—इहत्यः, क्व भवः (कहाँ होने वाला आदि) क्वत्यः, तत्र भवः (वहाँ होने वाला) तत्रत्यः और ततः आगतः (वहाँ से आया हुआ) ततस्त्यः ।

त्यब्नेरिति (वा)—नि उपसर्ग से ध्रुव अर्थ में त्यप् प्रत्यय होता है यह कहना चाहिये ।

नित्यः (स्थिर)—यहाँ नि उपसर्ग से ध्रुव अर्थ में त्यप् प्रत्यय होकर नि +त्यप्→नि+त्य→नित्यः ।

४०७. वृद्धिरिति—जिस समुदाय के स्वरों (अचों) में आदि स्वर वृद्धिसंज्ञक (आ, ऐ, औ) होता है उस समुदाय (शब्द) की वृद्धसंज्ञा होती है ।

४०८ । त्यदादीनि च १।१।७४। वृद्धसंज्ञानि स्युः।

४०९ । वृद्धाच्छः ४।२।११४। शालीयः । मालीयः । तदीयः ।

* (वा) वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या ॥ देवदत्तीयः । दैवदत्तः

४१० । गहादिभ्यश्च ४।२। १३८। गहीयः ।

---

४०८. त्यद् इति—त्यद् आदि की भी वृद्धसंज्ञा होती है।

४०९. वृद्धादिति—वृद्धसंज्ञक (शब्दों) से छ प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में।

शालीयः—शालायां जातः, भवो वा (शाला में हुआ इत्यादि)—यहाँ 'शाला' शब्द वृद्धसंज्ञक है, क्योंकि इसका आदि अच् 'आ' है जिसकी वृद्धि संज्ञा, की गई है।[1] इसी हेतु शाला शब्द से छ प्रत्यय हो जाता है। शाला+छ→छ को ईय्[2] तथा अन्त्य आ' का लोप शाल्+ईय→शालीयः।

इसी प्रकार—मालायां जातः आदि मालीयः।

तदीयः—तस्य अयम् (उसका यह)—इस अर्थ में तद् शब्द से 'वृद्धाच्छः' से छ प्रत्यय होता है (त्यदादि में होने से तद् शब्द की वृद्ध संज्ञा है)। तद् +छ→तद्+ईय—तदीयः।

वा नामधेयस्येति (वा)—किसी व्यक्ति के नाम की विकल्प से वृद्धसंज्ञा कहनी चाहिये।

देवदत्तीयः, दैवदत्तः—देवदत्तस्य अयम् (देवदत्त का)—यह देवदत्त व्यक्ति का नाम है इसलिये जब इसकी वृद्ध संज्ञा हो जाती है तो छ प्रत्यय होकर देवदत्त+छ—देवदत्त+ईय अाकार लोप—देवदत्तीयः रूप होता है। जब वृद्धसंज्ञा नहीं होती तो अण् प्रत्यय होकर देवदत्त+अण्→आदि वृद्धि ए को ऐ दैवदत्तः।

४१०. गहादिभ्य इति—गह आदि शब्दों से भी छ प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में।

गहीयः—गहः देशविशेषः, तत्र जातः आदि (गह नाम के देश में

१. वृद्धिरादैच् १।१।१ २. आयनेयीनीयियः० ७।१।२।

४११। युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च ४।३।१। चाच्छः। पक्षेऽण्। युवयोर्युष्माकं वाऽयं युष्मदीयः। अस्मदीयः।

४१२। तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ ४।३।२। युष्मदस्मदोरेतावादेशौ स्तः खञि अणि च। यौष्माकीणः। आस्माकीनः। यौष्माकः। आस्माकः।

उत्पन्न हुआ आदि—इस विग्रह में गह शब्द से छ प्रत्यय होता है। गह+छ→गह+ईय अकारलोप गह्+ईय=गहीयः।

४११. युष्मद् इति—युष्मद्, अस्मद् शब्द से विकल्प से खञ् प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में।

चादिति—च (और) कहने से छ प्रत्यय भी होता है। तथा (विकल्प से होने के कारण) पक्ष में अण् प्रत्यय होता है।

टिप्पणी—युष्मद्, अस्मद् शब्द की 'त्यदादीनि च' से वृद्ध संज्ञा होकर 'छ' प्राप्त था, उपर्युक्त सूत्र से विकल्प से खञ् तथा पक्ष में अण् हुआ। इस प्रकार इनसे छ, खञ् तथा अण् ये तीन प्रत्यय (शैषिक अर्थों में) होते हैं।

युष्मदीयः—युवयोः युष्माकं वाऽयम् (तुम दोनों का या तुम सब का यह) —इस विग्रह में युष्मद् शब्द से छ प्रत्यय होता है। युष्मद्+छ→युष्मद्+ईय→युष्मदीयः। इसी प्रकार—आवयोः अस्माकं वा अयम् (हम दोनों का या हम सबका) अस्मदीयः।

४१२. तस्मिन् इति—युष्मद् और अस्मद् को युष्माक और अस्माक आदेश होते हैं उन खञ् प्रत्यय और अण् प्रत्यय के परे रहने पर।

यौष्माकीण—युवयोः युष्माकं वा अयम्—युष्मद्+खञ्→युष्मद् का युष्माक आदेश तथा ख को ईन होकर युष्माक+ईन→आदिवृद्धि उ को औ, अन्त्य अ का लोप—यौष्माक्+ईन→न को ण→यौष्माकीणः।

इसी प्रकार अस्मद्+खञ्→आस्माकीनः।

यौष्माकः—युष्मद्+अण्=युष्मद् को युष्माक आदेश होकर युष्माक+अ→आदिवृद्धि अन्त्य अकार लोप यौष्माकः। इसी प्रकार अस्मद्+अण्—आस्माकः।

४१३ । तवकममकावेकवचने ४।३।३। एकार्थवाचिनोर्युष्मद-स्मदोस्तवकममकौ स्तः खञि अणि च । तावकीनः, तावकः । मामकीनः, मामकः । छे तु—

४१४ । प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ७।२।९८। मपर्यन्तयोरेकार्थवाचिनोस्त्वमौ स्तः प्रत्यये उत्तरपदे च परतः । त्वदीयः । मदीयः । त्वत्पुत्रः । मत्पुत्रः ।

---

४१३. तवकेति—एकार्थवाचक युष्मद् और अस्मद् को तवक और ममक आदेश होते हैं खञ् और अण् प्रत्यय परे रहने पर ।

तावकीनः, तावकः—तव अयम् (तेरा)—युष्मद् शब्द से खञ् तथा अण् । एकार्थवाचक होने से युष्मद् को 'तवक' आदेश होकर तवक+खञ्=आदि-वृद्धि अ को आ तथा अन्त्य अ का लोप होकर तावक्+ईन—तावकीनः । तथा तवक+अण्—तावकः । इसी प्रकार मम अयम् (मेरा)=अस्मद्+खञ् =ममक+ईन=मामकीनः । अस्मद्+अण्—ममक+अण्=मामकः ।

छे तु=छ प्रत्यय परे होने पर तो (एकवचन में, आगे कहे हुए कार्य होंगे) ।

४१४. प्रत्ययोत्तरपदयोरिति—एकार्थवाचक युष्मद् अस्मद् के म पर्यन्त (भाग) को त्व और म आदेश होते हैं, प्रत्यय और उत्तरपद परे रहने पर ।

त्वदीयः—तव अयम् (तेरा)—एकवाची युष्मद् शब्द से छ प्रत्यय होकर युष्मद्+छ इस दशा में ऊपर के सूत्रानुसार म पर्यन्त भाग (युष्म्) को त्व तथा छ को ईय हो जाता है । त्वद्+ईय=त्वदीयः ।

इसी प्रकार मम अयम् (मेरा) अस्मद्+छ=मद्+ईय=मदीयः ।

त्वत्पुत्रः—तव पुत्रः (तेरा पुत्र) इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है। ङसि+पुत्र सु—यहाँ विभक्ति लोप होकर 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' से शब्द (उत्तरपद) परे रहते युष्मद् के म पर्यन्त को त्व होकर 'त्वत्पुत्रः'

४१५ । मध्यान्मः ४।३।८।

मध्यमः ।

४१६ । कालाट्ठञ् ४।३।११।

कालवाचिभ्यष्ठञ् स्यात् । कालिकम् । मासिकम् । सांवत्सरिकम् । *(वा) अव्ययानां भमात्रे टिलोपः ॥ सायंप्रातिकः । पौनःपुनिकः ।

४१७ । प्रावृष एण्यः ४।३।१७।

प्रावृषेण्यः ।

बनता है। इसी प्रकार मम पुत्रः इति 'मत्पुत्रः'। (ये दोनों समास-विधि के उदाहरण हैं क्योंकि उत्तरपद समास में ही सम्भव है)।

४१५. मध्यादिति—मध्य शब्द से शैषिक अर्थों में 'म' प्रत्यय होता है।

मध्यम—मध्ये भवः (मध्य में होने वाला)—मध्य+म→मध्यमः।

४१६. कालादिति—कालवाची से शैषिक अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है।

कालिकम्—काले जातम् आदि (काल में हुआ आदि)—काल शब्द से ठञ प्रत्यय होकर, ठ को इक् आदेश[1] हो जाता है। काल+इक→आदि वृद्धि, अन्त्य अकार का लोप होकर कालिकः।

इसी प्रकार मासे जातं भवं वा मासिकम्, संवत्सरे (वर्ष में) भवम्-सांवत्सरिकम्।

अव्ययानामिति (वा)—भ संज्ञा होने पर सर्वत्र, अव्यय की टि (अन्त्य अच् सहित अग्रिम भाग) का लोप होता है।

सायंप्रातिक.—सायंप्रातः भवः (सायं और प्रातः होने वाला)—सायम् प्रातर्+ठञ्→सायप्रातर्+इक→आदिवृद्धिः, ऊपर के वार्तिक से अर् (टि) का लोप सायंप्रातिकः। इसी प्रकार पुनः पुनर्भवः (बार बार होने वाला) पुनः पुनर्+ठञ्→आदिवृद्धि तथा टिलोप होकर पौनः पुनिकः।

४१७. प्रावृष इति—प्रावृष् शब्द से शैषिक अर्थों में एण्य प्रत्यय होता है।

---

१. ठस्येकः ७।३।५०। २. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।

४१८। सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्यु ट्युलौ तुट् च ४।३।२३। सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्यु ट्युलौ स्तस्तयोस्तुट् च। सायन्तनम्। चिरन्तनम्। प्राह्णेप्रगेऽनयोरेदन्तत्वं निपात्यते। प्राह्णेतनम्। दोषातनम्।

प्रावृषेण्य—प्रावृषि भवः (वर्षा ऋतु में होने वाला)—प्रावृष्+एण्य→प्रावृषेण्यः।

४१८ सायमिति—सायम् चिरम्, प्राह्णे, प्रगे तथा कालवाची अव्ययों से ट्यु और ट्युल् प्रत्यय होते हैं और उनको तुट् का आगम होता है।

टिप्पणी—ट्यु और ट्युल् प्रत्ययों में यु शेष रहता है। इन दोनों के स्वर में भेद है। यु को 'युवोरनाकौ' से 'अन्' होकर, 'अन् के आदि' में तुट् का आगम होता है। तुट् में त् शेष रहता है अतः प्रत्यय का रूप 'तन' हो जाता है।

सायन्तनम्—साये भवम्। (सायंकाल को होने वाला) साय शब्द घञ् प्रत्ययान्त है। उससे ट्यु तथा ट्युल् प्रत्यय होकर तथा प्रत्ययों के साथ उसका निपातनात् मकारान्त रूप होकर सायम्+ट्यु→यु को अन सायम्+अन+तुट् का आगम—सायम्+त्+अन्→सायन्तनम् इसी प्रकार 'चिरे भवम्' (देर में होने वाला) चिरन्तनम्।

टिप्पणी—सायम् और चिरम् शब्द अव्यय भी हैं उनसे तो अव्यय होने के कारण ही ट्यु ट्युल् प्रत्यय हो जाते हैं।

प्राह्णेतनम्—प्राह्णे जातम् आदि। (पूर्वाह्ण काल में उत्पन्न हुआ)—प्राह्ण शब्द से ट्यु, ट्युल् प्रत्यय तथा निपातन से एकारान्तता होकर प्राह्णे+ट्यु (ट्युल)→यु को अन तथा तुट् आगम—प्राह्णे+त्+अन→प्राह्णेतनम्।

प्रगेतनम्—प्रगे जातम् (प्रातःकाल उत्पन्न हुआ)—प्रगे+ट्यु (ट्युल)→प्रगे+त्+अन→प्रगेतनम्।

दोषातनम्—दोषा भवम् (रात को होने वाला)—कालवाची. अव्यय

---

१. प्राचन्तौ टरित्तौ १।१।४६।

४१९ । तत्र जातः ।४।३।२५

सप्तमीसमर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः । स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः । उत्से जात औत्सः । राष्ट्रे जातो राष्ट्रियः । अवारपारे जातः अवारपारीणः । इत्यादि ।

४२० । प्रावृषष्ठप् ४।३।२६।

एण्यापवादः । प्रावृषिकः ।

दोषा (रात्रि) से ट्यु, ट्युल् प्रत्यय होकर दोषा+यु→यु को अन तथा तुट् का आगम—दोषा+त् अन→दोषातनम् ।

४१९. तत्रेति—सप्तम्यन्त समर्थ से 'उत्पन्न हुआ' या 'हुआ' इस अर्थ में अण् आदि और घ आदि प्रत्यय होते हैं ।

टिप्पणी—जैसा कि ऊपर ('राष्ट्रावार०" सूत्र के नीचे) कहा गया है शैषिक अर्थों मे से एक अर्थ का तथा समर्थ विभक्ति का निर्देशक यह सूत्र है । एक अर्थ निर्देशक सूत्र से दूसरे अर्थ निर्देशक सूत्र तक जो प्रत्यय कहे जायेंगे वे ऊपर वाले विशेष अर्थ मे ही होते हैं । जैसे 'तत्र जातः' से आगे प्रायभवः ४२१. 'तक के प्रत्यय 'तत्र जातः' अर्थ मे होते हैं ।

स्रौघ्नः—स्रुघ्ने जातः (स्रुघ्न नामक देश मे पैदा हुआ) स्रुघ्न+अण्→आदि वृद्धि उ को औ, अन्त्य अ का लोप स्रौघ्न्+अ→स्रौघ्नः ।

औत्सः—उत्से जातः (स्रोत मे उत्पन्न हुआ,—यहाँ उत्सादिभ्योऽञ् ४।१।८६। से अञ् प्रत्यय होता है । उत्स+अ→औत्सः, पूर्ववत् ।

राष्ट्रियः, अवारपारीणः की सिद्धि पहले आ चुकी है ।

४२०. प्रावृष इति—प्रावृष् शब्द से हुआ जात) अर्थ मे ठप् प्रत्यय होता है । ठप में ठ शेष रहता है ।

यह ठ प्रत्यय ('प्रावृष एण्यः, से कहे हुए) एण्य प्रत्यय का (जात अर्थ में) बाधक है ।

प्रावृषिकः—प्रावृषि जातः (वर्षा ऋतु मे उत्पन्न हुआ)=प्रावृष्+ठप्→प्रावृष्+ठ→ठ को इक होकर प्रावृषिकः ।

---

१. दस्येकः ७।३।५०।

४२१ । प्रायभवः ४।३।३९
तत्रेत्येव । स्रुघ्ने प्रायेण बाहुल्येन भवति स्रौघ्नः ।
४२२ । सम्भूते ४।३।४१।
स्रुघ्ने सम्भवति स्रौघ्नः ।
४२३ । कोशाड्ढञ् ४।३।४२।
कौशेयं वस्त्रं ।
४२४ । तत्र भवः ४।३।५३।
स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः । औत्सः । राष्ट्रियः ।

---

४२१. प्रायभव इति—सप्तम्यन्त समर्थ से प्रायभावः (अधिकतर होने वाला) अर्थ में अण् आदि तथा घ आदि प्रत्यय होते हैं ।

स्रौघ्नः—स्रुघ्ने प्रायेण (बाहुल्येन) भवति (स्रुघ्न देश में अधिकता से होता है)—स्रुघ्न+अण् ।

४२२. सम्भूते इति—सप्तम्यन्त समर्थ शब्द से सम्भूत (होना सम्भव है) अर्थ में अण् आदि तथा घ आदि प्रत्यय होते हैं ।

स्रौघ्न—स्रुघ्ने सम्भवति (स्रुघ्न देश में जिसकी सम्भावना है)—स्रुघ्ने+अण् ।

४२३. कोशाद् इति—सम्भूत अर्थ में कोश शब्द से ढञ् प्रत्यय होता है ।

कौशेय वस्त्रम्—कोशे सम्भूतम् (कोश में सम्भव अर्थात् कृमिकोश में होने वाला, रेशम या रेशमी)—इस विग्रह में कोश शब्द से ढञ् प्रत्यय होकर कोश+ढञ्→ढ को एय तथा अन्त्य अकार का लोप होकर आदि वृद्धि कौशेय→कौशेयम् ।

टिप्पणी—वस्तुतः (कोशस्य विकारः इति) विकार में ढञ् होना उचित है जैसा कि वार्तिक है—' विकारे कोशाड्ढञ् सम्भूते ह्यर्थानुपपत्तिः ।"

४२४. तत्र भव इति—सप्तम्यन्त से भव (विद्यमान, होने वाला) अर्थ में अण् आदि तथा घ आदि प्रत्यय होते हैं । स्रुघ्नेः भवः=स्रौघ्नः (स्रुघ्न

४२५। दिगादिभ्यो यत् ४।३।५४। दिश्यम्। वर्ग्यम्।

४२६। शरीरावयवाच्च ४।३।५५। दन्त्यम्। कण्ठ्यम्।

(वा) अध्यात्मादेष्ठञिष्यते॥ अध्यात्मं भवमाध्यात्मिकम्।

४२७। अनुशतिकादीनां च ७।३।२०। एषामुभयपदवृद्धिः

देश में होने वाला)—स्रुघ्न+अण्। इसी प्रकार उरसि भवः औरसः। राष्ट्रे भवः राष्ट्रियः।

४२५. दिगादिभ्य इति—दिश् आदि शब्दों से 'तत्र भवः' अर्थ में यत् प्रत्यय होता है।

दिश्यम्—दिशि भवम् (दिशा में होने वाला)—यत्→दिश्यम्। इसी प्रकार वर्गे भवम् (वर्ग या समूह में होने वाला) वर्ग्यम् (वर्ग शब्द दिगादि गण में है)।

४२६. शरीरेति—शरीर के अवयववाची शब्दों से भी 'तत्र भवः' इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है।

दन्त्यम्—दन्तेषु भवम् (दांतों में होने वाला)—इस अर्थ में शरीरावयवाची दन्त शब्द से यत् प्रत्यय होकर दन्त+यत्→अन्त्य अकार का लोप-दन्त्यम्। इसी प्रकार 'कण्ठे भवम्' (कण्ठ में होने वाला) कण्ठ+यत्→कण्ठ्यम्।

अध्यात्मादेरिति (वा)—अध्यात्म आदि शब्दों से 'तत्र भवः' अर्थ में ठञ् प्रत्यय इष्ट है।

आध्यात्मिकम्—अध्यात्मं भवम् (आत्मा में होने वाला)—इस विग्रह में अध्यात्म शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है। अध्यात्म+ठञ्→ठकार को+इक्,→आध्यात्मिकम्।

४२७. अनुशतिकेति—अनुशतिक आदि समस्त पदों के पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों (उभयपद) की आदि वृद्धि होती है ञित्, णित् और कित्

स्यात् जिति णिति किति च । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । ऐहलौकिकम् । पारलौकिकम् । आकृतिगणोऽयम् ।

४२८ । जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः ४।३।६२। जिह्वामूलीयम् अङ्गुलीयम् ।

तद्धित प्रत्यय परे होने पर ।

आधिदैविकम्—अधिदेवं भवम् (देवों में होने वाला)—अधिदेव+ठञ् →ठकार को इक् आधिदेव+इक→अनुशतिक आदि में पाठ होने से उभयपद वृद्धि (अधि के अ को आ तथा देव के ए को ऐ) आधिदैव+इक अन्त्य अकार का लोप-आधिदैविकम् । इसी प्रकार—

आधिभौतिकम्—अधिभूतं भवम् (पृथिवी आदि भूतों में होने वाला) अधिभूत+ठञ् ।

टिप्पणी—आत्मनि इति अध्यात्मम्, देवे इति अधिदैवम्, भूते इति अधिभूतम्—ये शब्द विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास होकर बने हैं ।

ऐहलौकिकम्—इह लोके भवम् (इस लोक में होने वाला)-इहलोक+ठञ् ।

पारलौकिकम्—परलोके भवम् (परलोक में होने वाला)--परलोक+ठञ् ।

आकृतिगण इति—यह अनुशतिक आदि गण आकृति गण है । भाव यह है कि जिन प्रयोगों में उभयपद वृद्धि देखी जाती है किन्तु किसी नियम (सूत्र) से नहीं की गई, उनको अनुशतिकादि गण में समझना चाहिए ।

४२८. जिह्वामूलेति—जिह्वामूल तथा अङ्गुलि शब्द से 'तत्र भवः' अर्थ में छ प्रत्यय होता है ।

जिह्वामूलीयम्—जिह्वामूले भवम् (जिह्वामूल में होने वाला)—यहाँ जिह्वामूल शब्द से छ प्रत्यय होकर जिह्वामूल+छ→छ को ईय् जिह्वामूल+ईय→अन्त्य अ का लोप-जिह्वामूलीयः ।

अङ्गुलीयम्—अङ्गुल्यां भवम् (अङ्गुलि में रहने वाली, अंगूठी)—

४२९ । वर्गान्ताच्च ४।३।६३। कवर्गीयम् ।

४३० । तत आगतः ४।३।७४। स्रुघ्नादागतः स्रौघ्नः ।

४३१ । ठगायस्थानेभ्यः ४।३।७५। शुल्कशालाया आगतः शौल्कशालिकः ।

४३२ । विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ् ४।३।७७। औपाध्यायकः । पैतामहकः ।

अङ्गुलि + छ → अङ्गुलि + ईय → अन्त्य इकार का लोप अङ्गुलीयम् ।

४२९. वर्गान्तादिति—जिस शब्द के अन्त में वर्ग शब्द हो उससे भी 'तत्र भवः' अर्थ में छ प्रत्यय होता है ।

कवर्गीयम्—कवर्गे भवम् (कवर्ग में होने वाला)—कवर्ग + छ → कवर्ग + ईय → कवर्गीयम् ।

४३०. तत इति—पञ्चम्यन्त समर्थ से आगतः (आया हुआ) इस अर्थ में अण् आदि तथा घ आदि प्रत्यय होते हैं । जैसे—स्रुघ्नाद् आगतः (स्रुघ्न देश से आया हुआ) स्रुघ्न + अण्—स्रौघ्नः ।

४३१. ठगिति—आयस्थानवाची शब्दों से 'तत आगतः' (वहाँ से आया हुआ) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

शौल्कशालिकः—शुल्कशालाया आगतः (कर ग्रहण के स्थान से आया हुआ)—इस विग्रह में शुल्कशाला शब्द से ठक प्रत्यय होता है । शुल्कशाला + ठक् → ठकार को इक्, आदिवृद्धि तथा अन्त्य आकार का लोप होकर शौल्कशालिकः ।

४३२. विद्येति—विद्या तथा रक्त (योनि) के सम्बन्धवाची शब्दों से 'तत आगतः' इस अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है ।

औपाध्यायकः—उपाध्यायाद् आगतः (उपाध्याय से आया हुआ)—विद्याकृत सम्बन्धवाचक उपाध्याय शब्द से वुञ प्रत्यय होता है । वु को अक[1], आदि (उ) को वृद्धि (औ) तथा अन्त्य अकार का लोप होकर औपाध्यायकः ।

१. युवोरनाकौ ७।१।१।

४३३ । हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः ४।३।८१। समाद
गतं समरूप्यम पक्षे गहादित्वाच्छः। समीयम् । विषमीयम् । देवद
रूप्यम् । दैवदत्तम् ।

४३४ । मयट् च ४।३।८२। सममयम् । देवदत्तमयम् ।

४३५ । प्रभवति ४।३।८३। हिमवतः प्रभवति हैमवती गङ्ग

पैतामहकः—पितामहाद् आगतः (पितामह से आया हुआ) – र
सम्बन्धवाची पितामह शब्द से वुञ् प्रत्यय होता है। पितामह+वुञ्-
पैतामहकः ।

४३३. हेतुमनुष्येभ्य इति—हेतुओं से तथा मनुष्यों (के नामों) से त
आगतः अर्थ में विकल्प से रूप्य प्रत्यय होता है।

समरूप्यम्—समाद् आगतम् (सम हेतु से आया हुआ)—सम+रूप्य-
समरूप्यम् । इसी प्रकार विषमरूप्यम् ।

समीयम्—रूप्य प्रत्यय विकल्प से होता है, जहाँ यह नहीं होता वह
(पक्ष में) 'गहादिभ्यश्च ४।२।१३८। से छ प्रत्यय होता है। सम+छ→सम+
ईय→समीयम् । इसी प्रकार विषमीयम् ।

देवदत्तरूप्यम्—देवदत्ताद् आगतम् (देवदत्त से आया हुआ)—मनु
के नामवाची देवदत्त शब्द से रूप्य प्रत्यय होकर बनता है। पक्ष में देवदत्त+
अण्→दैवदत्तम् ।

४३४. मयट् चेति—हेतु तथा मनुष्यों (के नामों) से तत आगत अर्थ
में मयट् प्रत्यय भी होता है। (मयट् में मय शेष रहता है)

सममयम्—सम+मय→सममयम् । इसी प्रकार देवदत्तमयम् ।

४३५. प्रभवति—प्रभवति का अर्थ है प्रकट होता है, निकलता है।
पञ्चम्यन्त से तत: प्रभवति' यहाँ प्रकट होता है अर्थ में अण् आदि और
आदि प्रत्यय होते हैं।

हैमवती गङ्गा—हिमवतः प्रभवति (हिमालय से निकलती है)—इस
विग्रह में हिमवत् शब्द से अण् प्रत्यय होता है। हिमवद्+अण्→

४३६ । तद्गच्छति पथिदूतयोः ४।३।८५। स्रुघ्नं गच्छति स्रौघ्नः पन्था दूतो वा ।

४३७ । अभिनिष्क्रामति द्वारम् ४।३।८६। स्रुघ्नमभिगच्छति स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् ।

४३८ । अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४।३।८७। शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः ।

आदिवृद्धि इ को ऐ हैमवत्+अ→हैमवत→स्त्री प्रत्यय ङीप् होकर अन्त्य अ का लोप हैमवत्+ई→हैमवती ।

४३६. तद् गच्छतीति—'उसको जाता है' (तद् गच्छति)—इस अर्थ में द्वितीयान्त से अण् आदि प्रत्यय होते हैं, यदि जाने वाला मार्ग या दूत होता है ।

स्रौघ्नः—स्रुघ्नं गच्छति, पन्थाः दूतो वा (स्रुघ्न देश को जाने वाला मार्ग या दूत) स्रुघ्न+अण् ।

४३७. अभिनिष्क्रामतीति—'उसकी ओर निकलता है' (तद् अभिनिष्क्रामति)—इस अर्थ में द्वितीयान्त से अण् आदि प्रत्यय होते हैं, यदि निकलने वाला द्वार होता है ।

स्रौघ्नम्—स्रुघ्नम् अभिनिष्क्रामति, कान्यकुब्जद्वारम् (स्रुघ्न देश की ओर निकलने वाला कन्नौज का द्वार-स्रौघ्न कहलाता है) रूपसिद्धि पहले के समान है ।

४३८. अधिकृत्येति—'उस विषय को लेकर ग्रन्थ बनाया' इस अर्थ में द्वितीयान्त से अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।

शारीरकीयः—शारीरकम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः (जीवात्मा को विषय करके रचा हुआ ग्रन्थ)—इस विग्रह में शारीरक शब्द से 'वृद्धाच्छः' से छ प्रत्यय होता है । शारीरक+छ→शारीरक्+ईय→शारीरकीयः ।

टिप्पणी—शरीरमेव शरीरकम् (स्वार्थ में क), तत्र भवः—शारीरकः जीवात्मा । अथवा शरीरस्यायं शारीरः 'तस्येदम्' से अण् प्रत्यय होकर स्वार्थ में 'क' होता है ।

४३९ । सोऽस्य निवासः ४।३।८९। स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्न
४४० । तेन प्रोक्तम् ४।३।१०१। पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीय
४४१ । तस्येदम् ४।३।१२०। उपगोरिदम् औपगवम् ।

इति शैषिकाः ॥५॥

अथ विकारार्थकाः ॥६॥

४४२ । तस्य विकारः ४।३।१३४। * (वा) अश्मनो विका

---

४३९. सोऽस्येति—"वह इसका निवास स्थान है ।" इस अर्थ में प्रथमा से अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।

स्रौघ्नः—स्रुघ्नो निवासोऽस्य (स्रुघ्न देश है निवास इसका)—स्रुघ्न+ अण् ।

४४०. तेनेति—"उसके द्वारा प्रोक्त" इस अर्थ में तृतीयान्त से अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।

पाणिनीयम्—पाणिनिना प्रोक्तम् (पाणिनि द्वारा प्रवचन किया हुआ)-इस विग्रह में पाणिनि शब्द में 'वृद्धाच्छः' से छ प्रत्यय होता है । पाणिनि+छ→ पाणिनि+ईय→अन्त्य इकार का लोप पाणिन्+ईय→पाणिनीयं व्याकरणम् ।

४४१. तस्येति—'उसका यह' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त से अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।

औपगवम्—उपगोः इदम् (उपगु का यह है)—इस विग्रह में उपगु शब्द से अण् प्रत्यय होता है । रूपसिद्धि पहले के समान है । इति शैषिकाः ॥५॥

अथ विकारार्थकाः—यहाँ से विकारार्थक प्रत्यय प्रारम्भ होते हैं ।

४४२. तस्येति—षष्ठ्यन्त समर्थ पद से विकार अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।

टिलोपो वक्तव्यः ॥ अश्मनो विकारः आश्मः । आश्मन । मार्तिकः ।

४४३ । अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ४।३।१३५। चाद्विकारे । मयूरस्यावयवो विकारो वा मायूरः । मौर्वं काण्डं भस्म वा । पैप्पलम् ।

टिप्पणी—विकार का अर्थ है– प्रकृति (कारण) का दूसरी अवस्था को प्राप्त हो जाना; जैसे मिट्टी घट के रूप में परिणत होती है तो घट मिट्टी का विकार है।

अश्मन इति (वा)—विकारार्थक प्रत्यय परे होने पर अश्मन् शब्द की 'टि' का लोप होता है यह कहना चाहिये ।

आश्मः—अश्मनो विकारः (पाषाण का विकार या पत्थर का बना हुआ)-इस विग्रह में अश्मन् शब्द से विकारार्थ में अण् प्रत्यय होता है। अश्मन् + अण्→आदिवृद्धि अ को आ तथा ऊपर के वार्तिक से अन् (टि) का लोप होकर आश्म् + अ→आश्मः ।

आश्मनः—अश्मनो विकारः (राख का विकार)—अश्मन् + अण् यहाँ 'नस्तद्धिते' से टि लोप प्राप्त होता है किन्तु 'अन्' से प्रकृतिभाव हो जाता है। आदिवृद्धि अ को आ होकर—आश्मनः ।

मार्तिक.—मृत्तिकायाः विकारः (मिट्टी का विकार, मिट्टी का बना हुआ'–मृत्तिका + अण्→आदिवृद्धि ऋ को आर् तथा अन्त्य आ का लोप मार्तिकः (घटः) ।

४४३. अवयवे चेति—प्राणी, ओषधि तथा वृक्षवाचक शब्दों से अवयव अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं।

चादिति—चकार कहने से विकार अर्थ में भी।

मायूरः—मयूरस्य अवयवो विकारो वा (मोर का अङ्ग या विकार)—मोर शब्द प्राणिवाचक है। इससे अण् प्रत्यय होकर मयूर + अण्→आदिवृद्धि, अन्त्य अ का लोप–मायूर् + अ→मायूरः।

मौर्वम्—मूर्वायाः अवयवः (काण्डम्) विकारो (भस्म) वा (मूर्वा नाम की ओषधि का तना या भस्म)—मूर्वा + अण्→आदिवृद्धि ऊ को औ तथा अन्त्य आ का लोप–मौर्व् + अ→मौर्वम् ।

४४४ । मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ४।३।१४[3]

प्रकृतिमात्रान्मयड् वा स्यात् विकारावयवयोः । अश्ममयम् । आश्मनम् । अभक्ष्येत्यादि किम् ? मौद्गः सूपः कार्पासमाच्छादनम् ।

पैप्पलम्—पिप्पलस्य अवयवः विकारो वा (पीपल का अङ्ग या विकार)—पिप्पल + अण् → आदिवृद्धि, अन्त्य अकार का लोप पैप्पलम् ।

४४४. मयडिति—प्रकृति मात्र से विकार और अवयव अर्थ में विकल्प से मयट् प्रत्यय होता है, भाषा में, यदि वह अवयव या विकार भक्ष्य (खाद्य) अथवा आच्छादन (वस्त्र) न हो ।

टिप्पणी—प्रकृति उसे कहते हैं जिसका अवयव या विकार होता है । सूत्र में 'भाषायाम्' (भाषा में) कहने से वेद में मयट् नहीं होता । यहाँ संस्कृत को भाषा कहा गया है, इससे विदित होता है कि पाणिनि के काल में संस्कृत बोलचाल की भाषा या लोक भाषा थी ।

अश्ममयम्, आश्मनम्—अश्मनः अवयवो विकारो वा, इस अर्थ में अश्मन् शब्द से मयट् प्रत्यय होकर अश्मन् + मय → न् लोप[1] अश्ममयम् । पक्ष में अश्मन् + अण् → आदिवृद्धि आश्मनम् ।

टिप्पणी—काशिकाकार के मतानुसार अश्मन् का विकार अर्थ में टि लोप विकल्प से होता है (टिलोपः पाक्षिकः, काशिका ४।४।१३४)—अतः अण् प्रत्यय होने पर विकार में आश्मम्, आश्मनम्, अवयव अर्थ में आश्मनम् रूप होगा ।

अभक्ष्येति—भक्ष्य और आच्छादन से भिन्न होना चाहिये । यह क्यों कहा गया ? इसलिये कि 'मौद्गः सूपः' कार्पासमाच्छादनम्' में मयट् प्रत्यय नहीं होता ।

मौद्गः सूपः—मुद्गानां विकारः सूपः (मूंग की दाल)—यहाँ सूप (दाल) भक्ष्य है । अतः मयट् प्रत्यय नहीं होता है अपितु मुद्ग शब्द से अण्[2] प्रत्यय होता है । मुद्ग + अण् → मौद्ग + क → मौद्गः ।

---

१. न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७ २. बिल्वादिभ्योऽण् ४।३।१३६

४४५। नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ४।३।१४४। आम्रमयम्। शरमयम्।

४४६। गोश्च पुरीषे ४।३।१४५। गोः पुरीषं गोमयम्।

४४७। गोपयसोर्यत् ४।३।१६०। गव्यम्। पयस्यम्।

इति विकारार्थाः ॥६॥ (प्राग्दीव्यतीयाः)।

कार्पासमाच्छादनम्—कर्पासस्य कार्पासस्य कर्पास्याः वा विकारः (कपास का विकार या कपास का बना हुआ वस्त्र)—यहाँ मयट् प्रत्यय नहीं होता अपितु अण्[1] प्रत्यय होकर कार्पास+अण्→कार्पासम् रूप बनता है।

४४५. नित्यमिति—वृद्धसंज्ञक तथा शर आदि शब्दों से विकार तथा अवयव अर्थ में नित्य ही मयट् प्रत्यय होता है।

आम्रमयम्—आम्रस्य विकारः अवयवो वा (आम का विकार या अङ्ग)—यहाँ आम्र शब्द वृद्धसंज्ञक है अतः आम्र→मयट्→आम्रमयम्।

शरमयम्—शरस्य विकारः अवयवो वा (सरकंडों का विकार या अवयव)—शर शब्द से उपर्युक्त सूत्रानुसार मयट् प्रत्यय होता है। शर+मयट्→शरमयम्।

४४६. गोश्चेति—गो शब्द से पुरीष (गोबर) अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है।

गोमयम्—गोः पुरीषम् (गाय का गोबर)—गो+मयट् गोमयम्।

४४७. गोपयसोः इति—गो और पयस् शब्द से विकार और अवयव अर्थ में यत् प्रत्यय होता है।

गव्यम्—गोः विकारः अवयवो वा (गाय का विकार या अवयव)—इस अर्थ में गो शब्द से उपर्युक्त सूत्रानुसार यत् प्रत्यय होता है। गो+यत्→गो+य इस दशा में 'वान्तो यि प्रत्यये' ६।१।७९॥ से ओ को अव् हो जाता है—गव्+य→गव्यम्।

---

१. कर्पासी शब्द से बिल्वादिभ्योऽण् तथा कर्पास से सामान्य अण् होता है।

अथ ठगधिकारः ॥७॥

४४८ । प्राग्वहतेष्ठक् ४।४।१। तद्वहतीत्यतः प्राक् ठगधिक्रियते ।

४४९ । तेन दीव्यति खनतिजयति जितम् ४।४।२। अक्षैर्दीव्यति खनति जयति जितं वा आक्षिकः ।

४५० । संस्कृतम् ४।४।३। दध्ना संस्कृतं दाधिकम् । मारीचिकम् ।

पयस्यम्—पयसो विकारः (दूध की बनी वस्तु)—इस अर्थ में पयस् शब्द से यत् प्रत्यय होकर पयस+यत्→पयस्यम् ।

टिप्पणी—पयस् शब्द से विकार अर्थ में ही 'यत्' होता है ।

इतिविकारार्थकाः ॥६॥ (प्राग्दीव्यतीय समाप्त) ।

अथ ठगधिकारः—यहाँ से ठक् प्रत्यय आरम्भ होता है ।

४४८. प्राग्वहतेरिति—"तद्वहति० ४।४।७६। इससे पहले ठक् प्रत्यय का अधिकार है ।

४४९. तेनेति—तृतीयान्त से दीव्यति (खेलता है), खनति (खोदता है), जयति (जीतता है) और जितम् (जीत लिया) अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है ।

आक्षिकः—अक्षैः दीव्यति खनति, जयति, जितो वा (पासों से खेलता है, खोदता है जीतता है या जीत लिया गया)—इस अर्थ में अक्ष शब्द से ठक् प्रत्यय होता है । अक्ष+ठक् ठकार को इक् अक्ष+इक→आक्षि वृद्धि व को का तथा अन्त्य अकार का लोप—आक्षिक→आक्षिकः ।

टिप्पणी—काशिका तथा सि० कौ० आदि में 'अभ्रया (कुदाल से) खनति आभ्रिकः' यह उदाहरण दिया गया है । लघुकौमुदीकार ने सभी अर्थों में एक उदाहरण दे दिया है ।

४५०. संस्कृतम् इति—तृतीयान्त से संस्कृतम् (संस्कृत किया हुआ) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

दाधिकम्—दध्ना संस्कृतम् (दही से संस्कृत किया हुआ)—इस

४५१। तरति ४।४।५। तेनेत्येव। उडुपेन तरति औडुपिकः।

४५२। चरति ४।४।८। तृतीयान्ताद् गच्छति भक्षयतीत्यर्थयोष्ठक् स्यात्। हस्तिना चरति हास्तिकः। दध्ना चरति दाधिकः।

४५३। संसृष्टे ४।४।२२। दध्ना संसृष्टं दाधिकम्।

अर्थ में दधि शब्द से ठक् प्रत्यय होकर दधि+ठक्→दधि+इक→आदिवृद्धि तथा अन्त्य इकार का लोप दाध्+इक→दाधिकम्। इसी प्रकार मरीचिकाभिः संस्कृतम् (मिरचों से बघारा गया) मरीचिका+अण्+मारीचिकम्।

४५१. तरति इति—तृतीयान्त शब्द से 'तैरता है' (तरति) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

औडुपिकः—उडुपेन तरति (डोंगी) से पार होने वाला)—इस अर्थ में उडुप शब्द से ठक् प्रत्यय होता है। उडुप+ठक→उडुप+इक→आदिवृद्धि उ को औ तथा अन्त्य अकार का लोप—औडुप्+इक→औडुपिकः।

४५२. चरति इति—तृतीयान्त शब्द से 'जाता है' खाता है' (चरति, चर गतिभक्षणयोः) इन अर्थों मे ठक् प्रत्यय होता है।

हास्तिकः—हस्तिना चरति (हाथी से जाने वाला)—इस अर्थ से हस्तिन् शब्द से ठक् प्रत्यय होकर हस्तिन्+ठक्→हस्तिन्+इक→इन् (टि) का लोप[1] तथा आदिवृद्धि हास्त्+इक→हास्तिकः।

दाधिकः—दध्ना चरति (दही से खाने वाला)—दधि+ठक्। रूप सिद्धि ऊपर आ चुकी है।

४५३. संसृष्टे इति—तृतीयान्त से संसृष्ट (मिला हुआ) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

दाधिकम्—दध्ना संसृष्टम् (दही से मिला हुआ) दधि+ठक्।

---

१. नस्तद्धिते ६।४।१४४।

४५४ । उञ्छति ४।४।३२। बदराण्युञ्छति बादरिकः ।

४५५ । रक्षति ४।४।३३। समाजं रक्षति सामाजिकः ।

४५६ । शब्ददर्दुरं करोति ४।४।३४। शब्दं करोति शाब्दिकः। दर्दुरं करोति दार्दुरिकः ।

---

४५४. उञ्छति—द्वितीयान्त पद से 'चुनता है' (उञ्छति) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—भूमि पर पड़े हुए अनाज आदि के एक एक दाने का चुनना उञ्छ कहलाता है ।

बादरिकः—बदराणि उञ्छति (बेरों को चुनने वाला) इस अर्थ में बदर शब्द से ठक् प्रत्यय होकर बदर+ठक्→बदर+इक→आदिवृद्धि, अन्त्य अ का लोप—बादरिकः ।

४५५. रक्षति इति—द्वितीयान्त से रक्षति (रक्षा करता है)—इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

सामाजिकः—समाज रक्षति (समाज की रक्षा करता है, रक्षा करने वाला)—समाज+ठक्→ठ को इक, आदिवृद्धि तथा अन्त्य 'अ' का लोप होकर समाज+इक→सामाजिकः ।

४५६ शब्ददर्दुरमिति—द्वितीयान्त 'शब्द' तथा दर्दुर' शब्द से करोति (करता है) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

शाब्दिक—शब्द करोति, प्रकृतिप्रत्ययविभागेन व्युत्पादयति (शब्द को करता है अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय के विभाग से शब्दव्युत्पत्ति करता है, वैयाकरण) इस विग्रह में शब्द+ठक्→शब्द+इक→आदिवृद्धि, अन्त्य अकार का लोप—शाब्द+इक→शाब्दिक. ।

दार्दुरिक—दर्दुर करोति (दर्दुर नामक भाण्ड को बनाता है)—इस विग्रह में दर्दुर+ठक्→दार्दुरिकः[1] ।

---

१. यहाँ दर्दुर शब्द का अर्थ है, वाद्य-विशेष या भाण्ड-विशेष । उसे बनाने वाला 'दार्दुरिक' कहलाता है, कुम्भकार आदि ।

४५७। धर्मं चरति ४।४।४१ धार्मिकः। (वा) अधर्माच्चेति-वक्तव्यम्॥ आधर्मिकः।

४५८। शिल्पम् ४।४।५५ मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः।

४५९। प्रहरणम् ४।४।५७ तदस्येत्येव। असिः प्रहरणमस्य आसिकः। धानुष्कः।

---

४५७ धर्ममिति—द्वितीयान्त धर्म शब्द से चरति (आचरण करता है) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

धार्मिक—धर्मं चरति (धर्म का सदा आचरण करने वाला)—धर्म +ठक्→धर्म+इक→धार्मिकः।

अधर्मादिति (वा)—द्वितीयान्त अधर्म शब्द से भी 'चरति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है, यह कहना चाहिये।

आधर्मिकः—अधर्मं चरति (अधर्म का आचरण करने वाला)—अधर्म +ठक्→अधर्म+इक→आदि वृद्धि आधर्मिकः।

टिप्पणी—(१) 'चरति' शब्द यहाँ 'तत्पर होना' या 'सदा आचरण करना' अर्थ में है इसलिये यदि कोई दुर्वृत्त व्यक्ति कहीं धर्म में प्रवृत्त हो जाये तो वह धार्मिक नहीं कहा जायेगा। (तत्त्वबोधिनी)

(२) अधार्मिकः शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है, वहाँ धार्मिक के साथ नञ् समास है। न धार्मिकः, अधार्मिकः।

४५८. शिल्पमिति—प्रथमान्त शब्द से "इसका यह शिल्प (कौशल, व्यवसाय) है" इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

मार्दङ्गिकः—मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य (मृदङ्ग बजाना है कौशल इसका, वह)—इस विग्रह में मृदङ्ग शब्द से ठक् प्रत्यय होता है। मृदङ्ग+ठक्→ मृदङ्ग+इक, आदिवृद्धि ऋ को आर् तथा अन्त्य अकार का लोप मार्दङ्ग +इक→मार्दङ्गिकः।

४५९. प्रहरणमिति—प्रथमान्त शब्द से 'इसका यह शस्त्र है' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

न स्यात् ।धुर्यः, धौरेयः।

४६६ । नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्यानाम्यसमसमितसम्मितेषु ४।४।९१। नावा तार्यं नाव्य जलम् । वयसा तुल्यो वयस्यः। धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम्। विषेण वध्यो

धुर्यः—धुरं वहति (धुरा को धारण करता है)—धुर्+यत्→इस दशा में 'उ' को दीर्घ प्राप्त होता है तथा प्रस्तुत सूत्र से निषेध हो जाता है, धुर्+य=धुर्यः।

धौरेयः—धुरं वहति इति (धुरा को वहन करने वाला)—धुर्+ढक् ढक्→धुर्+एय→आदिवृद्धि[1] उ को औ-धौर्+एय→धौरेयः।

टिप्पणी—रथ आदि के अग्रभाग को धुर् कहा जाता है[2] धुर् को वहन करने वाला घोड़ा आदि 'धौरेयः' कहलाता है। इसी आधार पर कोई अग्रगामी या उत्तरदायित्व को संभालने वाला व्यक्ति भी धौरेयः आदि कहा जाता है।

६६६. नौवय इति—नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल सीता और तुला—इन (आठ) तृतीयान्त शब्दों से क्रमशः तार्य, (तरने योग्य) तुल्य (समान) प्राप्य (प्राप्त करने योग्य) वध्य (मारने योग्य), आनाम्य (लाभ नामक अंश), सम, समित (समीकृत इकसार किया हुआ) संमित (समान, मापा हुआ)—इन आठ अर्थों में यत् प्रत्यय होता है।

नाव्यम् जलम्—नावा तार्यम् (नाव से तरने योग्य)—इस विग्रह में 'नौ' शब्द से यत् प्रत्यय होता है । नौ+यत्→यकारादि प्रत्यय परे होने से औ को आव्[3] होकर नाव्+य→नाव्यम्

वयस्यः—वयसा तुल्यः (आयु में समान, मित्र)—वयस्+यत्।

धर्म्यम्—धर्मेण प्राप्यम् (धर्म से प्राप्त होने वाला)—धर्म+यत्→

१. किति च ७।२।११८। २. 'धूः स्त्री क्लीबे यानमुखम्' (अमरकोष)। ३. वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७९।

विष्यः। मूलेन आनाम्यं मूल्यम्। मूलेन समो मूल्यः। सीतया समितं सीत्यं क्षेत्रम्। तुलया समितं तुल्यम्।

४६७। तत्र साधुः ४।४।९८। अग्रे साधुः अग्र्यः। सामसु साधुः सामन्यः। ये चाभावकर्मणोरिति प्रकृतिभावः। कर्मण्यः। शरण्यः।

अन्त्य अकार का लोप–अग्र्यम्।

विष्यः—विषेण वध्यः (विष से मारा जाने योग्य)—विष + यत् → विष् + य → विष्यः।

मूल्यम्—मूलेन आनाम्यम् (मूल, 'लागत' के द्वारा बचने वाला धन)—मूल + यत् → मूल् + य → मूल्यम्।

टिप्पणी—मूल शब्द का अर्थ है–मूलधन (लागत) और मूल्य' का अर्थ है—उसे प्राप्त किया जाने वाला धन अर्थात् लाभ', किन्तु जितने धन में वस्तु मिलती है। उसके लिये 'मूल्य' शब्द रूढ हो गया है।

मूल्य —मूलेन समः (मूल के बराबर)—मूल + यत् → मूल्यः।

टिप्पणी—वस्त्र आदि के उत्पत्ति के कारण (सूत आदि को भी मूल कहते हैं। मूल (सूत) के बराबर जो पट होगा वह 'मूल्यः पटः' कहलायेगा। उपादानेन समानफलः इत्यर्थः (उपादान के समान—यह भाव है)—काशिका।

सीत्यम्—सीतया समितम् [सीता का अर्थ है–हल द्वारा खोदी हुई रेखा (कूड) उससे समीकृत अथवा कृष्ट]—सीता + यत् → सीत् + य → सीत्यम्।

तुल्यम—तुलया सम्मितम् (तराजू से तोला गया)—तुला + यत = तुल्यम्। तुल्य शब्द सदृश का पर्याय है।

४६७, तत्रेति—सप्तम्यन्त से "उसमें प्रवीण या योग्य है" (साधु) इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है।

अग्र्यः—अग्रे साधुः (आगे रहने में योग्य)—अग्र + यत् = अन्त्य अकार का लोप–अग्र्यः।

सामन्यः—सामसु साधुः (साम-गान में प्रवीण)—सामन् + यत् इस दशा में 'नस्तद्धिते' ६।४।१४४। से 'अन्' का लोप प्राप्त होता है किन्तु "ये चाऽभा-

४६८ । सभाया यः ४।४।१०५। सभ्यः ।

इति यतोऽविधिः । (प्राग्हितीयाः) ॥८॥

अथ छयतोरधिकारः ॥९॥

४६९ । प्राक् क्रीताच्छः ५।१।१। तेन क्रीतमित्यतः प्रा
छोऽधिक्रियते ।

४७० । उगवादिभ्यो यत् ५।१।२। प्राक् क्रीतादित्येव । उवर्णा
न्ताद् गवादिभ्यश्च यत स्यात् । छस्यापवादः । शङ्कवे हित शङ्
दारु ।

यकर्मणोः ६।४।१६८" से प्रकृतिभाव होकर सामन्+य→सामान्यः इसी प्रक
"कर्मणि साधुः" कर्मण्य, कर्मन्+यत् ।

शरण्यः—शरणे साधुः (शरण देने में प्रवीण)—शरण+यत्→अन
अकार लोप शरण्+य=शरण्यः ।

४६८. सभाया इति—सप्तम्यन्त सभा शब्द से 'तत्र साधुः' अर्थ में य प्रत्य
होता है । (य और यत् के स्वर में भेद है) ।

सभ्यः—सभाया साधुः (सभा में प्रवीण या योग्य)—सभा+य→अन्त्य
आकार का लोप सभ्+य→सभ्यः । इति यत् प्रत्यय ॥८॥

अथ छयतोरधिकारः—यहाँ से छ और यत् प्रत्यय का अधिकार है ।

४६९. प्राक् क्रीतादिति—तेन क्रीतम् ५।१।३७। से पहले तक 'छ' का
अधिकार है ।

४७०. उगवादिभ्य इति—जिनके अन्त मे उकार है, उनसे तथा गो आदि
शब्दों से यत् प्रत्यय होता है 'तेन क्रीतम्' से पहले आने वाले अर्थों मे यह
'यत्' प्रत्यय 'छ' का अपवाद है ।

शङ्कव्यम्—शङ्कवे हितम् (शङ्कु के लिये उपयोगी, काष्ठ)—इस विग्रह
में शङ्कु+यत्→उ को गुण[1] ओ तथा ओ को अव्[2] होकर शङ्क्+अव्+य

---

1. ओर्गुणः ६।४।१४६। 2. वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७९।

गव्यम् । ✱ (ग० सू०) नाभि नभं च ॥ नभ्योऽक्षः । नभ्यमञ्जनम् ।

४७१ । तस्मै हितम् ५।१।५। वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोधुक् ।

→शङ्कव्य→शङ्कव्यम् दारु ।

टिप्पणी—शङ्कु का अर्थ बाण का अग्रभाग या कीलक (खूँटा) होता है ।

गव्यम्—गोभ्यो हितम् (गायों के लिये हितकारी)—गो+यत्→गो को अव्→गव्यं घास आदि ।

नाभीति—(ग० सू०)—नाभि शब्द से हित अर्थ में यत् प्रत्यय होता है और इसे 'नभ' आदेश हो जाता है ।

नभ्योऽक्षः—नाभये हितः (नाभि के लिये हितकारी)—नाभि+यत्→नाभि को नभ होकर नभ+य→अन्त्य अकार का लोप नभ्+य→नभ्य→नभ्योऽक्षः ।

रथ के पहिये के मध्य भाग को नाभि कहते हैं उसके लिए हितकर अक्ष नामक काष्ठ विशेष यह अर्थ है ।

इसी प्रकार 'नभ्यम् अञ्जनम्' (रथ नाभि के लिए हितकर तैलाभ्यङ्ग अर्थात् तेल डालना) ।

विशेष—यहाँ रथ चक्र की 'नाभि' का ही ग्रहण है मनुष्य की नाभि का नहीं । उससे तो 'नाभ्यं' नाम्य तैलम्-'शरीरावयवाद्यत्' होता है । उस यत् के परे रहते नाभि को 'नभ' आदेश नहीं होता ।

४७१. तस्मै हितम्—चतुर्थ्यन्त शब्द से 'उसके लिए हितकर' (हितम्) इस अर्थ में छ प्रत्यय होता है ।

वत्सीयो गोधुक्—वत्सेभ्यो हितः (बछड़ों के लिए हितकारी, गाय दोहने वाला)—वत्स+छ→छ को ईय वत्स+ईय→अन्त्य अकार का लोप-वत्सीय→वत्सीयो गोधुक् ।

४७२ । शरीरावयवाद्यत् ५।१।६।

दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । नस्यम् ।

• ४७३ । आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः ५।१।६।

४७४ । आत्माध्वानौ खे ६।४।१६६। एतौ खे प्रकृत्या स्त
आत्मने हितम् । आत्मनीनम् । विश्वजनीनम् । मातृभोगीणः ।
इति छयतोः पूर्णोऽवधिः (प्राक्क्रीतीयाः) ॥६॥

---

४७२. शरीरेति—शरीर के अवयववाची चतुर्थ्यन्त शब्द से 'हित' अर्थ यत् प्रत्यय होता है ।

दन्त्यम्—दन्तेभ्यो हितम् (दाँतों के लिये हितकारी)—दन्त+यत्→दन्त्यम् इसी प्रकार 'कण्ठाय हितम्' कण्ठ्यम् ।

नस्यम्—नासिकायै हितम् (नासिका के लिए हितकारी)—नासिका+यत् →नासिका को नस् आदेश[1] होकर नस्+य→नस्यम् ।

४७३. आत्मन् इति – चतुर्थ्यन्त आत्मन्, विश्वजन और ऐसे शब्दों से जिनमें 'भोग' उत्तरपद हो ख प्रत्यय होता है 'हित' अर्थ में ।

४७४. आत्मेति—आत्मन् और अध्वन् शब्द को 'ख' प्रत्यय परे होने पर प्रकृति भाव होता है । प्रकृत्यैकाच् ६।४।१६३। से 'प्रकृत्या' शब्द की अनुवृत्ति होती है ।

आत्मनीनम्—आत्मने हितम् (अपने लिये हितकारी)—आत्मन्+ख→ख को ईन आदेश होकर आत्मन्+ईन (यहाँ नस्तद्धिते ६।४।१४४ से (टि) ,अन्' का लोप प्राप्त था उसका ऊपर के सूत्र से बाध हो जाता है) आत्मनीनम् ।

विश्वजनीनम्—विश्वजनाय हितम् (सब जनों के लिये हितकर)–विश्वजन +ख→विश्वजन+ईन→अन्त्य अकार का लोप विश्वजन्+ईन्→विश्वजनीनम् ।

मातृभोगीणः—मातृभोगाय हितः (माता के शरीर के लिए हितकर)—मातृभोग+ख→मातृभोग+ईन→मातृभोग+ईन→नकार को णकार[2] मातृभोगीणः । इति छयतोरवधिः ॥६॥

---

१. पद्दन्नोमास्० ६।१।६३।   २. कुमति च ८।४।१३।

सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः । पार्थिवः ।

४७९। पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्त
शीतिनवतिशतम् ५।१। ५९।

---

४७८. अनुशतिकादीनामिति—णित, ञित् और कित् प्रत्यय परे होने अनुशतिक आदि (गणपठित) शब्दों के उभयपद को आदि वृद्धि होती (द्र० ऊपर सू० ४२७)

सार्वभौमः—सर्वभूमेः ईश्वरः (समस्त भूमि का स्वामी)—सर्वभूमि+ +उभयपद को आदिवृद्धि, अन्त्य इ का लोप होकर सार्व भौम्+अण्→ भौमः ।

पार्थिवः—पृथिव्याः ईश्वरः (पृथिवी का स्वामी)—पृथिवी+अञ् आ वृद्धि[1] ऋ को आर् तथा अन्त्य ई का लोप, पार्थिवः ।

४७९. पङ्क्तित इति—पङ्क्ति, विंशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाश षष्टि, सप्तति, अशीति, नवति तथा शतम्—इन रूढि शब्दों का निपातन कि गया है ।

टिप्पणी—ये सब रूढि शब्द हैं । सर्वत्र ही इनके अवयवार्थ की संग नहीं बैठती । किसी प्रकार प्रकृति प्रत्यय तथा अन्य कार्यों का सूत्र में निपात किया गया है । काशिका वृत्ति के अनुसार सिद्धि निम्न प्रकार से होती है—

पङ्क्तिः—पञ्च परिमाणमस्य (पाँच पद हैं परिमाण इसके)—पञ्चन्+ ति+अन् (टि) लोप—पञ्च्+ति→च् को क् तथा अकार को अनुस्वा परसवर्ण ङ् होकर पङ्क्तिः छन्द. (पङ्क्ति नाम का छन्द) । पङ्क्ति शब्द 'आव आदि अर्थों में रूढ है ।

O विंशतिः—द्वौ दशतौ परिमाणम् अस्य संघस्य (दो दशक हैं परिमाण इस संघ का अर्थात् बीस)—द्विदशन् + शतिच्→द्विदशन् को विन् आदेश विन्+ शति→न को अनुस्वार विंशतिः ।

---

१. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।

एते रूढिशब्दा निपात्यन्ते ।

४८० । तदर्हति ५।१।६३। लब्धुं योग्यो भवतीत्यर्थे द्वितीया-

टिप्पणी—'दशत्' शब्द का अर्थ है दस का समूह (वर्ग) 'पञ्चद् दशतौ वर्गे वा ५।१।६०।'

त्रिंशत्—त्रयो दशतः परिमाणम् अस्य (तीन दशक हैं परिमाण इसका तीस—त्रिदशत+शत्→त्रिदशत् को त्रिन् आदेश होकर त्रिंशत् ।

चत्वारिंशत्—चत्वारो दशतः परिमाणम् अस्य (चार दशक हैं परिमाण इसका)—चतुर्दशत्+शत्→प्रकृति को चत्वारिन् आदेश होकर चत्वारिंशत् ।

पञ्चाशत्—पञ्च दशतः परिमाणम् अस्य (पचास)—पञ्चदशत्+शत्→प्रकृति को पञ्चा आदेश होकर पञ्चाशत् ।

षष्टिः—षड् दशतः परिमाणमस्य (साठ)—षड्दशत्+ति→प्रकृति को षष् आदेश षष्+ति→षष्टिः ।

सप्ततिः—सप्त दशतः परिमाणम् अस्य (सत्तर)—सप्तदशत्+ति प्रकृति को सप्त आदेश होकर सप्त+ति→सप्ततिः ।

अशीतिः—अष्टौ दशतः परिमाणम् अस्य (अस्सी)—अष्टदशत्+ति→प्रकृति को अशी आदेश-अशी+ति→अशीतिः ।

नवतिः—नवदशतः परिमाणम् अस्य (नब्बे)—नवदशत्+ति→प्रकृति को नव आदेश-नव+ति→नवतिः ।

शतम्—दश दशतः परिमाणम् अस्य (सौ)—दशदशत्+त→प्रकृति को 'श' आदेश होकर श+त→शतम् ।

विशेष—विंशति से लेकर नवति तक के शब्द नित्य एकवचन और स्त्रीलिंग में होते हैं। शत' शब्द नपुंसक लिङ्ग में होता है। ये संख्या और संख्येय दोनों के लिये आते है तथा इस प्रकार प्रयोग होता है—"मनुष्याणां विंशतिः" (संख्या अर्थ में)—"विंशतिः मनुष्याः" (संख्येय अर्थ में)।

४८०. तदर्हतीति—'उसको प्राप्त करने योग्य' इस अर्थ में द्वितीयान्त

न्ताद्वृत्तादयः स्युः श्वेतच्छत्रमर्हति श्वेतच्छत्रिकः ।

४८१ । दण्डादिभ्यो यत् ५।१।६६। एभ्यो यत् स्यात् । मर्हति दण्ड्यः । अर्घ्यः । वध्यः ।

४८२ । तेन निर्वृत्तम् ५।१।७६। अह्ना निर्वृत्तम् आह्निकम् इति ठञोऽवधिः । (आर्हीयाः) ॥१०॥

अथ त्वतलोरधिकारः ॥११॥

४८३ । तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ५।१।११५। ब्राह्मणेन

शब्द से ठञ् आदि प्रत्यय होते हैं।

श्वेतच्छत्रिकः—श्वेतच्छत्रम् अर्हति (श्वेतच्छत्र को प्राप्त करने है—श्वेतच्छत्रम्+ठक्→ठ को इक→आदिवृद्धि ए को ऐ अन्त्य अकार लोप—श्वैतच्छत्र्+इक→श्वैतच्छत्रिकः ।

दण्डादिभ्य इति—द्वितीयान्त दण्ड आदि शब्दों से 'अर्हति' अर्थ में प्रत्यय होता है ।

दण्ड्यः—दण्डम् अर्हति (दण्ड प्राप्त करने योग्य)—दण्ड+यत्→अ अ का लोप दण्ड्यः । इसी प्रकार अर्घमर्हति (मूल्य या पूजा विधि के यो अर्घ+यत् अर्घ्यः । वधमर्हति (वध के योग्य) वध+यत्→वध्यः ।

४८२ तेनेति—तृतीयान्त से 'सिद्ध हुआ' (निर्वृत्तम्=निष्पन्नम्) अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ।

आह्निकम्—अह्ना निर्वृत्तम् (एक दिन में सिद्ध होने वाला)—अ +ठञ्→अहन्+इक→अन् के अ का लोप (अल्लोपोऽनः) आदिवृद्धि आ +इक आह्निकम् । इति ठञोऽवधिः ॥१०॥

अथ त्वतलोरधिकारः—अब त्व और तल् का अधिकार है ।

४८३. तेन तुल्यमिति—तृतीयान्त से तुल्य अर्थ में वति प्रत्यय होता है जो तुल्य है यदि वह क्रिया हो ।

वति में इकार इत्संज्ञक है । 'वत्' शेष रहता है ।

ब्राह्मणवत् अधीते। क्रिया चेदिति किम्? गुणतुल्ये मा भूत्। पुत्रेण तुल्यः स्थूलः।

४८४। तत्र तस्येव ५।१।११६। मथुरायामिव मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः। चैत्रस्येव चैत्रवन्मैत्रस्य गावः।

४८५। तस्य भावस्त्वतलौ ५।१।११६। प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः। गोर्भावो गोत्वम्। गोता। त्वान्त क्लीवम्।

ब्राह्मणवद् अधीते— ब्राह्मणेन तुल्यम् (ब्राह्मण के तुल्य)—यहाँ अध्ययन क्रिया समान है अतः 'ब्राह्मण' शब्द से वति प्रत्यय होकर ब्राह्मण+वति → ब्राह्मण+वत् → ब्राह्मणवत्। वत् प्रत्ययान्त शब्द अव्यय होता है और इसका प्रयोग क्रिया विशेषण के रूप में होता है।

क्रिया चेदिति—ऐसा क्यों कहा कि 'यदि तुल्य क्रिया हो'? इसलिए कि गुण की समानता होने पर वति प्रत्यय नहीं होता, जैसे—"पुत्रेण तुल्यः स्थूलः" यहाँ स्थूलता रूप गुण की समानता है, अतएव वति प्रत्यय नहीं होता।

४८४. तत्रेति—सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्त से समानता अर्थ (इव अर्थ) में वति प्रत्यय होता है। यहाँ 'क्रिया चेत्' की अनुवृत्ति नहीं होती अतः द्रव्य आदि की समानता में यह 'वति' प्रत्यय होता है।

मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः—मथुरायाम् इव (मथुरा के समान)—मथुरा+वति→मथुरावत्। स्रुघ्न और मथुरा के 'प्राकार' समान हैं।

चैत्रवत् मैत्रस्य गावः—चैत्रस्य इव (चैत्र के समान)—चैत्र+वति→चैत्र+वत्। चैत्र तथा मैत्र की गायें समान हैं।

४८५. तस्य भाव इति—षष्ठ्यन्त से भाव अर्थ में त्व और तल् प्रत्यय होते हैं।

प्रकृति इति—प्रकृति द्वारा उत्पन्न होने वाले ज्ञान में जो विशेषण होता है वह भाव कहलाता है।

अभिप्राय यह है कि जिससे प्रत्यय का विधान किया जाता है वह प्रकृति कहलाती है, जैसे गो आदि शब्द। गो शब्द से गो व्यक्ति का बोध होना है जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं—"गोत्व-विशिष्ट गो व्यक्ति" यहाँ गो

तलन्तं स्त्रियाम् ।

४८६ । आ च त्वात् ५।१।१२० ब्रह्मणस्त्व इत्यतः त्वतलावधिक्रियेते । अपवादैः सह समावेशार्थमिदम् । चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः । स्त्रियाः भावः स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता । पौंस्नम्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता ।

४८७ । पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ५।१।१२२।

व्यक्ति विशेष्य है और 'गोत्व' धर्म विशेषण या प्रकार है। यही कहलाता है, जो प्रकृति से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में विशेषण है।

गोत्वम्, गोता—गोर्भावः (गो का भाव)—गो+त्व→नपुं० प्र० एकवचन में गोत्वम् । गो+तल्→गो+त→स्त्रीलिङ्ग होने से गोत+टाप्[1] गोत+आ→गोता ।

त्वान्तमिति—(लि०) त्व प्रत्ययान्त शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं ।

तलन्तमिति—(लि०) तलन्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं ।

४८६ आचेति—"ब्रह्मणस्त्व ५।१।१३६" से पहले तक त्व और तल् प्रत्यय का अधिकार है ।

अपवादैरिति—'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इत्यादि अपवादों के साथ त्व और तल् प्रत्यय का समावेश करने के लिये यह अधिकार किया गया है। इसका फल यह होता है कि 'इमनिच्' आदि प्रत्यय त्व और तल् के बाधक नहीं होते तथा 'पृथु' से पृथुता, पृथुत्व शब्द भी बन जाते हैं ।

चकार इति—'सूत्र में च' (और, भी) नञ् और स्नञ् (स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ४।१।८७) के साथ भी त्व और तल् का समावेश करने लिये है । इसलिये स्त्री शब्द से भाव में नञ् (स्त्रैणम्), त्व (स्त्रीत्वम्), और तल् (स्त्रीता) प्रत्यय होते हैं तथा पुंस् शब्द से स्नञ् (पौंस्नम्), त्व (पुंस्त्वम्) और तल् (पुंस्ता) ।

४८७. पृथ्वादिभ्य इति—षष्ठ्यन्त पृथु आदि शब्दों से भाव में

---

१. अजाद्यतष्टाप् ४।१।४।

वावचनमणादिसमावेशार्थम् ।

४८८ । र ऋतो हलादेर्लघोः ६।४।१६१। हलादेर्लघोर्ऋकारस्य रः स्यात् इष्ठेमेयस्सु परतः ।

४८९ टेः ६।४।१५५। भस्य टेर्लोपः स्यात् इष्ठेमेयस्सु । (वा) पृथुमृदुभृशकृशदृढपरिवृढानामेव रत्वम् । पृथोर्भावः प्रथिमा ।

४८८ । (क) इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ५।१।१३१। इगन्ताल्ल-

में विकल्प से 'इमनिच्' प्रत्यय होता है । इमनिच् में इमन शेष रहता है ।

वावचनमिति—अण् आदि प्रत्यय के समावेश के लिये 'वा' (विकल्प से) कहा गया है ।

४८८. र ऋत इति—जिसके आदि में हल् (व्यञ्जन) हो, ऐसे लघु ऋकार को र् आदेश होता है, इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर ।

४८९. टेरिति—भसंज्ञक की टि का लोप हो जाता है । इष्ठन्, इमनिच् ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर ।

पृथु इति (वा)—पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ और परिवृढ शब्दों के ऋ को ही यह र् होता है, (अन्य को नहीं); जैसे—

प्रथिमा—पृथोर्भावः (पृथु का भाव–विस्तीर्णता;—इस विग्रह में पृथु शब्द से इमनिच् प्रत्यय होकर पृथु + इमन् → ऋ को र् तथा टि (उ) का लोप प्रथ् + इमन् → प्रथिमन् → प्र० एक० में प्रथिमा ।

टिप्पणी – इमनिच् प्रत्ययान्त शब्द पुंल्लिङ्ग होते हैं ।

४८९. (क) इगन्ताच्चेति[1]—इगन्त (जिसके अन्त में इक् अर्थात् इ, उ, ऋ है) लघुपूर्वक (जिस इक् से पहले लघु स्वर है) प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय होता है ।

पार्थवम्—पृथोर्भावः—पृथु शब्द के अन्त में उ (इक्) है और उ से पहला

---

1. यह सूत्र चौखम्भा आदि संस्करणों में नहीं है । गीता प्रेस सं० में है ।

घुपूर्वात् प्रातिपदिकाद् भावेऽण् प्रत्ययः । पार्थवम् प्रथिमा । मार्द

४९० । वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च ५।१।१२३। चादिमनि

शौक्ल्यम्, शुक्लिमा । दार्ढ्यम्, द्रढिमा ।

४९१ । गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ५।१।१

चाद्भावे । जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम्

स्वर लघु है। इसलिए इमनिच् के विकल्प में पृथु शब्द से अण् प्रत्यय हुं है। पृथु+अण्→आदिवृद्धि[1] ऋ को आर् तथा उ को गुण[2] ओ होकर पा +अ→ओ को अव् पार्थव्+अ→पार्थवम् ।

इसी प्रकार मृदोर्भावः (मृदु का भाव, कोमलता) मृदु+इमनिच्→म्रदि मृदु+अण्→मार्दवम् ।

४९०. वर्ण इति—षष्ठ्यन्त वर्णविशेषवाची शब्द से तथा दृढ आदि शब्द से भाव अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय होता है।

चादिति—च कहने से इमनिच् भी।

शौक्ल्यम्, शुक्लिमा—शुक्लस्य भावः (शुक्ल का भाव, शुक्लता)—वर्ण विशेषवाची शुक्ल शब्द से ष्यञ् प्रत्यय होकर शुक्ल+ष्यञ्→शुक्ल+य→ आदिवृद्धि उ को औ तथा अन्त्य अकार का लोप, शौक्ल्+य→शौक्ल्यम् । पक्ष में शुक्ल+इमनिच्→शुक्ल्+इमन्→शुक्लिमा ।

दार्ढ्यम्, द्रढिमा—दृढस्य भावः (दृढ का भाव, दृढता)—दृढ+ष्यञ्→ आदिवृद्धि ऋ को आर् तथा अन्त्य अ का लोप दार्ढ्+य→दार्ढ्यम् । पक्ष में दृढ+इमनिच्—ऋ को र द्रढिमा ।

४९१. गुणवचनेति—षष्ठ्यन्त गुणवाची शब्द और ब्राह्मण आदि शब्दों से भाव तथा कर्म अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय होता है।

चादिति—च कहने से भाव में भी होता है।

जाड्यम्—जडस्य भावः कर्म वा (मूर्ख का भाव या कर्म, मूर्खता)—जड

---

१. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७। २. ओर्गुणः ६।४।१४६।

मूढस्य भावः कर्म वा मौढ्यम् । ब्राह्मण्यम् । आकृतिगणोऽ

४६२ । सख्युर्यः ५।१।१२६। सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् ।

४६३ । कपिज्ञात्योर्ढक् ५।१।१२७। कापेयम् । ज्ञातेयम् ।

४६४ । पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ५।१।१२८।

+ष्यञ्→आदिवृद्धि (अ को आ) तथा अन्त्य अकार का लोप होकर जाड्+य→जाड्यम् । इसी प्रकार—

मौढ्यम्—मूढस्य भावः कर्म वा (मूढ का भाव या कर्म)—मूढ+य→मौढ्यम् ।

ब्राह्मण्यम्—ब्राह्मणस्य भावः कर्म वा (ब्राह्मण का भाव या कर्म)—ब्राह्मण+ष्यञ्→ब्राह्मण्यम् ।

आकृतीति—यह ब्राह्मण आदि आकृति गण है ।

४६२. सख्युरिति—षष्ठ्यन्त सखि शब्द से भाव और कर्म, में य प्रत्यय होता है ।

सख्यम्—सख्युर्भावः कर्म वा (सखा का भाव या कर्म, मित्रता) सखि+य→अन्त्य इकार का लोप[1] सख्+य→सख्यम् ।

४६३. कपिज्ञात्योरिति—षष्ठ्यन्त कपि और ज्ञाति शब्द से भाव तथा कर्म में ढक् प्रत्यय होता है ।

कापेयम्—कपेर्भावः कर्म वा (कपि का भाव या कर्म)—कपि+ढक्→ढ को एय-कपि+एय=आदिवृद्धि तथा अन्त्य इ का लोप होकर काप्+एय→कापेयम् । इसी प्रकार ज्ञातेर्भावः कर्म वा (सम्बन्धी का भाव या कर्म) ज्ञाति+ढक्→ज्ञातेयम् ।

४६४ पत्यन्तेति—जिनके अन्त में पति शब्द है ऐसे शब्दों से तथा 'पुरोहित' आदि से भाव और कर्म में यक् प्रत्यय होता है ।

---

१. यस्येति च ६।४।१४८।

सैनापत्यम् । पौरोहितम् । इति त्वतलोरधिकारः ॥११॥

अथ भवनाद्यर्थकाः ॥१२॥

४९५ । धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ५।२।१। भवन्त्यस्मिन्निति भवनम् । मुद्गानां भवनं क्षेत्रं मौद्गीनम् ।

४९६ । व्रीहिशाल्योर्ढक् ५।२।२। ग्रैहेयम् । शालेयम् ।

सैनापत्यम् - सेनापतेः भावः कर्म वा (सेनापति का भाव या कर्म)- सेनापति+यक्→आदिवृद्धि[1] ए को ऐ तथा प्रत्यय इ का लोप सैनापत्+य- सैनापत्यम् ।

पौरोहितम् - पुरोहितस्य भावः कर्म वा (पुरोहित का भाव या कार्य)- पुरोहित+यक्→पौरोहितम् । इति त्वतलोरधिकारः ॥११॥

अथ भवनाद्यर्थकाः—अब भवन (होने का स्थान)—अर्थ वाले प्रत्य आरम्भ होते हैं ।

४९५. धान्यानामिति—षष्ठ्यन्त धान्यविशेषवाची शब्दों से 'भवनं क्षेत्रम् (होने का स्थान, खेत)—अर्थ में खञ् प्रत्यय होता है ।

भवतीति – जिसमें होता है उसे भवन कहते हैं (होने का स्थान) ।

मौद्गीनम्—मुद्गानां भवनं क्षेत्रम् (जिसमें मूंग होती है ऐसा खेत)— मुद्ग+खञ्→ख को ईन—मुद्ग+ईन→आदिवृद्धि[2] उ को औ तथा अन्त्य अ का लोप होकर मौद्ग्+ईन→मौद्गीनं क्षेत्रम ।

४९६. व्रीहीति—षष्ठ्यन्त व्रीहि और शालि शब्दों से 'भवनं क्षेत्रम्' अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है ।

ग्रैहेयम्– व्रीहीणां भवनं क्षेत्रम् (जिसमें व्रीहि होती हैं ऐसा खेत)—व्रीहि +ढक्→ढ को एय होकर व्रीहि+एय=आदिवृद्धि ई को ऐ तथा प्रत्यय इकार का लोप–ग्रैह्+एय→ग्रैहेयम् । इसी प्रकार 'शालीनां भवनं क्षेत्रम्' शाली+ ढक्→शालेयम् ।

१. किति च ७।२।११८। २. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।

४९७। हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् ५।२।२३। ह्योगोदोहशब्दस्य हियङ्गुरादेशः विकारार्थे खञ्च निपात्यते । दुह्यत इति दोहः क्षीरम् । ह्योगोदोहस्य विकारः हैयङ्गवीनं नवनीतम् ।

४९८। तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् ५।२।३६। तारकाः सञ्जाता अस्य तारकितं नभः । पण्डितः । आकृतिगणोऽयम् ।

---

४९७. हैयङ्गवीनम् इति—ह्यो गोदोहः (पहले दिन का दुहा हुआ दूध)—शब्द को 'हियङ्गु' आदेश और विकार अर्थ में खञ् प्रत्यय का निपातन किया गया है, संज्ञा में ।

दुह्यत इति जिसको दुहा जाता है (दुह्यते-कर्मवाच्य)—यह 'दोह' कहलाता है अर्थात् दूध ।

हैयङ्गवीनम्—ह्योगोदोहस्य विकारः (कल के दुहे दूध से बना हुआ या निकला हुआ, नवनी घृत)—ह्योगोदोह+खञ्→प्रकृति को हियङ्गु आदेश तथा ख को ईन होकर हियङ्गु+ईन→आदिवृद्धि इ को ऐ तथा अन्त्य उ को गुण (ओर्गुणः) हैयङ्गो+ईन→ओ को अव् होकर हैयङ्गवीन नवनीतम् ।

४९८. तदस्येति—प्रथमान्त तारका आदि शब्दों से "ये इसके हो गये" (अस्य सञातम्) इस अर्थ में इतच् प्रत्यय होता है ।

तारकितं नभः—तारकाः संजाता अस्य (इसके तारे हो गये या निकल [illegible]

४९९। प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ५।२।३७।
वर्तते। ऊरू प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम्। ऊरुदघ्नम्। ऊरुमात्र

५००। यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ५।२।३९। य
णमस्य यावान्। तावान्। एतावान्।

५०१। किमिदंभ्यां वो घः ५।२।४०। आभ्यां वतु
वकारस्य घश्च।

५०२। इदंकिमोरीश्की ६।३।९०। दृग्दृशवतुप्

---

४९९. प्रमाण इति—प्रमाण विशेष के अर्थ में विद्यमान प्रथमान्त
"यह इसका प्रमाण है" इस अर्थ में द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय
(तीनों प्रत्ययों में से च् का लोप हो जाता है।)

ऊरुद्वयसम्, ऊरुदघ्नम्, ऊरुमात्रम् उरु प्रमाणस्य (जङ्घा है
इसका अर्थात् जङ्घा तक जल आदि)—ऊरु + द्वयसच् → ऊरुद्वयसम्,
दघ्नच् → ऊरुदघ्नम् ऊरु + मात्रच → ऊरुमात्रम्।

५००. यत्तदिति—प्रथमान्त यत्, तत, एतत् शब्दों से 'यह इसका प
है" इस अर्थ में वतुप् प्रत्यय होता है। वतुप् में 'वत्' शेष रहता है।

यावान—यत्परिमाणम् अस्य (जो है परिमाण इसका, जितना,
यत् + वतुप → यत् + वत् → यत के त् को आ (आ सर्वनाम्नः ६।३।९
होकर या + वत् → यावत् → पुंल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन में यावान्।
प्रकार तत्परिमाणमस्य (वह है परिमाण इसका, उतना) तत् + वतुप्
तावत् + तावान्।

एतत् परिमाणमस्य—(यह है परिमाण इसका, इतना)—एतत् + वतुप्
एतावत् → एतावान्।

५०१. किमिदंभ्यामिति—प्रथमान्त 'किम्' और 'इदम्' शब्द से परिमाण
अर्थ में वतुप् प्रत्यय होता है तथा वतुप् के व् को घ् हो जाता है।

५०२. इदमिति—दृग्, दृश और वतुप् परे होने पर 'इदम्' को ईश्

५०५। उभादुदात्तो नित्यम् ५।२।४४ उभशब्दात् स्यात् स चाद्युदात्तः उभयम्।

५०६। तस्य पूरणे डट् ५।२।४८। एकादशानां पूरणः

५०७। नान्तादसङ्ख्यादेर्मट् ५।२।४९। डटो म पञ्चानां पूरणः पञ्चमः। नान्तात्किम् ?

---

५०५. उभादिति—उभ शब्द से परे तयप् को नित्य अयच् हो वह आद्युदात्त होता है।

उभयम्—उभौ अवयवौ अस्य (दो अवयव हैं इसके अवय समुदाय)—उभ+अयच्→अन्त्य अकार का लोप उभ्+अय→उभय

५०६. तस्येति—षष्ठयन्त संख्याविशेषवाची शब्द से पूरण प्रत्यय होता है। डट् में अ शेष रहता है।

टिप्पणी—पूरणार्थ प्रत्ययान्त शब्दों को संस्कृत में पूरण कहते हैं। हिन्दी में ये क्रमवाचक सख्यावाचक विशेषण ((कहलाते हैं।

एकादशः—एकादशानां पूरणः (ग्यारह संख्या को पूरा कर ग्यारहवां)—एकादशन्+डट्→एकादशन् अ→डट् प्रत्यय के डित् हो (टि) का लोप होकर एकादश्+अ→(रामवत्) एकादशः।

५०७. नान्तादिति—जिसके आदि में कोई संख्या न हो ऐसे संख्यावाचक शब्द से परे डट् का मट् का आगम हो जाता है। मट् मे रहता है। टित् होने से 'मट्' (आगम) डट् के आदि में आता है म +प्रत्यय=म्+अ (डट्)=म।

पञ्चमः—पञ्चानां पूरणः (पाँच संख्या को पूरा करने वाला, पञ्चन्+डट्→मट् का आगम होकर पञ्चन्+म्+अ→न् का लोप[1] पञ्च+म→पञ्चमः।

नान्तादिति—नकारान्त से परे डट को मट् का आगम हो

---

१. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७॥

५०८। ति विंशतेर्डिति ६।४।१४२। विंशतेर्भस्य तिशब्दस्य
पः स्यात् डिति परे। विंशः। असंख्यादेः किम्? एकादशः।

५०९। षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् ५।२।५१। एषां थुगागमः
डुटि। षण्णां पूरणः षष्ठः। कतिथः। कतिपयशब्दस्यासंख्यात्वे-

? इसलिये कि विंशति आदि (अनकारान्त) से परे मट् का आगम नहीं
ा। जैसे—

५०८. ति विंशतेरिति—भसंज्ञक विंशति के ति शब्द का लोप होता है,
् परे होने पर।

विंशः—विंशतेः पूरणः (बीस संख्या को पूरा करने वाला, बीसवाँ)—विंशति
डट्→ऊपर के सूत्र से ति लोप होकर विंश+अ इस दशा में श् से आगे
े अकार को पररूप (अतो गुणे) हो जाता है—विंश+अ+अ→विंश+
→विंशः।

असंख्यादेः किमिति—'जिसके आदि में संख्या न हो' ऐसा क्यों कहा?
लिए कि 'एकादशः' में मट् का आगम नहीं होता। यहाँ दशन् शब्द से पूर्व
क' संख्यावाची शब्द है।

५०९. षड् इति—षट् कति, कतिपय और चतुर् शब्दों को थुक् का आगम
ता है, डट् प्रत्यय परे होने पर।

थुक् में थ् शेष रहता है यह थ् कित्[1] होने से षट् आदि शब्दों के अन्त में
ता है।

षष्ठः—षण्णां पूरणः (छः संख्या को पूरा करने वाला, छटा)—षष्+
्→थुक् का आगम होकर षष्+थ्+अ→थ को ठ (ष्टुत्व) षष्+ठ→
ठः। इसी प्रकार 'कतीनां पूरणः' कति+थुक्+डट्→कतिथः (कितने
म्बर का)।

कतिपयेति—यद्यपि कतिपय शब्द संख्यावाचक नहीं (उससे डट् प्रत्यय

---

१. आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६।

ऽप्यतए बाज्ञापकाड्डट् । कतिपयथ: । चतुर्थः ।

५१० । द्वेस्तीय: ५।२।५४। डटोऽपवादः । द्वयोः पू
द्वितीय: ।

५११ । त्रेः सम्प्रसारणं च ५।२।५५। तृतीयः।

५१२ । श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते ५।२।८४। श्रोत्रियः ।

प्राप्त नहीं होता) तथापि डट् परे होने पर कतिपय को थुक् का आगम क
है, इस ज्ञापक से इससे डट् प्रत्यय होता है ।

कतिपयथः—कतिपयानां पूरणः (कितनों का पूरा करने वाला)—कति
+थुक्+डट्→कतिपयथः ।

चतुर्थः—चतुर्णां पूरणः (चार संख्या पूरा करने वाला, चौथा)—चतु
+थुक्→चतुर्थः ।

५१०. द्वेस्तीय इति—द्वि शब्द से पूरण अर्थ में तीय प्रत्यय होता है । यह
डट् प्रत्यय का बाधक है ।

द्वितीयः—द्वयोः पूरणः (दो संख्या को पूरा करने वाला, दूसरा)—द्वि+
तीय→द्वितीयः ।

५११. त्रेरिति—त्रि शब्द से पूर्ण अर्थ में तीय प्रत्यय होता है और त्रि को
सम्प्रसारण भी हो जाता है ।

तृतीयः—त्रयाणां पूरणः (तीन संख्या को पूरा करने वाला, तीसरा) त्रि
+तीय→र् को ऋ (संप्रसारण) होकर (त्+ऋ+इ)+तीय इस दशा में इ
को पूर्व रूप[1] (ऋ+इ=ऋ) होकर तृ+तीय→तृतीयः ।

५१२. श्रोत्रियन् इति—'वेद (छन्द) पढ़ता है' इस अर्थ में श्रोत्रिय शब्द
का निपातन किया गया है ।

श्रोत्रियः—छन्दोऽधीते (वेद पढ़ने वाला, वेदपाठी) इस विग्रह में छन्दस्
शब्द से निपातन द्वारा घन् प्रत्यय और छन्दस् को श्रोत्र आदेश होता है । श्रोत्र
+घन्→श्रोत्र+इय→अन्त्य अ का लोप श्रोत्रियः ।

---

१. सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८।

वेत्यनुवृत्तेश्छान्दसः ।

५१३ । पूर्वादिनिः ५।२।८६। पूर्वं कृतमनेन पूर्वी ।

५१४ । सपूर्वाच्च ५।२।८७। कृतपूर्वी ।

५१५ । इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८। इष्टमनेन इष्टी । अधीती ।

इति भवनाद्यर्थका ॥१२॥

वेति—तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा ५।२।७७ इस सूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति होती है इसलिये पक्ष में छन्दस् शब्द से अण् प्रत्यय होकर छन्दस्+अण → आदिवृद्धि छान्दसः ।

टिप्पणी—घन् प्रत्यय में (श्रोत्रियन्) नकार स्वर के लिये है । पक्ष में छन्दोऽधीते 'छान्दसः' यह रूप होता है । भाषा-विज्ञान की खोज के अनुसार तो श्रोत्रियः भिन्न शब्द है, इसकी छन्दस्' शब्द से व्युत्पत्ति नहीं होती, अर्थ की समानता अवश्य है ।

५१३. पूर्वाद् इति—द्वितीयान्त पूर्वं शब्द से 'अनेन कृतम्' (इसने किया) आदि अर्थ में इनि प्रत्यय होता है ।

पूर्वी—पूर्वं कृतम् अनेन (पहले किया है इसने)—इस विग्रह में पूर्व शब्द से इनि प्रत्यय होता है । पूर्व+इनि→पूर्व+इन→यस्येति च से अ का लोप पूर्विन्, प्रथमा एकवचन में पूर्वी ।

५१४. सपूर्वादिति—जिससे पहले दूसरा शब्द हो (सपूर्वं पूर्वं सहित) ऐसे पूर्व शब्द से भी 'अनेन कृतम्' इस अर्थ में इनि प्रत्यय होता है ।

कृतपूर्वी—कृत पूर्वम् अनेन किया है पहले इसने)—इस विग्रह में कृतपूर्व शब्द से इनि प्रत्यय होकर पूर्ववत् रूप बनता है ।

५१५. इष्टादिभ्य इति—इष्ट आदि शब्दों से 'अनेन इष्टम्' आदि अर्थ में इनि प्रत्यय होता है ।

इष्टी—इष्टम् अनेन (इसने यज्ञ किया है)—इस विग्रह में इष्ट+इनि → इष्टिन् (प्र० एक०) इष्टी ।

छैत्यनुवृत्तेश्छान्दसः ।

५१३। पूर्वादिनिः ५।२।८६। पूर्वं कृतमनेन पूर्वी ।

५१४। सपूर्वाच्च ५।२।८७। कृतपूर्वी ।

५१५। इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८। इष्टमनेन इष्टी । अधीती ।

इति भवनाद्यर्थकाः ॥१२॥

वेति—तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा ५।२।७७ इस सूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति होती है इसलिये पक्ष में छन्दस् शब्द से अण् प्रत्यय होकर छन्दस्+अण्→ आदिवृद्धि छान्दसः ।

टिप्पणी—घन् प्रत्यय में (श्रोत्रियन्) नकार स्वर के लिये है । पक्ष में छन्दो- अीते 'छान्दसः' यह रूप होता है । भाषा-विज्ञान की शोध के अनुसार तो श्रोत्रियः भिन्न शब्द है, इसकी छन्दस्' शब्द से व्युत्पत्ति नहीं होती, अर्थ की समानता अवश्य है ।

५१३- पूर्वाद् इति—द्वितीयान्त पूर्व शब्द से 'अनेन कृतम्' (इसने किया) आदि अर्थ में इनि प्रत्यय होता है ।

पूर्वी—पूर्वं कृतम् अनेन (पहले किया है इसने)—इस विग्रह मे पूर्व शब्द से इनि प्रत्यय होता है । पूर्व+इनि→पूर्व+इन्→अन्त्य अ का लोप 'पूर्विन्', प्रथमा एकवचन में पूर्वी ।

५१४. सपूर्वादिति—जिससे पहले दूसरा शब्द हो (सपूर्व पूर्व सहित) ऐसे पूर्व शब्द से भी 'अनेन कृतम्' इस अर्थ में इनि प्रत्यय होता है ।

कृतपूर्वी—कृत पूर्वम् अनेन किया है पहले इसने)—इस विग्रह में कृतपूर्व शब्द से इनि प्रत्यय होकर पूर्ववत् रूप बनता है ।

५१५. इष्टादिभ्य इति—इष्ट आदि शब्दों से 'अनेन इष्टम्' आदि अर्थ में इनि प्रत्यय होता है ।

इष्टी—इष्टम् अनेन (इसने यज्ञ किया है)—इस विग्रह में इष्ट+इनि→ इष्टिन् (प्र० एक०) इष्टी ।

५१७। तसौ मत्वर्थे ४।१९।१। तान्तसान्तौ भसञ्ज्ञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे। गरुत्मान्। वसोः सम्प्रसारणम् विदुष्मान। ॐ(वा) गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः ॥ शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पटः। कृष्णः।

५१८। प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ५।२।९६।

---

५१७. तसौ इति—तकारान्त और सकारान्त शब्द भसंज्ञक होते हैं मत्वर्थक प्रत्यय परे होने पर।

गरुत्मान्—गरुतः अस्य सन्ति (पंख जिसके हैं, पक्षी गरुत्+मतुप्→गरुत्+मत् (यहाँ गरुत् की भसंज्ञा हो जाने से पद संज्ञा का बाध हो जाता है तथा त् को 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' से अनुनासिक (न्) नहीं होता। गरुत्मत्—प्र० एक० में गरुत्मान्।

विदुष्मान्—विद्वांसः अस्य सन्ति (विद्वान् जिसके हैं)—विद्वस्+मतुप्→भसंज्ञा होने से सम्प्रसारण[1] अर्थात् व् को उ होकर विद्+उ+अ+स्+मत्→अ को पूर्व रूप[2] विद्+उ+स्+मत्→विदुष्मत् प्र० ए० विदुष्मान्।

गुणवचनेभ्य इति वा—गुणवाचक शब्दों से परे मतुप् का लोप होना अभीष्ट है।

टिप्पणी—जो शब्द गुण और गुणवान् दोनों के लिये आते हैं वे ही यहाँ गुणवचन कहे गये हैं, जैसे—शुक्लो वर्णः, शुक्लो वस्त्रः। इस लिये रूप' आदि शब्दों से परे मतुप् का लोप नहीं होता जैसे—रूपवान्।

शुक्लः पटः—शुक्लो गुणोऽस्यास्ति (श्वेत गुण वाला वस्त्र)—शुक्ल+मतुप्→मतुप् लोप होकर शुक्ल पटः। इसी प्रकार कृष्णो गुणोऽस्यास्तीति कृष्णः।

५१८. प्राणिस्थाद् इति—प्राणी में स्थित अङ्गवाचक आकारान्त शब्द से मत्वर्थ मे विकल्प से लच् प्रत्यय होता है।

---

1. वसोः सम्प्रसारणम् ६।४।१३१। 2. सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८।

चूडालः । चूडावान । प्राणिस्थात्किम् ? शिखावान् दीपः । प्राण्यङ्गादेव नेह—मेधावान् ।

५१६ । लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः ५।२।१०० लोमादिभ्य शः । लोमशः । लोमवान् । रोमशः । रोमवान् । पामादिभ्यो नः पामनः । ० (ग० सू०) अङ्गात्कल्याणे ॥ अङ्गना ।

चूडालः, चूडावान्—चूडा अस्य अस्ति (चोटी जिसके है)—चूडा + लच्→ चूडालः । पक्ष में—चूडा + मतुप्→चूडा + मत् मतुप् के म को व[1] होकर→ चूडावत् प्र० एक० में चूडावान् ।

प्राणिस्थात् किमिति—'प्राणी में स्थित हो' ऐसा क्यों कहा ? इस लिये कि "शिखावान् दीप." यहाँ लच् न हो । यहाँ शिखा दीप में है, प्राणिस्थ नहीं, अतः मतुप् प्रत्यय ही होता है लच् नहीं ।

प्राण्यङ्गादेव—प्राणी के अङ्गवाची से ही लच् प्रत्यय होता है, इस लिये "मेधाऽस्यास्तीति मेधावान्" यहाँ मेधा शब्द से 'लच्' नहीं होता अपितु मतुप् प्रत्यय होता है । मेधा (बुद्धि) प्राणी का अङ्ग नहीं, मूर्ध हाथ, पैर आदि ही प्राणी के अङ्ग कहलाते हैं ।

५१६. लोमादीति – मत्वर्थ में लोमादि शब्दों से 'श' पामादि शब्दों से 'न' तथा पिच्छादि शब्दों से इलच् प्रत्यय, विकल्प से होते हैं ।

लोमशः, लोमवान्—लोमानि अस्य सन्ति (लोम जिसके हैं, लोम वाला) लोमन् + श→नकार का लोप[2] होकर लोमशः । पक्ष में मतुप्—लोमन् + मतुप्→लोमवान् । इसी प्रकार 'रोमाणि अस्य सन्ति'—रोमशः, रोमवान् ।

पामनः—पाम अस्यास्ति (खुजली इसके है) पामन् + न→पामन् न का लोप होकर पाम + न→पामनः । पक्ष में—पामवान् ।

---

१. मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः. ८।२।९।

२. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७।

* (ग० सू०) लक्ष्म्या अच्च ॥ लक्ष्मणः। पिच्छादिभ्य इलच्।
पिच्छिलः, पिच्छवान्।

५२०। दन्त उन्नत उरच् ५।२।१०६। उन्नता दन्ताः सन्त्यस्य दन्तुरः।

५२१। केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ५।२।१०९। केशवः, केशी,

मङ्गादिति (ग० सू०) शोभनाङ्ग विषयक अङ्ग शब्द से मत्वर्थ में न प्रत्यय होता है।

अङ्गना—कल्याणानि (शोभनानि) अङ्गानि सन्ति अस्याः (सुन्दर अङ्ग हैं जिसके)—अङ्ग+न→स्त्रीत्वबोधक टाप् (आ) प्रत्यय होकर अङ्गना (स्त्री)।

लक्ष्म्या—(ग० सू०)—लक्ष्मी शब्द से मत्वर्थ में न प्रत्यय होता है और इसके अन्त को अकार हो जाता है।

लक्ष्मणः—लक्ष्मीः अस्यास्ति (लक्ष्मी इसके है, लक्ष्मी वाला)—लक्ष्मी+न→अन्त्य (ईकार) को अकार होकर लक्ष्म+न→न् को ण् लक्ष्मणः। पक्ष में—लक्ष्मी+मतुप्→लक्ष्मी+मतुप्→लक्ष्मीवान्।

पिच्छिलः—पिच्छ=स्यास्ति (मोरपंख इसके हैं)—पिच्छ+इलच्→अन्त्य अकार का लोप होकर पिच्छ्+इल→पिच्छिलः। पक्ष में पिच्छ+मतुप्→पिच्छवान्।

५२०. दन्त इति—उन्नतदन्तार्थक दन्त शब्द से मत्वर्थ में उरच् प्रत्यय होता है।

दन्तुरः—उन्नता दन्ताः अस्य सन्ति (ऊँचे दाँत इसके हैं, दाँतू)—दन्त+उरच्→अन्त्य अ का लोप दन्त्+उर→दन्तुरः।

५२१. केशादिति—केश शब्द से मत्वर्थ में विकल्प से व प्रत्यय होता है।

टिप्पणी—तद्धित प्रकरण में 'वा' का अधिकार चल ही रहा है।[1]

---

१. समर्थाना प्रथमाद् वा ४।१।८२। (३३०)

केशिकः, केशवान् । *(वा) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ॥ मणि

*(वा) अर्णसो लोपश्च ॥ अर्णवः ।

५२२ । अत इनिठनौ ५।२।११५ । दण्डी । दण्डिकः ।

इस सूत्र में फिर से 'अन्यतरस्याम्' (विकल्प से) कहने के कारण केश श
इनि तथा ठन्[1] प्रत्यय भी होते हैं । इस प्रकार व, इनि, ठन् और म
चार प्रत्यय केश शब्द से मत्वर्थ में हो जाते हैं । जैसे—

केशवः, केशी, केशिकः, केशिवान्—केशा अस्य सन्ति (केशां व
केश+व→केशवः । पक्ष में—केश+इनि→अन्त्य अकार का लोप के
इन्→केशिन्, केशी । केश+ठन्→ठ् को इक् केश+इक्, अन्त्य अ का
केशिकः । केश+मतुप्→केशवान् ।

अन्येभ्य इति (वा)—'केश' से भिन्न शब्दों से भी मत्वर्थ में व'
देखा जाता है ।

मणिवः—मणिरस्यास्ति (मणि वाला, विशेष प्रकार का नाग)—मणि
व→मणिवः ।

अर्णस इति (वा)—अर्णस् शब्द से मत्वर्थ में व प्रत्यय होता है औ
का लोप हो जाता है ।

अर्णव—अर्णांसि सन्ति अस्मिन् (जल वाला, सागर)—अर्णस्+
स् लोप→अर्ण+व→अर्णवः ।

५२२. अत इति—अकारान्त शब्द से मत्वर्थ में इनि और ठन्
होते हैं, विकल्प से ।

दण्डी, दण्डिकः—दण्डोऽस्यास्ति (दण्ड जिसके है, दण्ड वाला
दण्ड+इनि→दण्ड+इन्→अन्त्य अकार का लोप होकर दण्डिन् प्र०
में दण्डी । दण्ड+ठन्→ठ् को इक्→दण्डिकः । पक्ष में दण्ड+
दण्डवान ।

---

१. अत इनिठनौ ५।२।११५। (५२२)

५२३ । व्रीह्यादिभ्यश्च ५।२।११६। व्रीही, व्रीहिकः ।

५२४ । अस्मायामेधास्रजो विनिः ५।२।१२१। यशस्वी, यशस्वान् । मायावी । व्रीह्यादिपाठादिनिठनौ । मायी । मायिकः । मायावान् । मेधावी । स्रग्वी ।

५२५ । वाचो ग्मिनिः ५।२।१२४। वाग्मी ।

---

५२३. व्रीह्यादिभ्य इति—व्रीहि आदि शब्दों से भी मत्वर्थ में इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं और मतुप् भी ।

व्रीही, व्रीहिकः—व्रीहयः अस्य सन्ति (धान इसके हैं, धान वाला)—व्रीहि + इन् → अन्त्य इ का लोप - व्रीह् + इन् → व्रीहिन् (व्रीही) तथा व्रीहि + ठन् ← ठ् को इक् तथा अन्त्य इ का लोप होकर व्रीह् + इक → व्रीहिकः । पक्ष में व्रीहिमान् ।

५२४. अस्मायेति—असन्त (जिन शब्दों के अन्त में अस् हो) तथा माया, मेधा और स्रज् शब्द से मत्वर्थ में विनि प्रत्यय होता है ।

यशस्वी—यशोऽस्यास्ति (जिसके यश है, यश वाला)—असन्त यशस् शब्द से यशस् + विनि → यशस् + विन् → यशस्विन् प्र० एक० में यशस्वी । पक्ष में यशस् + मतुप् → यशस्वान् ।

इसी प्रकार मायाऽस्यास्ति, माया + विनि → मायावी, मायावान् । मेधाऽस्यास्ति, मेधा + विनि → मेधावी, मेधावान् । स्रग् अस्यास्ति (माला जिसके है, माला वाला) स्रज् + विनि → ज् को ग् (चोः कुः), स्रग् + विन् → स्रग्वी, स्रग्वान् ।

५२५. वाच इति—वाच् शब्द से मत्वर्थ में ग्मिनि प्रत्यय होता है ।

वाग्मी[1]—वाचोऽस्य सन्ति (वाणी इसके है, प्रशस्त वाणी वाला)—वाच् + ग्मिन् → च को क् (चोः कुः) तथा ग् (जश्त्व) होकर वाग् + ग्मिन →

---

१. वाग्मी में दो गकार हैं ।

केशिकः, केशवान् । *(वा) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ॥ मणि

*(वा) अर्णसो लोपश्च ॥ अर्णवः ।

५२२ । अत इनिठनौ ५।२।११५ । दण्डी । दण्डिकः ।

इस सूत्र में फिर से 'अन्यतरस्याम्' (विकल्प से) कहने के कारण केश श
इनि तथा ठन्[1] प्रत्यय भी होते हैं। इस प्रकार व, इनि, ठन् और म
चार प्रत्यय केश शब्द से मत्वर्थ में हो जाते हैं। जैसे—

केशवः, केशी, केशिकः, केशवान्—केशा अस्य सन्ति (केशा
केश+व→केशवः। पक्ष में—केश+इनि→अन्त्य अकार का लोप
इन्→केशिन्, केशी। केश+ठन्→ठ् को इक् केश+इक्, अन्त्य अ का
केशिकः। केश+मतुप्→केशवान्।

अन्येभ्य इति (वा)—'केश' से भिन्न शब्दों से भी मत्वर्थ में व'
देखा जाता है।

मणिवः—मणिरस्यास्ति (मणि वाला, विशेष प्रकार का नाग)—म
व→मणिवः।

अर्णस इति (वा)—अर्णस् शब्द से मत्वर्थ में व प्रत्यय होता है औ
का लोप हो जाता है।

अर्णवः—अर्णांसि सन्ति अस्मिन् (जल वाला, सागर)—अर्णस्+
स् लोप→अर्ण+व→अर्णवः।

५२२. अत इनि—अकारान्त शब्द से मत्वर्थ में इनि और ठन्
होते हैं, विकल्प से।

दण्डी, दण्डिकः—दण्डोऽस्यास्ति (दण्ड जिसके है, दण्ड वाला
दण्ड+इनि→दण्ड+इन्→अन्त्य अकार का लोप होकर दण्डिन् प्र०
में दण्डी। दण्ड+ठन्→ठ् को इक्→दण्डिकः। पक्ष में दण्ड+
दण्डवान्।

---

१. अत इनिठनौ ५।२।११५। (५२२)

* (ग० सू०) लक्ष्म्या अच्च ॥ लक्ष्मणः । पिच्छादिभ्य इलच् । पिच्छिलः, पिच्छवान् ।

५२० । दन्त उन्नत उरच् ५।२।१०६। उन्नता दन्ताः सन्त्यस्य दन्तुरः ।

५२१ । केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ५।२।१०९। केशवः, केशी,

अङ्गादिति (ग० सू०) शोभनाङ्ग विषयक अङ्ग शब्द से मत्वर्थ में न प्रत्यय होता है ।

अङ्गना—कल्याणानि (शोभनानि) अङ्गानि सन्ति यस्याः (सुन्दर अङ्ग हैं जिसके)—अङ्ग+न→स्त्रीत्वबोधक टाप् (आ) प्रत्यय होकर अङ्गना (स्त्री) ।

लक्ष्म्या—(ग० सू०)—लक्ष्मी शब्द से मत्वर्थ में न प्रत्यय होता है और इसके अन्त को अकार हो जाता है ।

लक्ष्मणः—लक्ष्मीः अस्यास्ति (लक्ष्मी इसके है, लक्ष्मी वाला)—लक्ष्मी+न→अन्त्य (ईकार) को अकार होकर लक्ष्म+न→न् को ण् लक्ष्मणः । पक्ष में—लक्ष्मी+मतुप्→लक्ष्मी+मतुप्→लक्ष्मीवान ।

पिच्छिलः—पिच्छ:स्यास्ति (मोरपंख इसके हैं)—पिच्छ+इलच्→अन्त्य अकार का लोप होकर पिच्छ्+इल→पिच्छिलः । पक्ष में पिच्छ+मतुप्→पिच्छवान् ।

५२०. दन्त इति—उन्नतदन्तार्थक दन्त शब्द से मत्वर्थ में उरच् प्रत्यय होता है ।

दन्तुरः—उन्नता दन्ताः यस्य सन्ति (ऊँचे दाँत इसके हैं, दाँतू)—दन्त+उरच्→अन्त्य अ का लोप दन्त्+उर→दन्तुरः ।

५२१. केशादिति—केश शब्द से मत्वर्थ में विकल्प से व प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—तद्धित प्रकरण में 'वा' का अधिकार चल ही रहा है ।[1]

---

१. समर्थानां प्रथमाद् वा ४।१।८२। (३३०)

केशिकः, केशवान् । *(वा) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ॥ म
*(वा) अर्णसो लोपश्च ॥ अर्णवः ।

५२२ । अत इनिठनौ ५।२।११५ । दण्डी । दण्डिकः ।

इस सूत्र में फिर से 'अन्यतरस्याम्' (विकल्प से) कहने के कारण केश
इनि तथा ठन्' प्रत्यय भी होते हैं । इस प्रकार व, इनि, ठन् और
चार प्रत्यय केश शब्द से मत्वर्थ में हो जाते हैं । जैसे—

केशवः, केशी, केशिकः, केशवान्—केशा अस्य सन्ति (केशां
केश+व→केशवः । पक्ष मे—केश+इनि→अन्त्य अकार का लोप
इन्→केशिन्, केशी । केश+ठन्→ठ् को इक् केश+इक्, अन्त्य अ
केशिकः । केश+मतुप्→केशवान् ।

अन्येभ्य इति (वा)—'केश' से भिन्न शब्दों से भी मत्वर्थ में व'
देखा जाता है ।

मणिवः—मणिरस्यास्ति (मणि वाला, विशेष प्रकार का नाग)—म
व→मणिवः ।

अर्णस इति (वा)—अर्णस् शब्द से मत्वर्थ में व प्रत्यय होता है औ
का लोप हो जाता है ।

अर्णव—अर्णांसि सन्ति अस्मिन् (जल वाला, सागर)—अर्णस्+
स् लोप→अर्ण+व→अर्णवः ।

५२२. अत इति—अकारान्त शब्द से मत्वर्थ में इनि और ठन् प्र
होते हैं, विकल्प से ।

दण्डी, दण्डिकः—दण्डोऽस्यास्ति (दण्ड जिसके है, दण्ड वाला)
दण्ड+इनि→दण्ड+इन्→अन्त्य अकार का लोप होकर दण्डिन् प्र० ए
में दण्डी । दण्ड+ठन्→ठ् को इक्→दण्डिकः । पक्ष में दण्ड+म
दण्डवान ।

---

१. अत इनिठनौ ५।२।११५। (५२२)

५२३ । व्रीह्यादिभ्यश्च ५।२।११६। व्रीही, व्रीहिकः ।

५२४ । अस्मायामेधास्रजो विनिः ५।२।१२१। यशस्वी, यशस्वान् । मायावी । व्रीह्यादिपाठादिनिठनौ । मायी । मायिकः । मायावान् । मेधावी । स्रग्वी ।

५२५ । वाचो ग्मिनिः ५।२।१२४। वाग्मी ।

---

५२३. व्रीह्यादिभ्य इति—व्रीहि आदि शब्दों से भी मत्वर्थ में इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं और मतुप् भी ।

व्रीही, व्रीहिकः—व्रीहयः अस्य सन्ति (धान इसके हैं, धान वाला)—व्रीहि + इनि→अन्त्य इ का लोप ~ व्रीह् + इन्→व्रीहिन् (व्रीही) तथा व्रीहि + ठन्←ठ् को इक् तथा अन्त्य इ का लोप होकर व्रीह् + इक→व्रीहिकः । पक्ष में व्रीहिमान् ।

५२४. अस्मायेति—असन्त (जिन शब्दों के अन्त में अस् हो) तथा माया, मेधा और स्रज् शब्द से मत्वर्थ में विनि प्रत्यय होता है ।

यशस्वी—यशोऽस्यास्ति (जिसके यश है, यश वाला)—असन्त यशस् शब्द से यशस् + विनि→यशस् + विन्→यशस्विन प्र० एक० में यशस्वी । पक्ष में यशस् + मतुप्→यशस्वान् ।

इसी प्रकार मायाऽस्यास्ति, माया + विनि→मायावी, मायावान् । मेधाऽस्यास्ति, मेधा + विनि→मेधावी, मेधावान् । स्रग् अस्यास्ति (माला जिसके है, माला वाला) स्रज् + विनि→ज् को ग् (चोः कुः), स्रग् + विन्→स्रग्वी, स्रग्वान् ।

५२५. वाच इति—वाच् शब्द से मत्वर्थ में ग्मिनि प्रत्यय होता है ।

वाग्मी[1]—वाचोऽस्य सन्ति (वाणी इसके है, प्रशस्त वाणी वाला)—वाच् + ग्मिन्→च को क् (चोः कुः) तथा ग् (जश्त्व) होकर वाग् + ग्मिन→

---

1. वाग्मी में दो गकार हैं ।

५२६ । अर्श आदिभ्योऽच् ५।२।१२७। अर्शोऽस्य
अर्शसः । आकृतिगणोऽयम् ।

५२७ । अहंशुभमोर्युस् ५।२।१४०। अहंयुः अहङ्कारवा
शुभंयुस्तु शुभान्वितः । इति मत्वर्थीयाः ॥१३॥

अथ प्राग्दिशीयाः ॥१४॥

५२८ । प्राग्दिशो विभक्तिः ५।३।१। दिक्शब्देभ्य

वाग्मिन् → वाग्मी ।

५२६. अर्श इति—अर्शस् आदि शब्दों से मत्वर्थ में अच् प्रत्यय होता

अर्शसः—अर्शांसि सन्ति यस्य (बवासीर इसके है, बवासीर का

अर्शस् + अच् → अर्शसः ।

आकृतीति—अर्श आदि आकृति गण है ।

५२७. अहमिति—अहम् और शुभम् शब्द से मत्वर्थ में युस् प्रत्यय
है ।

'अहम्' अहङ्कार अर्थ में अव्यय है और 'शुभम्' शुभ अर्थ में अव्यय
युस् में यु शेष रहता है ।

अहंयु—अहम् (अहङ्कारः) अस्यास्ति (अहङ्कार वाला)—अहम् + यु
अहम् + यु → म् को अनुस्वार अहंयु । इसी प्रकार 'शुभमस्यास्ति' शुभम् +
→ शुभंयुः ।

टिप्पणी—युस् प्रत्यय के सित् होने से पूर्व की पद संज्ञा (सिति च)
है तथा पदान्त के मकार को अनुस्वार हो जाता है (मोऽनुस्वारः) ८।३।२

इति मत्वर्थीया ॥१३॥

अथ प्राग्दिशीयाः—यहाँ से प्राग्दिशीय प्रत्यय प्रारम्भ होते हैं ।

५२८. प्राग्दिश इति—'दिक्शब्देभ्य —इत्यतः' ५ ३ २७'

यमाणाः प्रत्यया विभक्तिसंज्ञा स्युः।

५२९। किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः ५।३।२। किमः सर्व-
बहुशब्दाच्चेति प्राग्दिशोऽधिक्रियते।

५३०। पञ्चम्यास्तसिल् ५।३।७। पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्य-
वा स्यात्।

५३१। कु तिहोः ७।२।१०४। किमः कु स्यात्तादौ हादौ च
परतः। कुतः। कस्मात्।

३२। इदम इश् ५।३।३। प्राग्दिशीये परे इतः।

े पहले जो प्रत्यय कहे जायेंगे, उनकी विभक्ति संज्ञा होती है।

.. किंसर्वनामेति—द्वि आदि से भिन्न सर्वनाम, किम् तथा बहु शब्द
य होते हैं) यह "दिक्शब्देभ्य" से पहले तक अधिकार है।
' शब्द भी सर्वनाम है किन्तु यह द्वि आदि मे आता है अतः अद्व्या-
ने के कारण इससे तसिल् आदि प्रत्यय न हो सकते थे। इसीलिये
यक् ग्रहण किया है।

पञ्चम्या इति—पञ्चम्यन्त किम् आदि से तसिल् प्रत्यय होता है
तसिल् मे तस् शेष रहता है।

कु इति—किम् को कु हो जाता है तकारादि और हकारादि विभक्ति
।

कस्मात् (किससे)—इस विग्रह मे पञ्चम्यन्त किम् शब्द से तसिल्
है। किम्+ङसि+तस् इस दशा मे प्रातिपदिक संज्ञा (कृत्तद्धित-
होकर सुप् (ङसि) का लोप (सुपो धातुप्रातिपदिकयो:) हो जाता
सिल्→किम् को कु आदेश होकर कु+तस्→स् को विसर्ग→
कस्मात्।

—(1) प्राग्दिशीय प्रत्ययों से बने शब्द अव्यय[1] होते हैं।
ल् आदि प्रत्यय पञ्चम्यन्त आदि सुबन्त शब्दो से जैसा होते हैं,

---

[1] तद्धितश्चासर्वविभक्ति १।१।३८।

५३३ । (एतदः) अन् ५।३।५। एतदः प्राग्दिशीये ।
ल्त्वात्सर्वादेशः । अतः । अमुतः । यतः । ततः । बहुतः द्वय
द्वाभ्याम् ।

कि दिखलाया गया है (किम्+ङसि+तस्)। सुप् का लुक् हो जाता है ।
प्रयोगों में भी यह प्रक्रिया समझनी चाहिये ।

५३२. इदमिति—प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होने पर इदम् को इश् आ
जाता है । इश् में इ शेष रहता है । शित् होने से यह समस्त इदम् के स्
होता है ।

इतः—अस्मात् (इससे) सर्वनाम 'इदम्' शब्द से तसिल् प्रत्यय होकर
+तस्→इदम को इश् होकर इ+तस्—इतः ।

५३३. अन् इति—प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होने पर 'एतद्' को अन्
हो जाता है ।

अनेकाल्त्वादिति—अनेक वर्णों (अल्) वाला होने से 'अन्' आदेश स
'एतद्' के स्थान में होता है । (अन् में 'अ' तथा न् दो अर्थात् अनेक वर्ण
जो आदेश अनेक वर्णों वाला या शित् (जिसमें श् की इत्संज्ञा हो जैसे '
इश्') होता है, वह सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर हुआ करता है (अनेकाल्शि
र्वस्य १ १।५५) ।

अतः—एतस्मात् (इससे)—एतद्+तसिल्→एतद् को 'अन्' आदेश
+तस्→न् का लोप[1]→अतस्→अतः ।

अमुतः—अमुष्मात् (उससे)—अदस+तसिल→अदस+तस्→स् को
तथा पूर्व अकार का पररूप[1] होकर अद+तस् इस दशा में दकार से
वाले अकार को उकार तथा दकार को मकार[2] होकर अमु+तस्→अमुतः ।

यतः—यस्मात् (जिससे)—यद्+तसिल्→यद्+तस→द् को अक
तथा पूर्व अकार का पररूप[1] य+तस्→यतः । इसी प्रकार तस्मात्, तद्+
→ततः । बहोः, बहु+तसिल्→बहुतः ।

---

१. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७। - २. त्यदादीनामः ७।२।१०२
३. अतो गुणे ६।१।९७। ४. अदसोऽसेर्दादु दो मः ८।२।८०

५३४ । पर्यभिभ्यां च ५।३।९। आभ्यां तसिल् स्यात् । [सर्वोभयार्थाभ्यामेव, परितः, सर्वत इत्यर्थः । अभितः, उभयत इत्यर्थः ।

५३५ । सप्तम्यास्त्रल् ५।३।१०। कुत्र । यत्र । तत्र । बहुत्र ।

५३६ । इदमो हः ५।३।११। त्रलोऽपवादः । इह ।

द्व्यादेरिति—द्वि आदि सर्वनाम शब्दों से प्राग्दिशीय प्रत्यय नहीं होते अतएव 'द्वि' शब्द से पञ्चमी में 'द्वाभ्याम्' ही बनता है, दूसरा तद्धितान्त रूप नहीं।

५३४. पर्यभिभ्यामिति—परि और अभि से तसिल् प्रत्यय होता है।

परितः—सर्वतः (सब ओर से) परि+तसिल्→परितः इसी प्रकार अभितः—उभयतः (दोनों ओर से) अभि+तसिल्।

५३५. सप्तम्या इति—सप्तम्यन्त किम् आदि से त्रल् प्रत्यय होता है।

कुत्र—कस्मिन् (किसमें, कहाँ)—किम् शब्द से त्रल् प्रत्यय होकर किम्+त्र—किम् को कु आदेश (कु तिहोः ७।२।१०४) कुत्र। इसी प्रकार यस्मिन् (जिसमें, जहाँ), यद्+त्रल्→यत्र, तस्मिन् (उसमें, वहाँ) तद्+त्रल्→तत्र, बहुषु (बहुतों में) बहु+त्रल्→बहुत्र।

टिप्पणी—यत्र, तत्र में यद्, तद् के द् को अकार[1] तथा पररूप[2] यतः, ततः के समान होता है।

५३६. इदम इति—सप्तम्यन्त इदम् शब्द से ह प्रत्यय होता है। यह त्रल् प्रत्यय का बाधक है।

इह—अस्मिन् (इसमें, यहाँ)—इदम् शब्द से ह प्रत्यय होकर इदम्+ह→इदम् का इश् आदेश (इदम् इश् ५।३।३) होकर इ+ह→इह।

टिप्पणी—एतद् शब्द से त्रल् प्रत्यय होकर एतद् को अन् सर्वादेश होता है तथा अत्र शब्द बनता है।

---

1. त्यदादीनामः ७।२।१०२. 2. अतो गुणे ६।१।९७।

५३७। किमोऽत् ५।३।१२। वाग्रहणमपकृष्यते । सप्तम्या
त्किमोऽद्वा स्यात् । पक्षे त्रल् ।

५३८। क्वाति ७।२।१०५। किमः क्वादेशः स्यादति । क
कुत्र ।

५३९। इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ५।३।१४। पञ्चमीसप्तमी
विभक्त्यन्तादपि तसिलादयो दृश्यन्ते । दृशिग्रहणाद्भवदादियोग ए
स भवान् । ततो भवान् । तत्र भवान् । तं भवन्तम् ततो भवन्तम् ।

---

५३७. किम इति—सप्तम्यन्त किम् शब्द से अत् प्रत्यय होता है वि
से, पक्ष में त्रल् होता है ।

वाग्रहणमिति—पहिले सूत्र 'वा ह च छन्दसि' ५।३।१३ से 'वा'
अपकर्ष किया जाता है अर्थात् 'वा' को ऊपर की ओर खींच लिया जाता
(इसी से 'अत्' विकल्प से होता है) ।

५३८. क्वातीति—किम् को क्व' आदेश होता है अत् प्रत्यय
होने पर ।

क्व—कस्मिन् (किसमें, कहाँ)—किम् + अत्→किम् को क्व आ
होकर क्व + अ→क्व 'अतोगुणे' से पररूप होकर क्व पक्ष में किम् + त्रल्→
(कुत्र) ।

५३९. इतराभ्य इति—पञ्चमी और सप्तमी से भिन्न विभक्ति
शब्दों से भी तसिल् आदि प्रत्यय देखे जाते हैं ।

दृशिग्रहणादिति—दृशि धातु (दृश्यन्ते) के ग्रहण से 'भवत्' आदि
योग में ही तसिल् आदि प्रत्यय होते हैं । अभिप्राय यह है कि जहाँ
शिष्टजनों से तसिल् आदि का प्रयोग देखा जाता है, वहीं ये प्रत्यय होते
भवत् आदि के योग में इनका प्रयोग देखा जाता है इसलिये ये भवत् आदि
योग में ही होते हैं ।

भवान्, तत्र भवान्—स भवान् (पूज्य)—भवत् शब्द के योग
शब्द से तसिल् और त्रल् प्रत्यय होते हैं ।

भवन्तम्, तत्र भवन्तम्—तं भवन्तम् (पूज्य को))—भवत्

भवन्तम्। एवं दीर्घायुः। देवानां प्रियः। आयुष्मान्।

५४०। सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा ५।३।१५। सप्तम्यन्तेभ्य कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात्।

५४१। सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ५।३।६। दादौ प्राग्दिशीये सर्वस्य सो वा स्यात्। सर्वस्मिन् काले सदा। एकदा अन्यदा। कदा यदा। तदा। काले किम्? सर्वत्र देशे।

के योग में द्वितीयान्त तद् शब्द से तसिल् और त्रल् प्रत्यय होकर ततः, तत्र बनते हैं।

एवमिति—इसी प्रकार दीर्घायुः, देवानांप्रिय तथा आयुष्मान् शब्दों के योग में भी; जैसे—स दीर्घायुः, इस अर्थ में ततो दीर्घायुः, तत्र दीर्घायुः आदि का प्रयोग होता है।

५४०. सर्वैकेति—सप्तम्यन्त कालबोधक सर्व, एक, अन्य, किम्, यद् और तद् शब्दों से स्वार्थ में दा प्रत्यय होता है।

५४१. सर्वस्येति—सर्व शब्द को विकल्प से स आदेश होता है। प्राग्दिशीय दकारादि प्रत्यय परे होने पर।

सदा, सर्वदा—सर्वस्मिन् काले (सब समय में)—इस विग्रह में सर्व शब्द से दा प्रत्यय होता है—सर्व+दा→सर्व को विकल्प से स आदेश होकर सदा, पक्ष में सर्वदा। इसी प्रकार एकस्मिन् काले (एक समय) एकदा। अन्यस्मिन् काले (अन्य समय) अन्यदा।

कदा—कस्मिन् काले (किस समय, कब)—किम्+दा→किम् को क आदेश[1] क+दा→कदा।

यदा—यस्मिन् काले (जिस समय, जब)—यद्+दा 'त्यदादीनामः' से द् को अ और 'अतो गुणे' से अ+अ को पररूप होकर यदा। इसी प्रकार तस्मिन् काले (उस समय, तब) तद्+दात→दा।

१. किमः कः ७।२।१०३।

५४२ । इदमोर्हिल् ५।३।१६। सप्तम्यन्तात्। काले इत्येव

५४३ । एतेतौ रथोः ५।३।४। इदम् शब्दस्य एत् इत् इत्या स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये परे। अस्मिन्काले एतर्हि। किम् ? इह देशे।

५४४ । अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ५।३।२१ कर्हि, क यर्हि, यदा। तर्हि, तदा।

काले किमिति—'काल अर्थ में दा प्रत्यय होता है' यह क्यों क इसलिये कि सर्वस्मिन् देशे→सर्वत्र। यहाँ देश अर्थ है इसी से दा नहीं अपितु 'त्रल्' प्रत्यय होता है।

५४२. इदम् इति—काल-अर्थ में विद्यमान सप्तम्यन्त इदम् शब्द से प्रत्यय होता है। र्हिल् में र्हि शेष रहता है।

५४३. एतेतौ इति—इदम् शब्द को एत तथा इत् आदेश हो जाते क्रमशः रेफादि (जिसके आदि मे र=रेफ हो) तथा थकारादि प्राग्दिशीय प्र परे होने पर।

एतर्हि—अस्मिन् काले (इस समय, अब)—इदम्+र्हिल्→रेफादि प्र रे होने से इदम् को एत आदेश होकर एत+र्हि→एतर्हि।

, टिप्पणी—इदम् शब्द से इस अर्थ मे 'अधुना' और 'इदानीम्' शब्द नते है।

काले किमिति—इदम् शब्द से काल में र्हिल् प्रत्यय होता है यह क हाँ ? इसलिये कि अस्मिन् देशे (इह देशे) यहाँ र्हिल नहीं होता अपितु ' त्यय होता है।

५४४. अनद्यतन इति—अनद्यतन (जो आज का न हो) काल-विषय किम्' आदि सप्तम्यन्त शब्दों से विकल्प से र्हिल् प्रत्यय होता है।

कर्हि, कदा—कस्मिन् काले (किस समय, कब)—किम्+र्हिल्→कि स्थान पर 'क' होकर कर्हि। पक्ष में किम्+दा→कदा।

५४५। एततः ५।३।५। एत इत् एतौ स्तो रेफादौ थादौ प्राग्दिशीये। एतस्मिन्काले एतर्हि।

५४६। प्रकारवचने थाल् ५।३।२३। प्रकारवृत्तिभ्यः किमादि स्थाल् स्यात् स्वार्थे। तेन प्रकारेण तथा। यथा।

५४७। इदमस्थमुः ५।३।२४। थालोऽपवादः।

इसी प्रकार यद्+हिल→यर्हि। तद्+हिल→तर्हि। पक्ष में तदा।

५४५. एततः इति—एतद् शब्द को एत, इत् ये दो आदेश होते हैं, क्र रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होने पर।

टिप्पणी—अन् (५३३) तथा एततः (५४५) ये दोनों सूत्र अष्टाध्यायी एक सूत्र के ही रूप में (एतदोऽन् ५।३।५) हैं। काशिकाकार तथा भट्टो दीक्षित (सि० कौ०) इस सूत्र में योग विभाग करके ही दोनों अर्थ निकालते किन्तु लघुकौमुदीकार वरदराज ने इन्हें दो सूत्रों के रूप में ही रख दिया।

एतर्हि—एतस्मिन् काले (इस समय, अब)—एतद्+हिल→एतद् को आदेश एत+हि→एतर्हि।

५४६. प्रकारवचन इति—प्रकार अर्थ में किम् आदि शब्दों से प्रत्यय होता है, स्वार्थ में।

टिप्पणी—सामान्य के भेदक (विशेषक) को प्रकार कहते हैं। देवदत्त किस दशा (विशेष) में है? इस जिज्ञासा में कथं देवदत्तः? यह होता है।

तथा—तेन प्रकारेण (इस प्रकार से, वैसा)—तद् शब्द से थाल् प्र होकर पूर्वोक्त प्रकार से तद् के द् को अ तथा पहले अ को पररूप होकर=तथा इसी प्रकार येन प्रकारेण (जिस प्रकार से, जैसा) यद्+थाल्→यथा।

५४७. इदम इति—प्रकार अर्थ में इदम् शब्द से थमु प्रत्यय होत (स्वार्थ में)। यह थाल् प्रत्यय का बाधक है। थमु में 'थम्' शेष रहता है।

❀ (वा) एतदोऽपि वाच्यः ॥ अनेन एतेन वा प्रकारेण इत्थम्

५४८ । किमश्च ५।३।२५। केन प्रकारेण कथम् ।

इति प्राग्दिशीयाः ॥१४॥

अथ प्रागिवीयाः ॥१५॥

५४९ । अतिशायने तमबिष्ठनौ ५।३।५५। अतिशयविशिष्टार्थवृत्तेः स्वार्थे एतौ स्तः । अयमेषामतिशयेनाढ्यः—आढ्यतमः ।

एतद् इति (वा)—प्रकार अर्थ में एतद् शब्द से भी थमु प्रत्यय होता है।

इत्थम्—अनेन प्रकारेण (इस प्रकार से, ऐसे)—इदम्+थमु→इदम्+थम्→थकारादि प्रत्यय परे होने से इदम् को इत' होकर इत+थम्→इत्थम्। इसी प्रकार एतेन प्रकारेण एतद्+थमु→एतद् को इत' इत्थम्।

५४८. किमश्चेति—प्रकारार्थ में किम् शब्द से भी थमु प्रत्यय होता है।

कथम्—केन प्रकारेण (किस प्रकार, कैसे)—किम्+थमु→किम् को क होकर 'कथम्'। इति प्राग्दिशीयाः ॥१४॥

अथ प्रागिवीयाः—यहाँ से लेकर इवे प्रतिकृतौ ५।३।९६। से पहले तक प्रत्यय प्रागिवीय (प्राक्+इव+ईय) कहलाते हैं। अब उनका प्रारम्भ किया जाता है।

५४९. अतिशायन इति—अतिशय अर्थ में विद्यमान शब्द से स्वार्थ में होते हैं।

जिसका बहुतों में उत्कर्ष दिखलाना होता है उससे इष्ठन् प्रत्यय होते हैं। तमप् में तम् तथा इष्ठन् से

लघुतमः । लघिष्ठः ।

५५० । तिङश्च ५।३।५६। तिङन्तादतिशये द्योत्ये तमप् स्यात्।

५५१ । तरप्तमपौ घः १।१।२२। एतौ घसंज्ञौ स्तः ।

५५२ । किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ५ । ४ ११ ।

किम एदन्तात्तिङोऽव्ययाच्च यो घस्तदन्तादामु स्यान्न तु द्रव्यप्रकर्षे। किन्तमाम् । प्राह्णेतमाम् । पचतितमाम् । उच्चैस्तमाम् । द्रव्यप्रकर्षे

आढ्यतमः—अयमेषाम् अतिशयेन आढ्यः (यह इनमे अधिक धनी है)—इस विग्रह मे आढ्य शब्द से तमप् प्रत्यय होकर आढ्य+तम→ आढ्यतमः ।

लघुतमः लघिष्ठः—अयमेषाम् अतिशयेन लघु (यह इनमे सबसे छोटा है)—लघु+तमप्→लघुतमः । लघु+इष्ठन्→टि अर्थात् उ का लोप[1] लघ्→ इष्ठ→लघिष्ठः ।

५५०. तिङश्चेति—तिङन्त शब्द से भी अतिशय प्रकट करने के लिये तमप् प्रत्यय होता है ।

५५१. तरप् इति—तरप् और तमप् प्रत्ययों की घ संज्ञा होती है ।

५५२. किमेद् इति—किम्, एकारान्त, तिङन्त और अव्यय से परे जो घ (तरप्, तमप्) तदन्त से आमु प्रत्यय होता है, किन्तु द्रव्यप्रकर्ष मे नहीं ।

किन्तमाम्—किम्+तमप्→आम् प्रत्यय होकर किम्+तम+आम्→ तम के अन्त्य अकार का लोप (यस्येति च) होकर किन्तमाम् ।

प्राह्णेतमाम्—(बहुत मध्याह्न) एतन्त प्राह्णे शब्द से तमप् प्रत्यय होकर उससे परे 'आम्' प्रत्यय, प्राह्णेतमाम् ।

पचतितमाम्—अतिशयेन पचति (बहुत अच्छा पकाता है)—पचति+तमप् +आम्→पचतितमाम् ।

---

१. टेः ६।४।१५५। इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर भसंज्ञक की टि का लोप होता है ।

तु उच्चैस्तमरातरु ।

५५३ । द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ५।३।५७। [illegible]
रेकस्यातिशये विभक्तव्ये चोपपदे सुप्तिङन्तादेतौ स्तः । पूर्वयोरयार [illegible]
[illegible]रतिशयेन लघुर्लघुतर, लघीयान् । उदीच्याः प्राच्येभ्य [illegible]

उच्चैस्तमाम्—अतिशयेन उच्चैः (बहुत ऊँचे पर) उच्चैस् + तमप् [illegible]
आम् → उच्चैस्तमाम् ।

[illegible]—आम् [illegible] अव्यय होते हैं ।

[illegible] इति—यहाँ द्रव्य का प्रकर्ष दिखाया जाता है वहाँ तो 'आम्' [illegible]
[illegible] नहीं होता, जैसे—उच्चैस्तमतरुः (अधिक ऊँचा वृक्ष) । यहाँ [illegible] (वृक्ष)
द्रव्य है । 'उच्चैस्तम' शब्द से उसका अतिशय प्रकट किया जा रहा है ।

[illegible] द्विवचनेति—दो में से एक का उत्कर्ष दिखाने के लिये [illegible]
[illegible] (विभक्तव्य) उसके उपपद होने पर सुबन्त और
[illegible] से [illegible] प्रत्यय होते हैं । [illegible]
[illegible] है ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

पटुतराः, पटीयांस ।

५५४ । **प्रशस्यस्य श्रः** ५।३।६०। अस्य श्र आदेश स्यादजाद्योः परतः ।

५५५ । **प्रकृत्यैकाच्** ६।४।१६३। इष्ठादिष्वेकाच् प्रकृत्या स्यात् श्रेष्ठः, श्रेयान् ।

५५६ । **ज्य च** ५।३।६१। प्रशस्यस्य ज्यादेश स्यात् इष्ठेयसोः । ज्येष्ठः ।

पटुतराः, पटीयांस.—उदीच्याः प्राच्येभ्य अतिशयेन पटव. (उत्तर के निवासी पूर्वी लोगों से अधिक चतुर हैं)—यहाँ 'प्राच्य' से विभाग (भेद) दिखाना है, अतः पटु शब्द से तरप् और ईयसुन् प्रत्यय होते हैं—पटु + तर → पटुतरा । पटु + ईयसुन् → पटीयन् पु० प्र० बहु० में पटीयांस ।

टिप्पणी—तमप् आदि प्रत्यय विशेषण शब्दों से होते हैं अतः तमप् आदि प्रत्यय वाले शब्दों के रूप तीनों लिङ्गों में बनते हैं जैसे (पुं०) लघुतम, (नपुं०) लघुतमम् स्त्री०) लघुतमा । (पु०) लघीयान्, (नपुं०) लघीय (स्त्री० लघीयसी ।

५५४ **प्रशस्यस्येति**—प्रशस्य शब्द को 'श्र' आदेश होता है स्वरादि (इष्ठन्, ईयसुन्) प्रत्यय परे होने पर ।

५५५. **प्रकृत्येति**—इष्ठन् आदि प्रत्यय पर होने पर एकाच (जिसमें एक अच् या स्वर हो) को प्रकृतिभाव होता है अर्थात् टि लोप नहीं होता ।

श्रेष्ठः—अयम् एषाम् अतिशयेन प्रशस्य (यह इनमें अधिक प्रशंसनीय है)—प्रशस्य + इष्ठन् → प्रशस्य को श्र आदेश होकर श्र + इष्ठ → टि लोप प्राप्त होने पर प्रकृति भाव होकर श्र + इष्ठ → श्रेष्ठ ।

श्रेयान्—अयम् अनयो अतिशयेन प्रशस्य (यह इन दोनों में अधिक प्रशंसनीय है)—प्रशस्य + ईयसुन् → श्र + ईयस् → श्रेयस्, पु० प्रथमा एक० में श्रेयान् ।

५५६. **ज्य चेति**—प्रशस्य को ज्य आदेश होता है, इष्ठन् और ईयसुन्

५५७ । ज्यादादीयसः ६।४।१६०। (ज्यादुत्तरस्येयसु
रादेशः) आदेः परस्य । ज्यायान् ।

५५८ । बहोर्लोपो भू च बहोः ६।४।१५८ बहोः प
लोपः स्यात् बहोश्च भूरादेशः । भूमा । भूयान् ।

प्रत्यय परे होने पर ।

ज्येष्ठः—प्रथम् एषाम् अतिशयेन प्रशस्यः (यह इनमें अधि
है) प्रशस्य+इष्ठन्→ज्य+इष्ठ→प्रकृतिभाव तथा गुण (
ज्येष्ठः ।

५५७. ज्याद् इति—ज्य से परे ईयस् को आकार आदेश होन
आदेरिति—आदेः परस्य १।२।५४। सूत्र के अनुसार ऊपर वह
ईयस् के आदि (ईकार) का होता है ।

ज्यायान्—अयम् अनयोः अतिशयेन प्रशस्यः (यह इन दोनो
प्रशंसनीय है)—प्रशस्य+ईयसुन् प्रशस्य को ज्य आदेश होक
ईयस्→ईयस के आदि (ई) को आ होकर ज्य+आयस्→ज्या
प्र० एक० मे ज्यायान् ।

५५८. बहोरिति—बहु से परे इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय (के
का लोप होता है और बहु को भू आदेश हो जाता है ।

भूमा—बहोर्भावः (बहुत्व, बहुतायत)—बहु शब्द से भा
इमनिच्[२] प्रत्यय होकर बहु+इमन्→इमन् के इ का लोप तथा
आदेश होकर भू+मन्→(पुं०) प्रथमा एक० में—भूमा ।

भूयान्—अयमनयोः अतिशयेन बहुः (दो में अधिक)-
ईयसुन्→बहु+ईयस्→ईयस् के आदि (ई) का लोप तथा बहु

[illegible] परिभाषा सूत्र के अनुसार आदि इ, ई ।

२ इमनिच्का ५।१।१२२

५५९ । इष्ठस्य यिट् च ६।४।१५९। बहोः परस्य इष्ठस्य लोप येडागमश्च । भूयिष्ठः ।

५६० । विन्मतोर्लुक् ५।३।६५। विनो मतुपश्च लुक् स्यादिष्ठे-ठ; स्वचीयान् । अतिशयेन स्रग्वी स्रजिष्ठः, स्रजीयान् । अतिशयेन त्वग्वान्

५६१ । ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ५।३।६७। ईषदूनो : विद्वत्कल्पः । विद्वद्देश्यः । विद्वद्देशीयः । पचतिकल्पम् ।

होकर भू + यस् → भूयस् पुं० प्रथमा एकवचन में भूयान् ।

५५९. इष्ठस्येति—बहु से परे इष्ठन् (के आदि) का लोप होता है तथा यिट् का आगम होता है । (भू आदेश भी होता है) यिट् में यि शेष रहता ; ष्ठ के आदि में आता है ।

भूयिष्ठः—अयम् एतेषाम् अतिशयेन बहुः (यह इनमें सबसे अधिक है)— + इष्ठन् → इ का लोप तथा बहु को भू आदेश होकर भू + ष्ठ → यि (यिट्) आगम होकर भू + यि + ष्ठ → भूयिष्ठः ।

५६०. विन्मतोरिति—विन् और मतुप् प्रत्यय का लोप (लुक्) हो जाता ष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर ।

स्रजिष्ठः—अतिशयेन स्रग्वी (अत्यधिक माला वाला) स्रग्विन्[1] + न्—विन् का लोप होकर स्रज् + इष्ठ → स्रजिष्ठः ।

स्रजीयान्—अयमनयोः अतिशयेन स्रग्वी (यह इन दोनों में अधिक माला ला है) स्रग्विन् + ईयसुन् → विन् का लोप स्रजीयस् → स्रजीयान् ।

त्वचिष्ठः—अतिशयेन त्वग्वान् (अधिक त्वचा वाला)—त्वग्वान् च् + मत्) + इष्ठन् → मतुप् का लोप होकर त्वचिष्ठः । इसी प्रकार त्वग्वान् + ईयसुन् → त्वचीयस् → त्वचीयान् ।

५६१. ईषदिति—कुछ अपूर्ण (ईषदसमाप्ति-विशिष्ट)—अर्थ में विद्यमान न्त और तिङन्त शब्दों से कल्पप्, देश्य और देशीयर् प्रत्यय होते हैं ।

---

1. अस्मायामेधास्रजो विनि. ५।२।१२१

५६२ । विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु ।५।३।६८ ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे सुबन्ताद्‌बहुज्वा स्यात्स च प्रागेव न तु परतः ईषदूनः पटुर्बहुपटुः । पटुकल्पः । सुपः किम् ? यजतिकल्पम् ।

५६३ । प्रागिवात्कः ।५।३।७०। इवे प्रतिकृताविश्यतः प्राक्काधिकारः

(इनमें क्रमशः कल्प, देश्य और देशीय शेष रहता है) ईषद् असमाप्ति शब्द का अर्थ है थोड़ी सी अपूर्णता, कुछ कमी ।

विद्वत्कल्पः—ईषदूनः विद्वान्, (कुछ कम विद्वान्, विद्वान् सा)—विद्वस् + कल्पप् → स् को द्[1] तथा त्[1] होकर विद्वत्कल्प. । इसी प्रकार विद्वस् + देश्य विद्वद्देश्यः । विद्वस् + देशीयर् → विद्वद्देशीयः ।

पचतिकल्पम्—ईषद् पचति (कुछ कम पकाता है, पकाता सा है तिङन्त पचति शब्द से कल्पप् प्रत्यय होकर रूप बनता है ।

५६२. विभाषेति—ईषदसमाप्ति विशिष्ट अर्थ में विद्यमान सुबन्त शब्द से बहुच् प्रत्यय विकल्प से होता है और वह शब्द से पहले होता है परे नहीं (बहुच् में बहु शेष रहता है) ।

बहुपटुः—ईषदूनः पटुः (कुछ कम चतुर, चतुर सा)—बहुच् + पटु → + पटु → बहुपटुः । पक्ष में कल्पप् आदि होकर पटुकल्पः आदि ।

सुपःकिम्—सूत्र में सुपः क्यों कहा ? इसलिये कि बहुच् प्रत्यय सुबन्त से ही होता है तिङन्त से नहीं, इसी से 'यजति', से बहुच् प्रत्यय नहीं होता क्योंकि यह तिङन्त है । कल्पप् आदि प्रत्यय होकर यजतिकल्पम्' आदि रूप होते हैं ।

५६३. प्रागिति—इवे प्रतिकृतौ ५।३।९६। इस (सूत्र) से पहले तक 'क' का अधिकार है ।

५६४ । अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ५।३।७१। कापवादः स्चेत्यनुवर्तते ।

५६५ । अज्ञाते ५।३।७३। कस्यायमश्वोऽश्वकः । उच्चकैः । कैः । सर्वके । ※ (वा) ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः कच् ॥ अन्यत्र सुबन्तस्य । युष्मकाभिः । युवकयोः । त्वयका ।

---

५६४. अव्ययेति—अव्यय और सर्वनाम से अकच् प्रत्यय होता है। गवीय अर्थों में और वह टि से पूर्व होता है। (अकच् में अक् शेष रहता ।

यह क प्रत्यय का अपवाद है। यहाँ 'तिङश्च' की अनुवृत्ति आती है अर्थात् तिङन्त से भी होता है।

५६५. अज्ञाते इति—अज्ञात अर्थ में यथोक्त क तथा अकच् प्रत्यय े हैं।

टिप्पणी—'अज्ञाते' आदि सूत्रों में केवल अर्थ निर्देश किया गया है। इसके थ पिछले दो सूत्रों की एकवाक्यता होकर पूर्ण अर्थ होता है। अत: भाव यह —अज्ञात अर्थ में अव्यय, सर्वनाम तथा तिङन्त की टि से पूर्व अकच् प्रत्यय ता है तथा शेष सुबन्तों से 'क' प्रत्यय।

. अश्वकः—अज्ञातोऽश्वः अर्थात् कस्यायमश्वः इति न ज्ञातः (अज्ञात घोड़ा र्थात् यह किसका घोड़ा है इसका पता नहीं)—इस अर्थ में अश्व शब्द से क त्यय होकर अश्व+क→अश्वकः।

उच्चकैः—अज्ञातम् उच्चैः (अज्ञात ऊँचा)—इस विग्रह में उच्चैस् शब्द अव्यय होने के कारण टि (ऐस्) से पूर्व अकच् प्रत्यय होता है। उच्च्+ अक्+ऐस्→उच्चकैः। इसी प्रकार अज्ञातं नीचैः (अज्ञात नीचा) नीच्+अकच् स्→नीचकैः।

सर्वके—अज्ञाताः सर्वे (अज्ञात सब)—सर्वनाम 'सर्वे' शब्द से टि (अ) से र्व अकच् प्रत्यय होकर सर्व्+अक्+ए→सर्वके रूप होता है।

ओकारेति—जिस सुप् (विभक्ति प्रत्यय) के आदि में ओ, स या भ हो, उसके परे होने पर सर्वनाम की टि से पूर्व अकच् होता है, अन्यत्र सुबन्त की टि पहले।

५६६ । कुत्सिते ५।३।७४। कुत्सितोऽश्वोऽश्वक

५६७ । कियत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य ड
अनयोः कतरो वैष्णवः । यतरः । ततरः ।

युष्मकाभिः—अज्ञातैः युष्माभिः (तुम अज्ञातों ने)—इस
सर्वनाम से भकारादि (भिस्) प्रत्यय परे है इसलिये युष्मद् की
पहले अकच् हो जाता है । युष्म्+अक्+अद्+भिस्→युष्म
को आ[1] तथा सवर्ण दीर्घ होकर युष्मकाभिः ।

टिप्पणी—यदि युष्माभिः (सुबन्त) में टि (इस्) से पूर्व अ
अनिष्ट रूप होने लगता ।

युवकयोः—अज्ञातयोः युवयोः (अज्ञात तुम दोनों का)—
ओकारादि (ओस्) प्रत्यय परे होने पर सर्वनाम की टि से पूर्व अ
युव्+अक्+अद्+ओस्→युवकद्+ओस्→द=य्[2]→युवकयो

त्वयका—अज्ञातेन त्वया (अज्ञात तूने)—यहाँ ओकार,
भकारादि प्रत्यय परे नहीं अतएव सुबन्त त्वया की टि (आ) से पूर्व
है; त्वय्+अक्+आ→त्वयका ।

५६६. कुत्सित इति—कुत्सा—विशिष्ट अर्थ में विद्यमान शब्द
(क तथा अकच्) प्रत्यय होते हैं ।

अश्वकः—कुत्सितोऽश्वः (निन्दित घोड़ा)—अश्व+क→अश्व

५६७. कियत्तदोरिति—दो में से एक का निर्धारण करने में
और तद् से डतरच् प्रत्यय होता है । डतरच् में अतर शेष रहता है ।

कतरः—अनयोः कः वैष्णवः ? (इन दोनों में कौन वैष्णव है
शब्द से डतरच् प्रत्यय होकर किम्+अतर→इम् (टि) का लो
+अतर→कतरः । इसी प्रकार अनयोः यः (इन दोनों में से जो) अ

५६८। वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ५।३।६३। बहूनां
कस्य निर्धारणे डतमज्वा स्यात्। जातिपरिप्रश्न इति प्रत्याख्यात-
। कतमो भवतां कठः। यतमः। ततमः। वाग्रहणमकजर्थम्।
सकः।

इति प्रागिवीयाः ॥१५॥

नयोः सः (इन दोनो में से वह) तद्+डतरच्→ततर'।

८. वा बहूनामिति—बहुतों मे से एक का निर्धारण करने में किम्, तद् से डतमच् प्रत्यय होता है। डतमच् का अतम शेष रहता है।

रीति—'जातिपरिप्रश्ने' इस शब्द का शाकर (भाष्य) में प्रत्याख्यान किया गया है अर्थात् सूत्र मे इस पद की कोई आवश्यकता नहीं।

ण:—कः भवतां कठः? (कौन आप में कठ शाखा का है?)—तमच्→कतम'। इसी प्रकार यो भवत'म्, यतमः। स भवताम्,

हणमिति—सूत्र में 'वा' का ग्रहण अकच् के लिये किया गया है; कल्प से अकच् प्रत्यय होता है।

—यः भवताम् (आप मे से जो) सकारादि (यद्+सु) प्रत्यय परे होने सर्वनाम की टि (अद्) से पूर्व अकच् प्रत्यय होता है। य्+अक्+ -यकद्+सु→द को 'अ' तथा पहले अ को पररूप होकर यक+
।

—स भवताम् (आप में से वह) तद्+सु→तकद्+सु→तक+ स' होकर→सक+स्→सकः। इति प्रागिवीयाः ॥१५॥

ः स सावनन्त्ययोः ७।२।१०६।

अथ स्वार्थिकाः ॥१६॥

५६९ । इवे प्रतिकृतौ ५।३।९६। कन् स्यात्।
प्रतिकृतिः अश्वकः । ॐ(वा) सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन् ।
५७० । तत्प्रकृतवचने मयट् ५।४।२१। प्राचुर्येण प्रस्तु
तस्य वचनं प्रतिपादनम् । भावे अधिकरणे वा ल्युट् । आद्ये प्र

अथ स्वार्थिकाः—अब स्वार्थिक प्रत्यय प्रारम्भ होते हैं ।

५६९. इव इति—सदृश इवार्थ) अर्थ में विद्यमान (अर्थात्
वाची) प्रातिपदिक से कन् प्रत्यय होता है । यदि प्रतिकृति (मूर्ति आदि
होता है ।

यहाँ उपमानवाची शब्द से प्रत्यय होता है और प्रत्ययान्त शब्द उ
लिये आता है किन्तु वह उपमेय मिट्टी, काष्ठ आदि से निर्मित प्रति
चाहिये ।

अश्वकः—अश्व इव प्रतिकृतिः (अश्व के समान मूर्ति)—अश्व+
अश्वकः ।

सर्वेति (वा)—सब प्रातिपदिकों से स्वार्थ में कन् प्रत्यय होता है ।

अश्वकः—अश्व एव (घोड़ा ही) अश्व+कन्→अश्वकः स्वार्थ में
होने पर अर्थ में कोई अन्तर नहीं होता । अश्वः और अश्वकः का
अर्थ है ।

५७०. तत्प्रकृतवचन इति—प्रथमान्त शब्द से प्रचुरता-बोधन में
प्रत्यय होता है ।

प्राचुर्येणेति—सूत्र में 'प्रकृत' का अर्थ है—प्रचुरता से प्रस्तुत
गया । उसका वचन—कथन या बोध कराना । वचन शब्द (वच्+
भाव में या अधिकरण में ल्युट् प्रत्यय होकर बना है । जब वचन को भाव
मानते हैं तो मयट् प्रत्ययान्त शब्द उसी वस्तु की अधिकता को प्रकट करता
वाचक शब्द से मयट् होता है । जब इसे अधिकरणवाची मानते

अन्नमयम्। अपूपमयम्। द्वितीये तु-अन्नमयो यज्ञः, अपूपमयं पर्व।

५७१। प्रज्ञादिभ्यश्च ५।४।३८॥ अण् स्यात्। प्रज्ञ एव प्राज्ञः। प्राज्ञी स्त्री। दैवतः। बान्धवः।

५७२। बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् ५।४।४२॥

तो जिसमे किसी वस्तु की अधिकता है उसे प्रकट करता है। जैसे—पहले अर्थ में (भाव ल्युट् मानने पर)—

अन्नमयम्—प्रकृतमन्नम् (अन्न की अधिकता)—अन्न+मयट्→अन्नमयम्। इसी प्रकार प्रकृतोऽपूपः—(पूड़ों की अधिकता) अपूप+मयट्→अपूपमयम्।

दूसरे अर्थ मे (अधिकरण ल्युट् मानने पर)—

अन्नमयो यज्ञः—प्रकृतमन्नं यस्मिन् (जिसमे अन्न की प्रचुरता हो ऐसा यज्ञ)—अन्न+मयट्→अन्नमयः, यह यज्ञ का विशेषण है। इसी प्रकार प्रकृताः अपूपाः यस्मिन् (जिसमें पूड़ों की प्रचुरता है ऐसा त्योहार) अपूपमयं पर्व।

५७१. प्रज्ञेति—प्रज्ञ आदि शब्दो से स्वार्थ मे अण् प्रत्यय होता है।

प्राज्ञः—प्रज्ञ एव (पण्डित)—प्रज्ञ+अण्→आदिवृद्धि अ को आ प्राज्ञः। प्राज्ञ+ङीप् (ई)→अकार लोप प्राज्+ई→प्राज्ञी स्त्री। अण् प्रत्ययान्त से स्त्रीलिङ्ग मे ङीप् प्रत्यय होता है।[1]

दैवतः—देवता एव (देव)—देवता+अण्—आदिवृद्धि ए को ऐ तथा अन्त्य अकार का लोप दैवतः।

बान्धवः—बन्धुरेव (बन्धु ही बान्धव है)—बन्धु+अण्→आदिवृद्धि अ को आ तथा उ को गुण[2] ओ होकर ओ को अव् हो जाता है—बान्धवः।

५७२. बह्वल्पार्थादिति—जिनका अर्थ बहु या अल्प है। ऐसे कारक शब्दों से स्वार्थ में शस् प्रत्यय होता है, विकल्प से।

---

१. टिड्ढाणञ्० ४।१।१५। २. ओर्गुणः ६।४।१४६।

बहूनि ददाति बहुशः । अल्पशः । ॐ (वा) आद्यादिभ्य
ख्यानम् ॥ आदौ आदितः । मध्यतः । अन्ततः पृष्ठतः
आकृतिगणोऽयम् । स्वरेण, स्वरतः । वर्णतः ।

५७३ । कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः ५।४।५

ॐ(वा) अभूततद्भाव इति वक्तव्यम् ॥ विकारात्मतां प्राप्नुव

बहुशः—बहूनि ददाति (बहुत देता है)—यहाँ 'बहु' शब्द बहुत्व
कर्म कारक है इससे शस् प्रत्यय होकर बहु+शस्→बहुशः । [illegible]
अल्पानि ददाति, अल्प+शस्→अल्पशः ।

आद्यादिभ्य इति (वा)—'आदि' प्रभृति शब्दों से तसि प्रत्यय
आदि से । यह तसि सब विभक्तियों के अर्थ में होता है । (सार्वविभक्ति

आदितः—आदौ (आदि में)—आदि+तस्→आदितः । इसी
मध्यतः आदि ।

आकृतीति—यह (आद्यादि) आकृति गण है, अतः स्वरेण इत्यादि
से इस वार्तिक से तसि प्रत्यय होता है ।

स्वरतः—स्वरेण (स्वर से)—तृतीयार्थ में तसि हुआ । इसी
वर्णेन-वर्णतः ।

टिप्पणी—शस् प्रत्यय और तसि प्रत्ययान्त शब्द अव्यय हैं
(स्वरादिनिपातमव्ययम् १।१।३७) 'आद्यादि' का स्वरादि में पाठ है ।

५७३. कृभ्वस्तियोगे इति—'[illegible] कर के) [illegible] होने वाली
(कारण) के अर्थ में विद्यमान विकारवाची (कार्यवाचक) शब्द से स्वार्थ में
प्रत्यय होता है जिसका के कृ, भू और अस् धातु के साथ से ।

अभूतेति (वा)—अभूत (जो वैसा नहीं)—इसके तद्भाव (वैसा हुआ
[illegible] है, यह बहुधा न होता ।

वर्तमानादिकारशब्दात् स्वार्थे च्विर्वा स्यात् करोत्यादिभिर्योगे।

५७४। अस्य च्वौ ७।४।३२। अवर्णस्य ईत्स्यात् च्वौ। वेर्लोपः। च्व्यन्तत्वादव्ययत्वम्। अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते तं करोति कृष्णीकरोति। ब्रह्मीभवति। गङ्गीस्यात्। ※ (वा) अव्ययस्य च्वावीत्वं

इस वार्तिक को मिलाकर ही ऊपर अर्थ किया गया है, भाव यह है कि जो जैसा नहीं है उसके वैसा होने के अर्थ में होने वाले के वाचक शब्द (सम्पद्यकर्तरि) से कृ, भू अस्ति के योग में च्वि प्रत्यय होता है।

५७४. अस्येति—अवर्ण को ई हो जाता है च्वि प्रत्यय परे होने पर।

वेर्लोप इति—च्वि प्रत्यय में चकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है, इ उच्चारण के लिये है व् का लोप (वेरपृक्तस्य ६।१।६७) से होता है, इस प्रकार समस्त प्रत्यय का लोप (जिसे वैयाकरण सर्वापहार कहते हैं) हो जाता है।

च्व्यन्तादिति—च्वि प्रत्यय अन्त में होने से अव्यय संज्ञा होती है। स्वरादिनिपातमव्ययम् से च्वि प्रत्ययान्त अव्यय संज्ञक हैं।

कृष्णीकरोति—अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते तं करोति (जो काला नहीं वह काला होता है, उसे करता है)—कृष्ण शब्द से अभूततद्भाव में कृ धातु के योग में च्वि प्रत्यय होता है। कृष्ण+च्वि+करोति→च्वि का सर्वापहार अ को ई कृष्णीकरोति।

ब्रह्मीभवति—अब्रह्म ब्रह्म भवति (जो ब्रह्म नहीं वह ब्रह्म होता है)—ब्रह्मन्+च्वि+भवति→च्विलोप, न्[1] लोप, अ को ई ब्रह्मीभवति।

गङ्गीस्यात्—अगङ्गा गङ्गा स्यात् (जो गङ्गा नहीं वह गङ्गा हो जाये)—गङ्गा+च्वि+स्यात्→च्वि लोप आ को ई होकर गङ्गीस्यात्।

अव्ययस्येति—(वा) च्वि प्रत्यय परे होने पर अव्यय के अवर्ण को ई नहीं होता, यह कहना चाहिये।

१. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७।

नेति वाच्यम् ॥ दोषाभूतमहः दिवाभूता रात्रिः ।

५७५ । विभाषा साति कार्त्स्न्ये ५।४।५२। च्विविष
स्यात्साकल्ये ।

५७६ । सात्पदाद्योः ८।३।१११। पदाद्योः सस्य षत्वं न
कृत्स्नं शस्त्रमग्निः सम्पद्यतेऽग्निसाद्भवति । दधि सिञ्चति ।

५७७ । च्वौ च ७।४।२६। च्वौ च परे पूर्वस्य दीर्घ

दोषाभूतमहः—अदोषः दोषा अभूत (जो रात नहीं था वह
गया, ऐसा दिन जो अन्धकार के कारण रात सा हो गया)—दोषा+
भूतम् दोषाभूतम् । 'दोषा' अव्यय शब्द है अतः आ को ई नहीं होता
प्रकार अदिवा दिवा अभूत (जो दिन नहीं थी दिन हो गई, दिन जैसी
रात) दिवाभूता रात्रिः ।

५७५. विभाषेति—च्वि प्रत्यय के विषय में विकल्प से साति प्रत्य
है, सांकल्य (सम्पूर्णता) अर्थ में ।

५७६. सादिति—सात् प्रत्यय के स् तथा पद के आदिम के स् को षु
होता ।

अग्निसाद् भवति—कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यते [सम्पूर्ण शस्त्र (अस्
अग्नि हो रहा है]—अग्नि+साति+भवति+सकार को षत्व[1] प्राप्त
पर्युक्त सूत्र ने उसका निषेध कर दिया । अग्निसाद्भवति । (सात् प्रत्य
व्यय होते हैं[2]) ।

टिप्पणी—

अग्नीभवति।

५७८। अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्

५।४।५७। द्व्यजेवावरं द्व्यजवरं न्यूनं न तु ततो न्यूनमनेकाजिति यावत्। तादृशमर्द्धं यस्य तस्माड्डाच् स्यात् कृभ्वस्तिभिर्योगे। ❀ (वा) डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्॥ इति डाचि विवक्षिते द्वित्वम्। ❀ (वा) नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्॥ डाच् परं यदाम्रेडितं तस्मिन्परे पूर्वपरयोर्वर्णयोः पररूपं स्यात्। इति तकारपकारयोः पकारः।

जाता है।

अग्नीभवति—अनग्निः अग्निः भवति (जो अग्नि नहीं वह अग्नि हो जाता है)—अग्नि + च्वि + भवति → च्वि प्रत्यय का लोप तथा पूर्व 'इ' को दीर्घ (ई) होकर अग्नीभवति।

५७८. अव्यक्तेति—जिसका अर्धभाग अनेक स्वर वाला (अनेकाच्) हो तथा जिससे परे इति शब्द न हो ऐसे अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण शब्द से कृ, भू और अस्ति के योग में डाच् प्रत्यय होता है। डाच् में आ शेष रहता है।

(सूत्रस्थ शब्दों की व्याख्या)—ऐसी ध्वनि जिसमें अकारादि वर्ण नहीं प्रकट होते अव्यक्त ध्वनि कहलाती है। जैसे हाथ से किवाड़ आदि पीटने का शब्द। द्व्यजवरार्ध का अर्थ है, द्व्यच् (दो स्वर वाला शब्द) ही है न्यून उससे कम नहीं अर्थात् अनेकाच् (अनेक स्वर वाला)। ऐसा (अनेकाच्) शब्द है आधा जिसका, उससे डाच् होता है कृ, भू, अस्ति धातु के योग में।

डाचीति—(वा)—डाच् प्रत्यय की विवक्षा में बाहुल्येन द्वित्व होता है।

नित्यमिति (वा)—डाच् प्रत्यय है परे जिससे उस आम्रेडित के परे होने पर पूर्व और पर वर्ण को पररूप (एकादेश) हो जाता है।

इसमें पटत् + पटत् + डाच्, यहाँ त् + प् = प होता है।

पटपटाकरोति—पटत् करोति (पटत् ऐसा अव्यक्त शब्द करता है)—

पटपटाकरोति । अव्यक्तानुकरणात्किम् ? ईषत्करोति । द्व्य…
त्किम् ? श्रत्करोति । अवरेति किम् ? खरटखरटाकरोति । अनि…
पटितिकरोति । इति स्वार्थिकाः ॥१६॥

इति तद्धितप्रकरणम् ।

डाच् प्रत्यय करने की इच्छा होते ही पटत् का द्वित्व होकर 'पटत् पट…
यह अवस्था हो जाती है । यहाँ आधा भाग पटत् दो स्वर वाला …
अतः ऊपर के सूत्र से डाच् प्रत्यय होता है । पटत् पटत्+डाच् क…
दशा में अगले 'पटत्' की आम्रेडित[1] संज्ञा होकर पूर्वतकार और अगले…
को पररूप अर्थात् पकार हो जाता है तथा अगले पटत् के अत् (टि) …
होकर पटपट्+आ+करोति→पटपटाकरोति ।

अव्यक्तानुकरणादिति—अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण में डाच् होत…
क्यों कहा ? इसलिए कि ईषत्करोति में डाच् प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि…
अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण नहीं ।

द्व्यजवरार्धादिति—द्व्यच् ही न्यून हो ऐसा क्यों कहा ? इसलि…
श्रत्करोति में डाच् नहीं होता, श्रत् में द्वित्व होने पर अर्धभाग एक+अच…

अवरेति—अवर (न्यून) शब्द क्यों दिया गया ? इसलिए कि खरट…
करोति में भी डाच् होता है । यहाँ अर्ध भाग 'खरटत्' दो अच् वाल…
अनेक अच् वाला है । 'अवर' शब्द के ग्रहण से यह अर्थ होता है कि…
भाग कम से कम (अवर) दो अच् वाला हो अधिक अच् वाला हो तो कोई…
नहीं ।

अनितौ किमिति—इति परे रहने पर डाच् नहीं होता यह क्यों कहा…
इसलिये कि पटत् इति करोति→पटितिकरोति यहाँ डाच् नहीं होता है ।

इति स्वार्थिकाः ॥१६॥

॥ इति तद्धितप्रकरणम् ॥

---

१. तस्य परमाम्रेडितम् ८ १.२। जहाँ शब्द को द्वित्व होता है वहाँ … शब्द को आम्रेडित संज्ञा होती है ।

अथ स्त्रीप्रत्ययाः

५७९ । स्त्रियाम् ४।१।३॥

अधिकारोऽयम् समर्थानामिति यावत् ।

५८० । अजाद्यतष्टाप् ४।१।४॥

अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत् स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये टाप् स्यात् । अजा । एडका । अश्वा । चटका । मूषिका । बाला । वत्सा ।

अथ स्त्रीप्रत्ययाः-अब स्त्रीत्वबोधक प्रत्ययों का निरूपण किया जाता है ।

५७९. स्त्रियाम् इति—'स्त्रीयाम्' यह अधिकार 'समर्थानां प्रथमाद् वा' ४।१।८२ तक है । 'ङ्याप् प्रातिपदिकात्' ४।१।१ से प्रातिपदिकात् शब्द की अनुवृत्ति होती है । अतः सूत्र का अर्थ है—प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग मे आगे के प्रत्यय होते हैं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि 'स्त्रियाम्' यह अधिकार सूत्र है । 'समर्थानां प्रथमाद् वा' ४।१।८२ से पूर्व प्रत्येक सूत्र में यह पद उपस्थित होता है अर्थात् तक के सूत्रों से स्त्रीत्वबोधक प्रत्यय होते हैं ।

५८० अजाद्यत इति—'अज' आदि तथा अकारान्त शब्दों का वाच्य जो स्त्रीत्व' उसको प्रकट करने के लिये इन प्रातिपादिकों से टाप् प्रत्यय होता है । टाप् में 'आ' शेष रहता है । टकार तथा पकार का लोप हो जाता है]

टिप्पणी—'लिङ्ग' किसका अर्थ है ? इस विषय में दो मत हैं–प्रथम मत है कि लिङ्ग प्रातिपादिक का ही अर्थ है । 'टाप्'आदि प्रत्यय केवल उसके द्योतक हैं । इसी मत के अनुसार प्रस्तुत सूत्र का अर्थ किया गया है । द्वितीय पक्ष के अनुसार टाप् आदि प्रत्यय स्त्रीत्व आदि लिङ्ग के वाचक होते हैं । द्वितीय पक्ष में अनेक दोषों की उद्भावना करके व्याख्याकारों ने प्रथम मत का ही समर्थन किया है ।

अजा (बकरी)–'अज' शब्द अजादिगण का प्रथम शब्द है, इससे अजाद्यतष्टाप् से स्त्रीत्व द्योतक टाप् प्रत्यय होकर अज+आ इस अवस्था में सवर्णदीर्घ (अ+आ=आ) होकर 'अजा' शब्द बनता है । अजा से प्रथमा विभक्ति का एकवचन 'सु' होकर उसका लोप ⊛ हो जाता है—अजा ।

⊛ 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' ६।१।६८

पटपटाकरोति । अव्यक्तानुकरणात्किम् ? ईषत्करोति । द्वयजव
त्किम् ? श्रत्करोति । अवरेति किम् ? खरटखरटाकरोति । अनितौ ि
पटितिकरोति । इति स्वार्थिकाः ॥१६॥

इति तद्धितप्रकरणम् ।

डाच् प्रत्यय करने की इच्छा होते ही पटत् का द्वित्व होकर 'पटत् पटत्' यह अवस्था हो जाती है। यहाँ आधा भाग पटत् दो स्वर वाला (द्व अतः ऊपर के सूत्र से डाच् प्रत्यय होता है। पटत् पटत्+डाच् करोति दशा में अगले 'पटत्' की 'आम्रेडित' संज्ञा होकर पूर्वतकार और अगले को पररूप अर्थात् पकार हो जाता है तथा अगले पटत् के अत् (टि) का होकर पटपट्+आ+करोति->पटपटाकरोति ।

अव्यक्तानुकरणादिति—अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण से डाच् होता कहा ? इसलिए कि ईषत्करोति में डाच् प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि ध्वनि का अनुकरण नहीं ।

द्वयजवरार्धादिति—द्व्यच् ही न्यून हो ऐसा क्यों कहा ? इसलि एकाच् से डाच् नहीं होता, अत् में द्वित्व होने पर अर्धभाग श्रत्+श्रत्

अवरेति—अवर (न्यून) शब्द क्यों दिया गया ? इसलिए कि खरट करोति में भी डाच् होता है। यहाँ अर्ध भाग खरटत् दो से अधिक वा अनेक अच् वाला है। 'अवर' शब्द के ग्रहण से यह अर्थ होता है कि भाग कम से कम (अवर) दो अच् वाला हो अधिक अच् वाला हो तो को नहीं ।

अनितौ किमिति—इति परे रहने पर डाच् नहीं होता यह क्यों क

अथ स्त्रीप्रत्ययाः

५७९ । स्त्रियाम् ४।१।३॥

अधिकारोऽयम् समर्थानामिति यावत् ।

५८० । अजाद्यतष्टाप् ४।१।४॥

अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत् स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये टाप् स्यात् । अजा । एडका । अश्वा । चटका । मूषिका । बाला । वत्सा ।

अथ स्त्रीप्रत्ययाः-अब स्त्रीत्वबोधक प्रत्ययों का निरूपण किया जाता है ।

५७९. स्त्रियाम् इति—'स्त्रीयाम्' यह अधिकार 'समर्थानां प्रथमाद् वा' ४।१।८२ तक है । 'ङ्याप् प्रातिपदिकात्' ४।१।१ से प्रातिपदिकात् शब्द की अनुवृत्ति होती है । अतः सूत्र का अर्थ है—प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में आगे के प्रत्यय होते हैं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि 'स्त्रियाम्' यह अधिकार सूत्र है । 'समर्थानां प्रथमाद् वा' ४।१।८२ से पूर्व प्रत्येक सूत्र मे यह पद उपस्थित होता है अर्थात् तक के सूत्रों से स्त्रीत्वबोधक प्रत्यय होते हैं ।

५८० अजाद्यत इति—'अज' आदि तथा अकारान्त शब्दों का वाच्य जो स्त्रीत्व' उसको प्रकट करने के लिये इन प्रातिपादिकों से टाप् प्रत्यय होता है । टाप् में 'आ' शेष रहता है । टकार तथा पकार का लोप हो जाता है]

टिप्पणी—'लिङ्ग' किसका अर्थ है ? इस विषय में दो मत हैं–प्रथम मत है कि लिङ्ग प्रातिपादिक का ही अर्थ है । 'टाप्'आदि प्रत्यय केवल उसके द्योतक हैं । इसी मत के अनुसार प्रस्तुत सूत्र का अर्थ किया गया है । द्वितीय पक्ष के अनुसार टाप् आदि प्रत्यय स्त्रीत्व आदि लिङ्ग के वाचक होते हैं । द्वितीय पक्ष में अनेक दोषों की उद्भावना करके व्याख्याकारों ने प्रथम मत का ही समर्थन किया है ।

अजा (बकरी)–'अज' शब्द अजादिगण का प्रथम शब्द है, इससे अजाद्यतष्टाप् से स्त्रीत्व द्योतक टाप् प्रत्यय होकर अज+आ इस अवस्था में सवर्णदीर्घ (अ+आ=आ) होकर 'अजा' शब्द बनता है । अजा से प्रथमा विभक्ति का एकवचन 'सु' होकर उसका लोप ❀ हो जाता है—अजा ।

❀ 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' ६।१।६८

पटपटाकरोति । अव्यक्तानुकरणात्किम् ? ईषत्करोति । द्वयज
किम् ? श्रत्करोति । अवरेति किम् ? खरटखरटाकरोति । अनितौ
पटितिकरोति । इति स्वार्थिकाः ॥१६॥

इति तद्धितप्रकरणम् ।

डाच् प्रत्यय करने की इच्छा होते ही पटत् का द्वित्व होकर 'पटत् पटत्
यह अवस्था हो जाती है । यहाँ आधा भाग पटत् दो स्वर वाला (
अतः ऊपर के सूत्र से डाच् प्रत्यय होता है । पटत् पटत्+डाच् करो
दशा में अगले 'पटत्' की आम्रेडित[1] संज्ञा होकर पूर्वतकार और अगले
को पररूप अर्थात् पकार हो जाता है तथा अगले पटत् के अन्त (टि) का
होकर पटपट्+आ+करोति→पटपटाकरोति ।

अव्यक्तानुकरणादिति—अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण से डाच् होता
क्यों कहा ? इसलिए कि ईषत्करोति में डाच् प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि
अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण नहीं ।

द्वयजवरार्धादिति—द्व्यच् ही न्यून हो ऐसा क्यों कहा ? इसलि
अत्करोति में डाच् नहीं होता, अत् में द्वित्व होने पर अर्धभाग एक+अच्

अवरेति—अवर (न्यून) शब्द क्यों दिया गया ? इसलिए कि खरट
करोति में भी डाच् होता है । यहाँ अर्ध भाग खरटत् दो अच् वाला
अनेक अच् वाला है । 'अवर' शब्द के ग्रहण से यह अर्थ होता है कि
भाग कम से कम (अवर) दो अच् वाला हो अधिक अच् वाला हो तो कोई
नहीं ।

अनितौ किमिति—इति परे रहने पर डाच् नहीं होता यह क्यों कहा
इसलिये कि पटत् इति करोति→पटितिकरोति यहाँ डाच् नहीं होता है ।

इति स्वार्थिकाः ॥१६॥

॥ इति तद्धितप्रकरणम् ॥

---

१. तस्य परम् आम्रेडितम् ८।१।२। यहाँ अन्त को द्वित्व होता है वहाँ
शब्द की आम्रेडित संज्ञा होती है ।

अथ स्त्रीप्रत्ययाः

५७६ । स्त्रियाम् ४।१।३॥

अधिकारोऽयम् समर्थानामिति यावत् ।

५८० । अजाद्यतष्टाप् ४।१।४॥

अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत् स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये टाप् स्यात् । अजा । एडका । अश्वा । चटका । मूषिका । बाला । वत्सा ।

अथ स्त्रीप्रत्ययाः-अब स्त्रीत्वबोधक प्रत्ययों का निरूपण किया जाता है।

५७६. स्त्रियाम् इति—'स्त्रीयाम्' यह अधिकार 'समर्थानां प्रथमाद् वा' ४।१।८२ तक है। 'ङ्याप् प्रातिपदिकात्' ४।१।१ से प्रातिपदिकात् शब्द की अनुवृत्ति होती है। अतः सूत्र का अर्थ है—प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में आगे के प्रत्यय होते हैं।

टिप्पणी—भाव यह है कि 'स्त्रियाम्' यह अधिकार सूत्र है। 'समर्थानां प्रथमाद् वा' ४।१।८२ से पूर्व प्रत्येक सूत्र में यह पद उपस्थित होता है अर्थात् तक के सूत्रों से स्त्रीत्वबोधक प्रत्यय होते हैं।

५८० अजाद्यत इति—'अज' आदि तथा अकारान्त शब्दों का वाच्य जो स्त्रीत्व' उसको प्रकट करने के लिये इन प्रातिपदिकों से टाप् प्रत्यय होता है। टाप् में 'आ' शेष रहता है। टकार तथा पकार का लोप हो जाता है]

टिप्पणी—'लिङ्ग' किसका अर्थ है ? इस विषय में दो मत हैं-प्रथम मत है कि लिङ्ग प्रातिपदिक का ही अर्थ है। 'टाप्'आदि प्रत्यय केवल उसके द्योतक हैं। इसी मत के अनुसार प्रस्तुत सूत्र का अर्थ किया गया है। द्वितीय पक्ष के अनुसार टाप् आदि प्रत्यय स्त्रीत्व आदि लिङ्ग के वाचक होते हैं। द्वितीय पक्ष में अनेक दोषों की उद्भावना करके व्याख्याकारों ने प्रथम मत का ही समर्थन किया है।

अजा (बकरी)-'अज' शब्द अजादिगण का प्रथम शब्द है, इससे अजाद्यतष्टाप् से स्त्रीत्व द्योतक टाप् प्रत्यय होकर अज+आ इस अवस्था में सवर्णदीर्घ (अ+आ=आ) होकर 'अजा' शब्द बनता है। अजा से प्रथमा विभक्ति का एकवचन 'सु' होकर उसका लोप * हो जाता है—अजा।

---

* 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' ६।१।६८

डोडा । मन्दा । विलाता इत्यादिः अजादिगणः । सर्वा ।

(५८२) । उगितश्च ४।१।६

उगिदन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् स्यात्

भवन्ती । पचन्ती । दीव्यन्ती ।

इसी प्रकार अजादि गण में पठित एडका (भेड़), चटका (च (चिड़िया), मूषिका (चुहिया) इन शब्दों से 'जातेरस्त्रीविषः ४।१।६३ सूत्र से ङीष्' प्रत्यय प्राप्त था, तथा बाला, वत्सा, हो विलाता ये शब्द प्रथम आयु (यौवन से पूर्वावस्था, के वाचक हैं, इ प्रथमे' ४।१।२० के अनुसार स्त्रीत्वबोधक ङीप् प्राप्त था । अज इनका पाठ होने के कारण ङीप् तथा ङीष् को बाधकर टाप् हो इनके अतिरिक्त अजादिगण में अन्य भी शब्द हैं ।

सर्वा—अकारान्त 'सर्व' शब्द से 'अजाद्यतष्टाप्' सूत्र के अ प्रत्यय होकर सर्व + आ→सवर्णदीर्घ सर्वा→सु तथा लोप सर्वा ।

५८२ उगितश्चेति—उगित् (उक् है इत्संज्ञक जिसका) प्रत्यय जिसके ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—(१) ङीप् प्रत्यय में ङकार और पकार की इत्संज्ञा हो जाता है केवल 'ई' शेष रहता है । (२) उक् प्रत्याहार है । जिस उ ऋ लृ वर्ण आते हैं । ये वर्ण जिस प्रत्यय में इत्संज्ञक होते हैं वह उगित् है ।

भवती (आप)—भा धातु से डवतु प्रत्यय होकर भवत् शब्द ब डवतु प्रत्यय में उकार की इत्संज्ञा है, अतः यह उगित् है तथा भवत् प्र प्रत्ययान्त है अतः इससे ङीप् होकर भवत्+ई→भवती' इससे 'सु' क लोप होकर भवती रूप बनता है ।

भवन्ती (होती हुई)—भू धातु से शतृ प्रत्यय, ऊकार को गुण (अवादेश होकर भवत् शब्द बनता है । यह उगिदन्त है, अतः उससे ङीप् भवत्+ई इस अवस्था में 'शप्श्यनोर्नित्यम्' ७।१।८१ से नुम् का आगम भव न् (नुम्) त्+ई→भवन्ती । सु का लोप ।

५८२ । टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः ४।१।१५॥

अनुपसर्जनं यट्टिदादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततः स्त्रियां ङी स्यात्। कुरुचरी। नदट्-नदी। देवट् देवी। सौपर्णेयी। ऐन्द्री

इसी प्रकार पचन्ती—पच् + शतृ → पचत् + ङीप् + पच् न् त् + ई।

दीव्यन्ती—दीव् + शतृ → दीव्यत् + ङीप् → दीव्य न् त् + ई।

५८२ टिड्ढेति—टित् (टकार है इत् जिसका ऐसा प्रत्यय) और ढ अण, अञ्, द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्, तयप्, ठक्, ठञ्, कञ्, क्वरप् प्रत्यय अन्त में जिसके ऐसे अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है यदि वह गौण (उपसर्जन) न हो।

कुरुचरी—(कुरु प्रदेश में विचरण करने वाली) कुरुषु चरति (स्त्री) इ अर्थ में कुरु (सुबन्त) उपपद होने पर चर् धातु से चरेष्ट' ३।२।१६। अनुसार 'ट' प्रत्यय होकर 'कुरुचर' शब्द बनता है। यह टिदन्त है। इस 'टिड्ढाण०' सूत्रानुसार ङीप् होकर कुरुचर + ई → 'यस्येति च' २।४।१४८। अकार का लोप होकर कुरुचरी रूप बनता है।

नदी देवी—नदट् और देवट् शब्द पचादि में पढ़े गये हैं। इनके टि होने से ङीप् प्रत्यय होकर नद + ई, देव + ई इस अवस्था में 'यस्येति च' अकार का लोप होकर नदी, देवी ये रूप बनते हैं।

सौपर्णेयी (सुपर्णी की पुत्री)—सुपर्णी शब्द से अपत्य अर्थ में स्त्रीभ्य ढक् से ढक् प्रत्यय होकर 'ढ्' को एय्[1] आदेश, सु के उकार को वृद्धि (आ वृद्धि) औकार, ईकार का लोप[2] होकर 'सौपर्णेय'—यह ढ प्रत्ययान्त शब्द बनता है। इससे ङीप् होकर सौपर्णेय + ई → अकार लोप सौपर्णेयी।

ऐन्द्री (इन्द्र है देवता जिसका या इन्द्र सम्बन्धिनी)—इन्द्रो देवताऽस्य (साऽस्य देवता) ४।२।२४। अथवा इन्द्रस्य इदम् (तस्येदम् ४।३।१२०) इस अ

१. आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ७।१।२।

२. यस्येति च ६।४।१४८।

औत्सी। ऊरुद्वयसी। ऊरुदघ्नी। ऊरुमात्री। पञ्चतयी। आ
लावणिकी। यादृशी। इत्वरी।

मे इन्द्र शब्द से अण् प्रत्यय होकर आदि वृद्धि, अकार लोप होकर 'ऐ
अण् प्रत्ययान्त शब्द बनता है। इससे ङीप् होकर ऐन्द्र+ई→ऐन्द्री।

औत्सी—उत्स सम्बन्धिनी (उत्स=जल-स्रोत या ऋषि विशे
'उत्सस्येदम्' इस अर्थ में उत्स शब्द से 'उत्सादिभ्योऽञ्' ४।१।८६ सूत्र से
प्रत्यय होकर आदि वृद्धि तथा अकार लोप होने पर अञ् प्रत्ययान्त औत्स
बनता है। उससे ङीप् होकर औत्सी।

ऊरुद्वयसी-ऊरुदघ्नी-ऊरुमात्री—(घुटने तक गहरी) ऊरु प्रमाण
(ऊरु है माप जिसकी) इस अर्थ में ऊरु शब्द से द्वयसच्, दघ्नच् और
प्रत्यय[1] होकर ऊरुद्वयस, ऊरुदघ्न, ऊरुमात्र शब्द बनते हैं। इनसे ङीप्
होकर अकार का लोप होने पर ऊरुद्वयसी आदि रूप बनते हैं।

पञ्चतयी—(पाँच अवयव वाली) पञ्च अवयवा अस्याः—इस अ
पञ्चन् शब्द से 'संख्याया अवयवे तयप्' ५।२।४२ से तयप् प्रत्यय
'पञ्चतय' शब्द बनता है। इससे ङीप् होकर पञ्चतयी।

आक्षिकी (पासों से खेलने वाली)—अक्षैर्दीव्यति इस विग्रह में
शब्द से 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' ४।४।२ से ठक् प्रत्यय
अक्ष+इक् आदि वृद्धि तथा अकार लोप होकर आक्षिक→स्त्रीत्व में
ङीप् होकर आक्षिक+ई→अकार लोप आक्षिकी रूप बनता है।

लावणिकी (नमक बेचने वाली)—लवणं पण्यम् अस्या—इस विग्र
लवण शब्द से ठञ् (लवणाट्ठञ्) होकर लावणिक शब्द बनता है।
स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होकर लावणिक+ई→अकार लोप लावणिकी।

यादृशी (जैसी)—'यत्' शब्द उपपद होने पर दृश् धातु से कञ् [त्यदा
दिषु दृशोऽनालोचने कञ् च ३.२।६०] प्रत्यय होकर 'आ सर्वनाम्नः' से यत् के त
(अन्त्य) को आकार होकर 'यादृश' शब्द बनता है, उससे ङीप् होकर या
+ई→अकार लोप यादृशी।

---

१. प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ५।२।३७।

५८३ । यञश्च ४।१।१६॥

यञन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात् अकारलोपे कृते—

५८४ । हलस्तद्धितस्य ६।४।१५०॥

हलः परस्य तद्धितयकारस्योपधाभूतस्य लोप ईति परे । गार्गी

५८५ । प्राचां ष्फ तद्धित. ४।१।१७॥

यञन्तात् ष्फो वा स्यात् , स च तद्धितः ।

---

५८३ यञश्चेति—यञ् है अन्त में जिसके ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीलि
में ङीप् प्रत्यय होता है ।

अकारेति—(गार्ग्य + ङीप् → गार्ग्य + ई इस अवस्था में 'यस्येति च'
अन्त्य अकार का लोप करने पर ।

५८४. हल इति—हल् से परे जो तद्धित का यकार उपधारूप में हो
है उसका लोप हो जाता है ईकार परे होने पर ।

टिप्पणी—अलोऽन्त्यात् पूर्वं उपधा १।१।६५ अर्थात् किसी शब्द के अन
वर्ण से पूर्व वर्ण की उपधा संज्ञा होती है, जैसे—'गार्ग्य' शब्द में अन्त्य व
अकार है उससे पूर्व वर्ण यकार की उपधा संज्ञा होती है ।

गार्गी (गर्ग गोत्र की स्त्री)—'गर्ग' शब्द से 'गर्गस्य अपत्य स्त्री' इस विग्र
में यञ् (गर्गादिभ्यो यञ्) प्रत्यय होकर आदि वृद्धि तथा अकार लोप होने प
'गार्ग्य' यह यञ् प्रत्ययान्त शब्द बनता है । इससे 'यञश्च' सूत्र से ङीप् प्रत्य
होकर गार्ग्य + ई → अकार लोप तथा 'हलस्तद्धितस्य' से यकार लोप होक
गार्गी ।

५८५. प्राचामिति—यञ् प्रत्ययान्त से विकल्प से स्त्रीलिङ्ग में ष्फ प्रत्यय
होता है और वह तद्धित संज्ञक होता है ।

टिप्पणी—(१) ष्फ प्रत्यय के षकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है
और फकार को आयन् आदेश हो जाता है । (२) 'ष्फ' की तद्धित संज्ञा के
प्रयोजन हैं—(अ) 'यस्येति च' से अकार लोप और (आ) तद्धितान्त होने से
प्रातिपदिक संज्ञा हो जाना ।

५८६। षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१॥
षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च स्त्रियां ङीष् स्यात्। गार्ग्यायणी। नर्तकी। गौरी।

ॐ आमनडुहः स्त्रियां वा॥
अनडुही, अनड्वाही। आकृतिगणोऽयम्।

---

५८६. षिद्गौरादिभ्यश्चेति—षित् (षकार है इत् जिसका) प्रातिपदिक ए तथा गौर आदि शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है।

टिप्पणी—ङीष् में भी 'ई' शेष रहता है। ङीप् तथा ङीष् दोनों में स्वर का अन्तर है।

गार्ग्यायणी—(गर्ग की सन्तान स्त्री)—यञन्त 'गार्ग्य' शब्द से ष्फ प्रत्यय (प्राग्दीव्यतो ष्फ तद्धित.) होकर गार्ग्य+आयन (फ)→गार्ग्यायण शब्द बनता है। यहाँ ष्फ में षकार की इत्संज्ञा होने के कारण यह षित् है। अतः 'षिद्गौरादि-भ्यश्च' से ङीष् प्रत्यय होकर गार्ग्यायण+ई→गार्ग्यायणी रूप बनता है।

नर्तकी—नृत् धातु से ष्वुन् (शिल्पिनि ष्वुन्) प्रत्यय होकर वु को अक आदेश होने पर नर्तक शब्द बनता है। षित् होने के कारण ङीष् प्रत्यय होकर नर्तक+ई→अन्त्य अकार का लोप नर्तकी।

गौरी—गौर आदि (गण) के प्रथम शब्द 'गौर' से 'षिद्गौरादिभ्य.' से ङीष् प्रत्यय होकर गौर+ई→अकार लोप गौरी।

आमिति (वा)—अनडुह् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में आम् का आगम होता है विकल्प से।

अनडुही-अनड्वाही (वा)—अनडुह् शब्द गौरादि गण में है। इससे स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होने पर प्रस्तुत वार्तिक के अनुसार विकल्प से आम् का आगम हो जाता है—अनडु+आ+ह्+ई→अनड्वाही। जब आम् का आगम नहीं होता तब अनडुह्+ई→अनडुही रूप बनता है।

आकृतिगण इति—यह गौरादिगण आकृतिगण है। गण में पठित शब्दों के अतिरिक्त इस प्रकार के अन्य शब्द भी इसके अन्तर्गत समझने चाहिये।

(५८७)। वयसि प्रथमे ४।१।२०॥

प्रथमवयोवाचिनोऽदन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात्। कु

५८८। द्विगोः ४।१।२१॥

अदन्ताद् द्विगोर्ङीप् स्यात्। त्रिलोकी। अजादि

त्रिफला। त्र्यनीका (सेना)।

---

५८७. वयसीति—प्रथम अवस्था के वाचक अकारान्त प्रातिपदि स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है।

कुमारी—प्रथम अवस्था के वाचक कुमार शब्द से ङीप् प्रत्यय कुमार+ई→अकार लोप (यस्येति च) कुमारी।

टिप्पणी—तीन अवस्थायें मानी जाती हैं—कौमार, यौवन और वृद्ध प्रथम वय: (अवस्था) का अभिप्राय है—यौवन से पूर्वावस्था 'वयसि प्र पाणिनीय सूत्र के अनुसार प्रथम अवस्था के वाचक शब्द से ही स्त्रीलि ङीप् प्रत्यय होता है, किन्तु वधूट आदि शब्द, जो यौवनावस्था के वा हैं उनसे भी ङीप् प्रत्यय देखा जाता है अर्थात् 'वधूटी' आदि प्रयोग उप होते हैं अतः वार्तिककार के अनुसार—'वयस्यचरम इति वाच्यम्' वृद्ध-अव को छोड़कर अन्य अवस्थावाचक शब्दों में ङीप् प्रत्यय होता है। इस वधूटी, चिरण्टी आदि शब्द बन जाते हैं।

५८८. द्विगोरिति—अकारान्त द्विगु (समास) से ङीप् प्रत्यय होता

त्रिलोकी—(तीन लोकों का समुदाय)—त्रयाणां लोकानां समाहारः इस विग्रह में द्विगु समास होकर 'त्रिलोक' रूप बनता है। "जिसका उत्तर अकारान्त होता है ऐसा द्विगु स्त्रीलिङ्ग में होना चाहिये" (अकारान्तोत्तरप द्विगुः स्त्रियामिष्टः) इसके अनुसार स्त्रीलिङ्ग होने पर 'द्विगोः' सूत्र से ङ प्रत्यय होकर त्रिलोक+ई→अकार लोप=त्रिलोकी।

त्रिफला—त्रयाणां फलानां समाहारः—इस विग्रह में 'त्रिफल' अकारान्त द्विगु बनता है। किन्तु यह अजादिगण के अन्तर्गत है। अ 'अजाद्यतष्टाप्' ४।१।४ से टाप् प्रत्यय होकर त्रिफला रूप बनता है।

५८९ । वर्णादनुदात्तात् तोपधात् तो नः ४।१।३९॥

वर्णवाची योऽनुदात्तान्तस्तोपधस्तदन्तादनुपसर्जनात् प्रातिपदिकाद् ङीप् तकारस्य नकारादेशश्च । एनी, एता । रोहिणी, रोहिता ।

५९० । वोतो गुणवचनात् ४।१।४४॥

उदन्तात् गुणवाचिनो वा ङीप स्यात् । मृद्वी, मृदुः ।

त्र्यनीका (सेना) त्रयाणाम् अनीकानां समाहारः—इस विग्रह मे द्विगु ास होकर 'त्र्यनीक' शब्द बनता है । यहां भी अजादिगण मे होने के कारण प् प्रत्यय होता है ।

५८९. वर्णादिति—वर्णवाची जो अनुदात्तान्त तथा तोपध (तकार है धा में जिसको) तदन्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से विकल्प से ङीप् प्रत्यय ता है और तकार को नकार हो जाता है ।

एनी-एता—(कबरी) 'एत' शब्द अनुदात्तान्त[1] है। इसकी उपधा में कार है। यह किसी के प्रति गौण भी नहीं है। (अनुपसर्जन है), अतः यहां र्णाद् इत्यादि सूत्र से विकल्प से ङीप् प्रत्यय तथा तकार को नकार ोकर 'एनी' रूप बन जाता है। पक्ष में अजाद्यतष्टाप् से टाप् प्रत्यय होकर ता' रूप बनता है।

रोहिणी-रोहिता—(लाल रङ्ग वाली), 'रोहित' शब्द से उपर्युक्त रीति से कल्प से ङीप् प्रत्यय होने पर तथा तकार को नकार होकर रोहिणी, पक्ष ' टाप् होकर रोहिता रूप बनता है।

५९०. वोत इति—उकारान्त गुणवाचक शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् त्यय होता है विकल्प से।

मृद्वी मृदुः (कोमला)—मृदु शब्द उकारान्त तथा गुणवाचक है। इससे ीप् प्रत्यय होने पर मृदु + ई→उकार को यण् (व्) मृद्वी। जब ङीप् त्यय नहीं होता तो मृदुः।

---

१. 'वर्णानां तणतिनितान्तानाम' इस फिट् सूत्र से 'एत' का ए (आदिवर्ण) उदात्त है और 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' के अनुसार शेष स्वर अनुदात्त हैं, अतः यह अनुदात्तान्त है।

५९१ । बह्वादिभ्यश्च ४।१।४५॥

एभ्यो वा ङीष् स्यात्। बह्वी, बहुः।

ꣲ (ग) कृदिकारादक्तिनः। रात्री, रात्रिः।

ꣲ (ग) सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके। शकटी, शकटिः।

५९२। पुंयोगादाख्यायाम् ४।१।४८॥

५९१. बह्वादिभ्य इति—बहु आदि शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प
प्रत्यय होता है।

बह्वी-बहुः (बहुत)—बहु शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय
'बहु + ई'→बह्वी। ङीष् प्रत्यय के अभाव में बहु रूप बनता है।

कृदिति (ग)—(यह बह्वादिगण का सूत्र है) कृत् प्रत्यय का जो
वह है अन्त में जिनके ऐसे प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय होता है कि
किन्तु क्तिन् प्रत्ययान्त से नहीं होता।

रात्री-रात्रिः—'रा' धातु से त्रिप् प्रत्यय (राशदिभ्यां त्रिप्-
होकर रात्रि शब्द बनता है। उपर्युक्त गण सूत्र के अनुसार रात्रि शब्द
होकर रात्रि + ई→इकार लोप (यस्येति च) रात्री। पक्ष में रात्रिः)।

सर्वत इति (ग)—(यह भी बह्वादि गण का सूत्र है) क्तिन्
अर्थ वाले प्रत्यय हैं अन्त में जिनके ऐसे शब्दों को छोड़कर सभी कृत्
भिन्न इकारान्त शब्दों से ङीष् होता है, ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं।

शकटी शकटिः—(गाड़ी) शकटि इकारान्त शब्द है। इससे ङीष्
होने पर शकटी, पक्ष में शकटि—ये दो शब्द बन होते हैं।

टिप्पणी—शकटि शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है, यह कृदन्त श
है अतः इसके अन्त में कृत् प्रत्यय का इकार नहीं है तथा 'कृदिकारा
(ग) से यहाँ ङीष् नहीं होता, किन्तु 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके' इससे
हो जाता है। सर्वतः—सबसे—कृत् या कृत भिन्न इकारान्त से।

५९२. पुंयोगादिति—जो पुरुषवाचक (पुंसः आख्या—पुरुषवा
की सञ्ज्ञा अर्थात् पुरुष के अर्थ में प्रसिद्ध) शब्द पुरुष के कारण

या पुमाख्या पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते ततो ङीष्। गोपस्य स्त्री गोपी।

* पालकान्तान्न।

५६३। प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ७।३।४४॥

प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्याकारस्येकारः स्यादापि, स आप् सुपः परो न चेत्। गोपालिका। अश्वपालिका। सर्विका। कारिका। अतः

स्त्री के लिये प्रयुक्त होता है। उससे ङीष् प्रत्यय हो जाता है।

गोपी (गोपाल की स्त्री)—'गाः पाति' (गायों का पालन करता है)—इति गोपः। तस्य स्त्री गोप+ङीष्→अकार का लोप (यस्येति च) गोपी।

टिप्पणी—यहाँ गोपालन के कारण 'गोप' शब्द पुरुष के लिये आया है। उस पुरुष के साथ पति-पत्नी भाव सम्बन्ध होने से स्त्री के लिये भी जब इस शब्द का व्यवहार होता है तो 'गोपी' शब्द बनता है, किन्तु कोई स्त्री यदि स्वयं गोपालन करती है, गोप की स्त्री नहीं है तो 'गोपा' शब्द बनता है।

पालकान्तादिति—पालक शब्द है अन्त में जिसके ऐसे शब्द से पुंयोग में ङीष् प्रत्यय नहीं होता।

५६३. प्रत्ययस्थादिति—प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्व के अकार को इकार हो जाता है आप् परे होने पर, यदि वह आप् सुप् से परे न हो।

गोपालिका (गोपाल की स्त्री)—यहाँ पुंयोग होने से ङीष् प्राप्त था, किन्तु पालकान्त होने से 'पालकान्तान्न' वार्तिक से ङीष् का निषेध हो जाता है और अकारान्त होने से टाप् प्रत्यय होकर पूर्व के अकार को इकार होने पर गोपालिका रूप बनता है। इसी प्रकार 'अश्वपालिका'।

सर्विका—'सर्व' शब्द से 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' ५।३।७१ से अकच् प्रत्यय होकर 'सर्वक' शब्द बनता है। उससे स्त्रीलिङ्ग में टाप् (अजाद्यतष्टाप्) प्रत्यय होकर सर्वक+आ→सर्वका इस अवस्था में प्रत्यय स्थित ककार से पूर्व के अकार को इकार होता है तथा सर्विका रूप बनता है।

कारिका—कृ धातु से 'ण्वुल्तृचौ' ३।१।१३३ से ण्वुल् प्रत्यय होता है। वु को अक, ऋकार की वृद्धि (आर्) होकर कारक शब्द बनता है। उससे

किम् ? नौका । प्रत्ययस्थात् किम् ? शक्नोतीति शका । असु
बहुपरिव्राजका नगरी ।

※ सूर्याद्देवतायां चाब्वाच्यः ॥

सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या । देवतायां किम् ?

स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय होकर, पूर्व के अकार को इकार होने पर
रूप बनता है ।

अतः किमिति—ककार से पूर्व के अकार को इकार होता है—
कहा गया है ? इसलिये कि 'नौका' में औकार को इकार नहीं हो
प्रत्यय के ककार से पूर्व औकार है अकार नहीं, नौ+क (स्वार्थि
(टाप्)→नौका ।

प्रत्ययस्थात् किमिति—प्रत्यय का ककार हो ऐसा क्यों कहा
इसलिये कि 'शका' में अकार को इकार नहीं होता । 'शक्' धातु से प
अच् प्रत्यय होकर शक उससे टाप् प्रत्यय होकर शंका शब्द बनता है
ककार प्रत्यय का नहीं अपितु धातु का है ।

असुपः किमिति—यदि आप् सुप् से परे न हो—ऐसा क्यों कहा ग
इसलिये कि 'बहुपरिव्राजका' यह अकार को इकार नहीं होता । प
व्रज् धातु से ण्वुल् प्रत्यय होकर परिव्राजक शब्द बनता है । फिर
परिव्राजकाः' यस्यां (सा नगरी)—इस विग्रह में समास होकर सुप्
होकर 'बहुपरिव्राजक' शब्द से टाप् प्रत्यय होकर 'बहुपरिव्राजका' पद
है । यहाँ आप् (सुप्) सुप् से परे है, अतः अकार को इकार नहीं होता ।

सूर्यादिति—(वा) पुंयोग से देवता रूप स्त्री के अर्थ में वर्तमा
शब्द से चाप् प्रत्यय कहना चाहिये ।

[यह 'पुंयोगादाख्यायाम्' से प्राप्त ङीप् का अपवाद है । चाप् में
रहता है । चकार और पकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है]

सूर्या—इसका अर्थ है—सूर्य की स्त्री देवता । यहाँ सूर्य शब्द पुंयो
देवता रूप स्त्री के लिये प्रयुक्त होता है । अतः सूर्य शब्द से चाप् प्रत्यय
सूर्य+आ→सूर्या ।

⊛सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च ॥
यलोपः । सूरी-कुन्ती, मानुषीयम् ।

५६४ । इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ४।१।४६॥ एषामानुगागमः स्यात् ङीष् च । इन्द्रस्य

देवतायां किमिति—देवता अर्थ में चाप् होता है—यह क्यों कहा गया है ? इसलिये कि यदि सूर्य की स्त्री देवता न हो तो ङीष् प्रत्यय ही होता है। जैसे सूर्यस्य स्त्री—सूरी (कुन्ती), यह मानुषी अर्थात् मनुष्य जाति की है। यहाँ सूर्य+ई (ङीष्) इस दशा में अकार का लोप होने पर—

सूर्यागस्त्ययोरिति (वा)—सूर्य और अगस्त्य शब्द के यकार का लोप होता है छ और ङी प्रत्यय परे होने पर।

यलोपः—इससे यकार का लोप होता है।

सूरी—(सूर्य की स्त्री मानुषी-सूरी-कुन्ती) पुंयोग से स्त्री अर्थ में वर्तमान 'सूर्य' शब्द से 'पुंयोगादाख्यायाम्' ४।१।४८ के अनुसार ङीष् प्रत्यय होकर सूर्य+ई→अकार लोप (यस्येति च) तथा ऊपर के वार्तिक से यकार का लोप होने पर सूरी।

५६४. इन्द्रेति—इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल और आचार्य—इन शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है और आनुक् का आगम भी।

टिप्पणी—(१) इस सूत्र में भी 'पुंयोगात्' की अनुवृत्ति आती है। इन्द्र आदि ६ शब्दों और मातुल तथा आचार्य शब्दों से 'पुंयोगात्' का सम्बन्ध होता है अन्यों से नहीं, क्योंकि सम्भव नहीं है। इस प्रकार इन्द्र आदि शब्दों से ङीष् 'पुंयोग' में सिद्ध ही है, आनुक् का विधान करने के लिये यहाँ इनका ग्रहण किया गया है। शेष 'हिम' आदि चार शब्दों से ङीष् तथा आनुक् दोनों का विधान किया गया है। (२) आनुक् में ककार की इत्संज्ञा होती है, उकार उच्चारण मात्र के लिये है अतः 'आन्' शेष रहता है जो कित्[1] होने से 'इन्द्र' आदि के अन्त में होता है।

---

१. आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६

स्त्री इन्द्राणी। वरुणानी। भवानी। शर्वाणी। रुद्राणी।

* हिमारण्ययोर्महत्त्वे ॥ महद् हिमं-हिमानी। अरण्यानी।

* यवाद्दोषे ॥ दुष्टो यवो यवानी।

* यवनाल्लिप्याम् ॥ यवनानां लिपिः— यवना

* मातुलोपाध्याययोरानुग्वा ॥ मातुलानी, मात् यानी, उपाध्यायी।

इन्द्राणी (इन्द्र की स्त्री)—इन्द्र शब्द से पुंयोग में ङीष् त आगम होकर इन्द्र + आन् + ई → इन्द्र न् + ई → नकार को ण इसी प्रकार वरुण की स्त्री 'वरुणानी'। भव, शर्व, रुद्र मृड नाम हैं—इनसे 'भवानी', 'शर्वाणी', 'रुद्राणी', 'मृडानी'।

हिमारण्ययोरिति (वा)—हिम और अरण्य शब्द से महत्त्व अर्थ में ङीष् और आनुक् होते हैं।

हिमानी (महद् हिमम् अधिक बर्फ)—हिम + आन् + ई (इ

अरण्यानी—(महद् अरण्यम् बड़ा वन)—अरण्य + आन् +

यवादिति—दोषयुक्त यव के अर्थ में वर्तमान 'यव' शब्द से तथा आनुक् होते हैं।

यवानी—(दोषयुक्त यव)—'दुष्टः यवः' इस अर्थ में यव श प्रत्यय तथा आनुक् का आगम होकर यव + आन् + ई → यवानी।

यवनादिति—यवन शब्द से लिपि अर्थ में ङीष् और आनु

यवनानी (यवनों की लिपि)—यवनानां लिपिः— इस अर्थ में से ङीष् प्रत्यय और आनुक् का आगम होकर यवन + आन् + ई → य

मातुलेति—मातुल और उपाध्याय शब्द से आनुक् विकल्प से

मातुलानी मातुली (मामी)—मातुलस्य स्त्री-मामा की स्त्री— में 'मातुल' शब्द से (पुंयोग में) ङीष् प्रत्यय होता है और विकल्प

* आचार्यादणत्वं च ॥ आचार्यस्य स्त्री-आचार्यानी।

* अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे ॥ अर्याणी, अर्या। क्षत्रियाणी, क्षत्रिया।

का आगम होता है→मातुल+आन्+ई→मातुलानी। आनुक् न होने पर मातुल+ङीष्→मातुल+ई→अकार लोप (यस्येति च) मातुली।

इसी प्रकार उपाध्याय की स्त्री—'उपाध्यायानी, उपाध्यायी'

टिप्पणी—जो स्वयं ही अध्यापिका होती है। उसके लिये तो 'उपाध्यायी' या उपाध्याया शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि वार्तिक है—'या तु स्वयमेवाध्यापिका तत्र वा ङीष् वाच्य.'।

आचार्येति—ङीष् प्रत्यय और आनुक् का आगम होने पर आचार्य शब्द से परे नकार का णकार (णत्व) नहीं होता।

आचार्यानी—आचार्यस्य स्त्री (आचार्य की स्त्री)—इस विग्रह में आचार्य शब्द से पुंयोग में ङीष् प्रत्यय तथा आनुक् का आगम होकर आचार्य+आन्+ई→आचार्यानी—इस अवस्था में नकार को णकार होना प्राप्त होता है उसका प्रस्तुत वार्तिक से निषेध हो जाता है तथा आचार्यानी रूप बनता है। जो स्त्री स्वयं ही आचार्य हो उसको 'आचार्या' कहा जाता है।

अर्येति—अर्य और क्षत्रिय शब्द से स्वार्थ में ङीष् प्रत्यय तथा आनुक् का आगम होता है विकल्प से।

अर्याणी-अर्या (वैश्य वर्ण की नारी)—अर्य (वैश्य) शब्द से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीष् प्रत्यय तथा आनुक् का आगम होने पर अर्य+आन्+ई→नकार को णकार अर्याणी। पक्ष में टाप् प्रत्यय (अजाद्यतष्टाप्) होकर अर्य+आ→अर्या रूप बनता है।

इसी प्रकार क्षत्रियाणी-क्षत्रिया—(क्षत्रिय वर्ण की स्त्री)। पुंयोग में तो (अर्यस्य स्त्री) अर्यी तथा (क्षत्रियस्य स्त्री) क्षत्रियी रूप बनते हैं।

५६५ । क्रीतात् करणपूर्वात् ४।१।५०॥ क्रीतान्त करणादेः स्त्रियां ङीप् स्यात् । वस्त्रक्रीती । क्वचिन्न-धनक्रीता

५६६ । स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ४।१।

५६५. क्रीतादिति—'क्रीत' शब्द है अन्त में जिसके तथा करण आदि में जिसके ऐसे अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङी होता है।

वस्त्रक्रीती (वस्त्र से खरीदी हुई)—'वस्त्रेण क्रीता' इस विग्रह कारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः, इस प अनुसार 'क्रीत' से परे सुप् आने से पहले ही समास[1] हो जाता 'वस्त्रक्रीत' शब्द से 'क्रीतात् करणपूर्वात्' सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर +ई→अकार लोप वस्त्रक्रीती शब्द बनता है।

क्वचिदिति—कहीं यह ङीप् नहीं होता, जैसे—धनक्रीता धनेन धनक्रीता—'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' में बहुल शब्द के ग्रहण से कहीं 'गतिकारक०' इत्यादि परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती, अतएव क्रीत श पहले सुप् होकर सब सुबन्त के साथ समास होता है और सुप् से पूर्व बोधक प्रत्यय टाप् हो जाता है।

५६६. स्वाङ्गाच्चेति—संयोग नहीं है उपधा में जिसकी ऐसा, उ (गौण) जो स्वाङ्गवाची शब्द, वह जिसके अन्त में हो उस अकारान्त पदिक से ङीप् प्रत्यय होता है विकल्प से।

टिप्पणी—स्वाङ्ग शब्द का यौगिक अर्थ 'अपना अङ्ग' (शरी अवयव) होता है किन्तु यहाँ इसका पारिभाषिक अर्थ है जैसा कि काशिक बतलाया गया है—(१) अद्रवं मूर्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।
(२) अतत्स्थं तत्र दृष्टं च। (३) तेन चेत्तत्तथा युतम्।

१. कर्तृकरणे कृता बहुलम् २।१।३२।

असंयोगोपधमुपसर्जनं यत् स्वाङ्गं तदन्तादद‌न्तात् ङीष् वा स्यात्। केशान् अतिक्रान्ता अतिकेशी, अतिकेशा। चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा। असंयोगोपधात् किम् ? सुगुल्फा। उपसर्जनात् किम् ? शिखा।

अर्थात् स्वाङ्ग तीन प्रकार का होता है—(१) जो द्रव (तरल) रूप न हो साकार (मूर्तिमान्) हो, प्राणधारी मे विद्यमान हो और किसी रोग आदि (विकार) के उत्पन्न न हुआ हो, (२) जो इस समय प्राणी मे स्थित न हो किन्तु प्राणी में देखा गया हो, जैसे यदि प्राणी के सुन्दर केश किसी गली में पड़े हों तो वहाँ भी उपर्युक्त सूत्र से ङीष् होकर 'सुकेशी सुकेशा वा रथ्या' यह प्रयोग हो जायेगा। (३) यदि कोई अप्राणी भी प्राणी में स्थित किसी अङ्ग (स्तन आदि) से उसी प्रकार युक्त हो जैसे प्राणी होता है तो वह अप्राणी का भी स्वाङ्ग कहलायेगा। अतः सुस्तनी सुस्तना वा प्रतिमा—यहाँ भी उपर्युक्त सूत्र के अनुसार विकल्प से ङीष् होता है।

अतिकेशी अतिकेशा—केशान् अतिक्रान्ता (केशो का अतिक्रमण करने वाली) यहाँ 'अतिकेश' शब्द से 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद् असंयोगोपधात्' सूत्र से विकल्प से ङीष् होकर अतिकेश+ई→अकारलोप अतिकेशी। ङीष् न होने पर (अजाद्यतष्टाप्) टाप् प्रत्यय होकर अतिकेशा शब्द बनता है।

विशेष—'केशान् अतिक्रान्ता' इस विग्रह में 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इस वार्तिक से समास होता है। अतिकेश शब्द में केश शब्द प्रथम प्रकार का स्वाङ्गवाची है यह अद्रव है, मूर्तिमत् है तथा प्राणी मे स्थित है। यह उपसर्जन भी है, क्योंकि 'अतिकेश' शब्द में पूर्वपद का अर्थ प्रधान है तथा उत्तरपद का गौण। इस प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

चन्द्रमुखी-चन्द्रमुखा—चन्द्र इव मुखं यस्याः (चन्द्र के समान है मुख जिसका)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होकर चन्द्रमुख शब्द बनता है। उससे 'स्वाङ्गाच्च' इत्यादि सूत्र से विकल्प से ङीष् होकर चन्द्रमुखी। पक्ष में टाप् (अजाद्यतष्टाप्) प्रत्यय होकर चन्द्रमुखा शब्द बनता है।

असंयोगोपधात् किमिति—जिसकी उपधा मे संयोग न हो ऐसा क्यों कहा गया है ? इसलिये कि सुगुल्फा (शोभनौ गुल्फौ यस्याः) यहाँ ङीष् नहीं होता

५९७ । न क्रोडादिबह्वचः ४।१।५६॥ क्रोडादे
स्वाङ्गाच्च ङीष् । कल्याणक्रोडा । आकृतिगणोऽयम् । सुजघना ।

५९८ । नखमुखात् संज्ञायाम् । ४।१।५८॥ न ङी

५९९ । पूर्वपदात्संज्ञायामगः ८।४।३॥ पूर्वपदस्थाद्
परस्य नस्य णः स्यात् संज्ञायां न तु गकारव्यवधाने । शूर्
गौरमुखा ।

क्योंकि यहाँ उपधा में (फकार के साथ लकार का) संयोग है।

उपसर्जनात् किमिति—उपसर्जन जो स्वाङ्गवाची—ऐसा क्यों क
है ? इसलिये कि 'शिखा' शब्द में ङीष् नहीं होता। यहाँ 'शिखा' शब्द
के प्रति उपसर्जन नहीं है।

५९७. न क्रोडादीति—क्रोड आदि गण के तथा बह्वच् (जिसमें
अच् अर्थात् स्वर हो) स्वाङ्गवाची प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय नहीं होता।

कल्याणक्रोडा—कल्याणी क्रोडा यस्याः (कल्याणकारी है क्रोडा[1]
वक्षस्थल जिसका ऐसी घोड़ी)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होकर
'कल्याणक्रोड' शब्द से 'स्वाङ्गाच्च०' से प्राप्त ङीष् नहीं होता अपि
(अजाद्यतष्टाप्) होकर 'कल्याणक्रोडा' शब्द बनता है।

आकृतिगण इति—यह (क्रोडादि) आकृतिगण है अर्थात् गणपठित
के अतिरिक्त अन्य भी ऐसे शब्द हो सकते हैं।

सुजघना—शोभनं जघनं यस्याः (सुन्दर है जघन जिसके)—इस विग्र
'सुजघन' बहुव्रीहि समास बनता है। यहाँ 'स्वाङ्गाच्च०' से ङीष् प्राप्त
है किन्तु 'जघन' शब्द में बहुत से अच् हैं अतः न क्रोडादिबह्वचः से ङी
निषेध हो जाता है और टाप् प्रत्यय होकर सुजघना शब्द बनता है।

५९८. नखेति—नख और मुख—इन स्वाङ्गवाचक शब्दों से सं
ङीष् प्रत्यय नहीं होता।

५९९. पूर्वपदादिति—पूर्वपद में स्थित निमित्त से पर वाले नकार
णकार हो जाता है संज्ञा में, किन्तु यदि गकार बीच में हो तो नहीं होता।

शूर्पणखा—शूर्पाणि इव नखानि यस्याः (छाज के समान हैं नख 'जि

---

[1]. अश्वानामुरः क्रोडा—सिद्धान्तकौमुदी।

र्यां किम् ? ताम्रमुखी कन्या ।

६०० । जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ४।१।६३।। जातिवाचि
च स्त्रियां नियतमयोपधं ततः स्त्रियां ङीष् स्यात् । तटी । वृषली ।

क राक्षसी का नाम (संज्ञा) है अतः 'स्वाङ्गाच्च०' से जो ङीष् प्राप्त होता
का 'नखमुखात् संज्ञायाम्' इस सूत्र से निषेध हो जाता है और टाप् प्रत्यय
तथा 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' के अनुसार नकार को णकार होकर 'शूर्पणखा'
बनता है ।

गौरमुखा—गौरं मुखं यस्याः (गोरा है मुख जिसका)—यहाँ 'स्वाङ्गाच्च०'
ष् प्राप्त होता है, किन्तु यह किसी का नाम है अतः ङीष् का उपर्युक्त सूत्र
ध हो जाता है और टाप् प्रत्यय होकर 'गौरमुखा' रूप बनता है ।

ज्ञायां किमिति—संज्ञा में ङीष् नहीं होता ऐसा क्यों कहा गया है ?
। कि 'ताम्रमुखी कन्या' यहाँ ('स्वाङ्गाच्च') ङीष् होता ही है क्योंकि
मुखं यस्याः सा' इस विग्रह में बना हुआ 'ताम्रमुखी' शब्द यौगिक है,
ो संज्ञा नहीं ।

००. जातेरिति—जो जातिवाचक शब्द, स्त्रीलिङ्ग में नियत न हो तथा
उपधा में यकार न हो; ऐसे अकारान्त शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय
।

पली—यहाँ जाति शब्द पारिभाषिक है । जैसा कि कहा है—

) आकृतिग्रहणा जातिः (२) लिङ्गानां च न सर्वभाक् ।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या (३) गोत्रं च चरणैः सह ॥

ति यहाँ जाति तीन प्रकार की है—(१) जो आकृतिविशेष से व्यक्त
है, जैसे तट आदि; आकृतिविशेषयुक्त वस्तुमात्र का प्रदेश तट कहलाता
जो सब लिङ्गों में न हो तथा एक व्यक्ति में बतला देने पर अन्यों में
उपदेश के ग्रहण हो जावे, जैसे वृषल आदि । (३) गोत्र अर्थात्
त्यान्त शब्द औपगव इत्यादि, चरण अर्थात् शाखा के पढ़ने वाले के
द 'कठ' आदि । इनके उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

—तट जातिवाचक शब्द है, यह स्त्रीलिङ्ग में नियत भी नहीं है,

कठी। बह्वृची। जातेः किम्? मुण्डा। अस्त्रीविषयात् बलाका। अयोपधात् किम्? क्षत्रिया।

⚬ योपधप्रतिषेधे हयगवयमुकयमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेधः। हयी। गवयी। मुकयी। हलस्तद्धितस्येति यलोपः। मनुषी।

इसकी उपधा में यकार भी नहीं है अतः इससे उपर्युक्त सूत्र से ङीष् प्रत्यय होकर तट + ई → अकार लोप तटी शब्द बनता है।

वृषली—(वृषल जाति की स्त्री)—वृषल + ङीष् → वृषल + ई →

कठी—(कठ शाखा को पढ़ने वाली)—कठेन प्रोक्तमधीयाना क जिसका प्रवचन किया गया है (कठेन प्रोक्तम्) वह कठ शाखा है। उसक वाले भी कठ कहलाते हैं। कठ शब्द को जातिवाचक मानकर उससे 'ज विषयादयोपधात्' सूत्र से ङीष् प्रत्यय हो जाता है।

इसी प्रकार 'बह्वृची'—बह्वृचशाखामधीयाना—बह्वृचशाखा क वाली। अपत्यप्रत्ययान्त का उदाहरण है—उपगोरपत्यं स्त्री 'औपगवी औपगव शब्द से ङीष् प्रत्यय होता है। (सिद्धान्तकौमुदी)

जातेः किमिति—जातिवाची से हो, ऐसा क्यों कहा गया है? इस 'मुण्डा' (मुंडी हुई) यहाँ ङीष् नहीं होता क्योंकि इसमें उपर्युक्त जा लक्षण घटित नहीं होता।

अस्त्रीविषयात् किमिति—जो स्त्रीलिङ्ग में नियत न हो ऐसा क्यों गया है? इसलिये कि 'बलाका' यहाँ ङीष् नहीं होता; क्योंकि बलाका स्त्रीलिङ्ग में नियत है।

अयोपधात् किमिति—जिसकी उपधा में यकार न हो—ऐसा क्यों गया है? इसलिये कि 'क्षत्रिया'—यहाँ ङीष् नहीं होता।

योपधेति (वा)—योपध के निषेध में हय, गवय, मुकय, मनुष्य त्स्य—इन शब्दों का प्रतिषेध नहीं होता अर्थात् इनसे ङीष् होता ही है।

हयी (घोड़ी)—'हय' शब्द की उपधा में यकार है अतः 'जाते विषयादयोपधात्' से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्राप्त नहीं था। इस वार्तिक के अ ङीष् हो जाता है तथा हय + ङीष् → हय + ई → अकारलोप हयी शब्द

* मत्स्यस्य ङ्याम् ॥ यलोपः । मत्सी ।

६०१ । इतो मनुष्यजातेः ४।१।६५॥ ङीष् । दाक्षी ।

६०२ । ऊङुतः ४।१।६६॥ उदन्तादयोपधान्मनुष्यजातिवा-

है । इसी प्रकार गवय (गाय जैसा एक पशु) से 'गवयी' और मुकय (पशुविशेष) से 'मुकयी' ।

मनुषी (नारी)—मनुष्य शब्द की उपधा में यकार है फिर भी उपर्युक्त वार्तिक के द्वारा ङीष् प्रत्यय होता है । मनुष्य + ई → इस अवस्था में यकार लोप (यस्येति च) तथा 'हलस्तद्धितस्य' से यकार का लोप होकर 'मनुषी' शब्द बनता है ।

मत्स्यस्येति—'मत्स्य' से यकार का लोप होता है ङीप्परे होने पर ।

मत्सी (मछली)—'मत्स्य' शब्द की उपधा में यकार है तथापि उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार ङीष् प्रत्यय हो जाता है । मत्स्य + ई → इस अवस्था में अकार लोप (यस्येति च) तथा 'मत्स्यस्य ङ्याम्' इस वार्तिक से यकार का लोप होकर मत्स् + ई → मत्सी रूप बनता है ।

६०१. इत इति—मनुष्य जातिवाची इकारान्त शब्द से ङीष् प्रत्यय होता है ।

टिप्पणी—'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' सूत्र के अनुसार अकारान्त प्रातिपदिक से ङीष् होता है अतः प्रस्तुत सूत्र द्वारा इकारान्त शब्द से ङीष् का विधान किया गया है ।

दाक्षी—दक्षस्यापत्यं स्त्री—दक्ष की सन्तान स्त्री—इस विग्रह में दक्ष शब्द से 'अत इञ्' से इञ् प्रत्यय होकर 'दाक्षि' शब्द बनता है जो अपत्य प्रत्ययान्त होने से जातिवाचक है । इससे (इतो मनुष्यजातेः) ङीष् प्रत्यय होकर दाक्षि + ई → इकारलोप (यस्येति च) दाक्षी रूप बनता है ।

६०२. ऊङुत इति—उकार है अन्त में जिसके तथा यकार नहीं है उपधा में जिसके ऐसे मनुष्य जातिवाचक प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है ।

चिनः स्त्रियामूङ् स्यात् । कुरूः । अयोपधात् किम् ? अ

६०३ । पङ्गोश्च ४।१।६८॥ पङ्गूः ।

* श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च ॥ श्वश्रूः ।

कुरूः—कुरोः अपत्यं स्त्री—कुरुप्रदेश का राजा कुरु उसकी
यहाँ 'कुरु' शब्द से अपत्य अर्थ में ण्य[1] प्रत्यय होकर उसका लुक्
अपत्यप्रत्ययान्त होने से यह मनुष्यजातिवाचक है अतः। इससे उ
प्रत्यय होकर कुरु+ऊ→सवर्णदीर्घ कुरू रूप बनता है। 'कुरू+

अयोपधात् किमिति—जिसकी उपधा में यकार न हो—ऐ
गया है? इसलिये कि 'अध्वर्यु' की हानी यहाँ 'अध्वर्यु' शब्द से ऊङ्
होता; क्योंकि इसकी उपधा में यकार है। 'अध्वर्यु' शब्द 'गोत्रं च
के अनुसार जातिवाचक है।

६०३. पङ्गोश्चेति—'पङ्गु' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय

टिप्पणी—पङ्गु शब्द जातिवाचक नहीं, अत ऊङुतः से ऊङ
था। इसलिये इस सूत्र द्वारा ऊङ् प्रत्यय कहा गया है।

पङ्गूः (लंगड़ी)—पङ्गु शब्द से 'पङ्गोश्च' सूत्र के अनुसार
ऊङ् प्रत्यय होकर पङ्गु+ऊ→पङ्गू रूप बनता है।

श्वसुरस्येति—'श्वशुर' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय हो

---

१. कुर्वादिभ्यो ण्यः ४।१।१७२।

२. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५॥ सूत्र से धातु प्र
को छोड़कर अर्थयुक्त शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होती है अतः '
ऊङन्त शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा न होगी फिर सु आदि (सुप्)
होंगे ? क्योंकि वे (ङ्याप् प्रातिपदिकात्) की, धातु प्रत्ययान्त तथा
संज्ञक से ही होते हैं; तथापि 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि
(प्रातिपदिक के ग्रहण से लिङ्गबोधकप्रत्ययविशिष्ट का भी ग्रहण हो
परिभाषा के अनुसार ऊङ् प्रत्ययान्त से भी 'सु' आदि हो जाते हैं
—कुरूः आदि रूप बनते हैं।

६०४ । ऊरूत्तरपदादौपम्ये ४।१।६९॥ उपमानवाचि पूर्वपदमूरूत्तरपदं यत्प्रातिपदिकं तस्मादूङ् स्यात् । करभोरूः ।

६०५ । संहितशफलक्षणवामादेश्च ४।१।७०॥ अनौपम्यार्थं सूत्रम् । संहितोरूः । शफोरूः । लक्षणोरूः । वामोरूः ।

शकार से परे वाले उकार का और रेफ (र्) से परे वाले अकार का लोप हो जाता है ।

श्वश्रूः (सास)—'श्वशुर' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होकर श्वशुर+ऊ—इस अवस्था में शकार से पर उकार का तथा रेफ से पर अकार का लोप हो जाता है, श्वशुर+ऊ→श्वश्र्+शु→श्वश्रूः ।

६०४. ऊरूत्तरेति—उपमानवाची हो पूर्वपद जिसका और 'ऊरु' शब्द हो उत्तरपद जिसका ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है ।

करभोरूः—करभौ इव ऊरू यस्याः (करभ के समान हैं ऊरू जिसके)—यहाँ पूर्वपद 'करभ' शब्द है जो उपमानवाची है तथा उत्तरपद 'ऊरु' शब्द है अतः प्रस्तुत सूत्र से ऊङ् प्रत्यय होकर करभोरु+ऊ+सवर्णदीर्घ होकर करभोरूः शब्द बनता है ।

टिप्पणी—हाथ की कलाई (मणिबन्ध) से लेकर कनिष्ठिका तक के हथेली के निचले भाग को करभ[1] कहते हैं। ऊरु की आकृति इस (करभ) के सदृश है यही दोनों में समानता है अथवा स्निग्धता या कोमलता दोनों का समान धर्म है ।

६०५. संहितेति—संहित, शफ, लक्षण और वाम शब्द हो पूर्वपद (आदि) जिसका और ऊरु शब्द हो उत्तरपद जिसका ऐसे प्रातिपदिक से भी स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है ।

अनौपम्यार्थमिति—यह सूत्र अनौपम्य के लिये है अर्थात् जहाँ पूर्वपद उपमानवाची नहीं है वहाँ ऊङ् प्रत्यय के विधान के लिये है ।

संहितोरूः—संहितौ (सश्लिष्टौ) ऊरू यस्याः—मिले हुए हैं ऊरु जिसके;

---

1. मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' अमरकोश ।

६०६ शाङ्‍र्गरवाद्यञो ङीन् ४।१।७३॥ शाङ्‍
योऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो ङीन् स्यात्। शाङ्‍र्गरव
ब्राह्मणी। नृनरयोर्वृद्धिश्च। नारी।

इस विग्रह में निष्पन्न 'संहितोरु' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्र
संहितोरु + ऊ → सवर्णदीर्घ संहितोरूः।

इसी प्रकार 'शफौ ऊरू यस्याः' (संश्लिष्ट[1] हैं ऊरु जिसके
लक्षणौ ऊरू यस्याः (शुभ लक्षणयुक्त[2] हैं ऊरू जिसके) 'लक्षणो
ऊरू यस्याः (सुन्दर हैं ऊरू जिसके) 'वामोरूः' शब्द बनते हैं।

६०६. शाङ्‍र्गरवेति—शाङ्‍र्गरव आदि शब्दों से तथा अञ् प्र
वह है अन्त में जिसके ऐसे जातिवाचक शब्दों से ङीन् प्रत्यय होता है

टिप्पणी—'शाङ्‍र्गरव तथा बैद' शब्द अपत्य प्रत्ययान्त हैं।
लक्षण ङीष् प्राप्त होने पर ङीन् प्रत्यय का विधान किया गया है।
ङीन् में स्वर का भेद है। ङीन् प्रत्ययान्त शब्द आद्युदात्त होता है।

शाङ्‍र्गरवी—शृङ्गरोः अपत्यं स्त्री (शृङ्गरु की सन्तान स्त्री)
से अण् प्रत्यय होकर शाङ्‍र्गरव शब्द बनता है। उससे प्रस्तुत सूत्र
ङीन् प्रत्यय होकर शाङ्‍र्गरव + ई → अकार लोप (यस्येति च) शा

बैदी—बिदस्य अपत्यं स्त्री बैदी। (बिद की सन्तान स्त्री) बिद
बैद।[4] अञन्त बैद शब्द से ङीन् प्रत्यय होकर बैद + ई → अकार लोप

ब्राह्मणी—ब्राह्मण शब्द शाङ्‍र्गरव आदि गण में है।
लक्षण ङीन् प्राप्त था। उसे बाध कर प्रस्तुत सूत्र से ङीन् होता है
+ ई → ब्राह्मणी।

नृनरयोरिति (गणसूत्र)—नृ और नर शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङ

---

१. शफ शब्द का अर्थ खुर होता है, किन्तु यहाँ शफ शब्द से
सदृश संश्लिष्ट' यह अर्थ लक्षणा द्वारा प्रकट होता है।

२. 'लक्षण' शब्द अर्शआद्यच् प्रत्ययान्त है जो लक्षणयुक्त के अर्थ

३. ञ्नित्यादिर्नित्यम् ।६।१।१९७॥

४. अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् ४।१।१०४॥

६०७. यूनस्तिः ४।१।७७।। युवन् शब्दात् स्त्रियां ति प्रत्ययः स्यात्। युवतिः।

।।इति स्त्रीप्रत्ययाः ।।

होता है और इन शब्दों को वृद्धि भी होती है।

टिप्पणी—(१) नृ के ऋकार को वृद्धि (आर्) होती है तथा नर शब्द मे नकार से पर अकार को वृद्धि (आ) होती है। (२) नृ शब्द से 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से ङीप् प्रत्यय प्राप्त था और 'नर' शब्द से जाति लक्षण ङीष् प्राप्त था। उनको बाधकर इससे ङीन् प्रत्यय होता है।

नारी—'नृ' शब्द से ङीन् होकर ऋकार को वृद्धि (आर्) होकर नार्+ →नारी तथा 'नर' शब्द से ङीन् होकर नर+ई→अन्त्य अकार का लोप या पूर्व अकार को वृद्धि होकर नारी शब्द बनता है।

६०७. यून इति—'युवन्' शब्द से स्त्रीलिङ्ग मे ति प्रत्यय होता है।

युवती—युवन् शब्द से यूनस्तिः' सूत्र के अनुसार ति प्रत्यय होकर न्+ति→नकार[1] लोप होकर युवतिः शब्द बनता है।

टिप्पणी—यह ति प्रत्यय तद्धितसंज्ञक है, अतः 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से वति' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु आदि प्रत्यय होते हैं।

❀ इति स्त्रीप्रत्यय ❀

---

१. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७।।

अथ तिङन्तप्रक्रिया

तिङन्तेति—धातुओं से क्रिया पद बनाने के लिये जो 'तिप्' आदि प्रत्यय जोड़े जाते हैं, उन्हें तिङ् कहते हैं। तिङ् प्रत्यय जिनके अन्त में हो ऐसे क्रिया पदों को तिङन्त कहते हैं।

धातु—धातु पाठ में पठित जो 'भू' आदि हैं[1] तथा 'सन्' आदि प्रत्यय लगाकर जो 'चिकीर्ष' इत्यादि बनती हैं, वे धातु कहलाती हैं।[2]

धातुओं में दो प्रकार के प्रत्यय जोड़े जाते हैं—(१) कृत्प्रत्यय और (२) तिङ् प्रत्यय। इनमें से कृत् प्रत्ययों की प्रक्रिया ऊपर दिखलाई जा चुकी है। तिङ् प्रत्यय 'लकार' के स्थान में होते हैं।[3] काल आदि (Tenses and moods) को प्रकट करने वाली क्रिया की अवस्था को व्याकरण में लकार कहा जाता है। लकार दस हैं—लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ्। इनमें से लेट् लकार का प्रयोग केवल वेद में ही होता है। लिङ् लकार के दो भेद होते हैं—१. विधिलिङ् और २. आशीर्लिङ्। इन सब का विस्तृत विवेचन लकारार्थ प्रक्रिया में किया जायेगा।

तिङ्—लकार के स्थान में होने वाले 'तिप्' आदि १८ प्रत्ययों में से प्रथम नौ प्रत्यय परस्मैपद संज्ञक होते हैं[4] तथा अन्त के नौ प्रत्यय आत्मनेपद होते हैं।[5] परस्मैपदी धातुओं से परस्मैपद के प्रत्यय, आत्मनेपदी धातुओं से आत्मनेपद के प्रत्यय लगाये जाते हैं (धातुओं के परस्मैपद आदि का विवेचन आगे किया जायेगा।) परस्मैपद और आत्मनेपद के तिङ् प्रत्ययों के जो तीन त्रिक (तीन का समूह) होते हैं उनको क्रमशः प्रथम, मध्यम और

१. भूवादयो धातवः १।३।१।
२. सनाद्यन्ता धातवः ३।१।३२
३. लस्य ३।४।७७। तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ्।३।४।७८ यहाँ 'ति' से लेकर ङ् तक तिङ् प्रत्याहार बना
४. लः परस्मैपदम् १।४।९९।
५. तङानावात्मनेपदम् १।४।१००।

पुरुष संज्ञा होती है। और प्रत्येक त्रिक के तीन प्रत्ययों का क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में प्रयोग होता है।[2] संक्षेप में तिङ्प्रत्ययों का मूलस्वरूप यह है

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एक०	द्वि०	बहुवचन	एक०	द्वि०	बहुवचन
प्रथम पुरुष	तिप्	तस्	झि	त	आताम्	झ
मध्यम पुरुष	सिप्	थस्	थ	थास्	आथाम्	ध्वम्
उत्तम पुरुष	मिप्	वस्	मस्	इट्	वहि	महिङ्

इन प्रत्ययों का विविध लकारों में कुछ रूप-परिवर्तन हो जाता है। लट् (वर्तमान) में यह रूप परिवर्तन बहुत ही कम होता है। तिङन्त प्रक्रिया को समझने के लिये परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी धातुओं के (लट् लकार में) सामान्य रूपों का विवेचन उपयोगी होगा। 'भू' सत्तायाम् (होना) धातु परस्मैपदी है इसके लट् लकार में ये रूप होते हैं—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	भवति	भवतः	भवन्ति
मध्यमपुरुष	भवसि	भवथः	भवथ
उत्तमपुरुष	भवामि	भवावः	भवामः

इन रूपों की संक्षिप्त प्रक्रिया इस प्रकार है—

भवति—भू धातु से कर्तृवाच्य[3] के ('वह होता है' इस अर्थ में) लट् लकार प्रथमपुरुष के एकवचन में—'भू+ति'[4] इस दशा में 'ति' की सार्वधातुकसंज्ञा (तिङ्शित्सार्वधातुकम् ३।४।११३) होने के कारण धातु और तिङ्

१. तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः १।४।१०१।

२. तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः १।४।१०२।

३. वाच्य तीन होते हैं—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य इनका विशेष वर्णन भावकर्मप्रक्रिया में किया जायेगा।

४. तिप् के प का लोप ('हलन्त्यम्' सूत्र से इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से लोप) हो जाता है।

५. धातु से होने वाले दोनों प्रकार के प्रत्ययों (कृत् तथा तिङ्) को दो वर्गों में रक्खा गया है—(१) सार्वधातुक अर्थात् तिङ् तथा शित् (जिसका शकार इत् संज्ञक है) प्रत्यय (तिङ्शित् सार्वधातुकम् ३।४।११३); (२) आर्धधातुक, अर्थात् धातु से होने वाले शेष कृत् आदि प्रत्यय (आर्धधातुकं शेषः ३।४।११४), लिट् (लिट् च ३।४।११५) तथा आशीर्लिङ् (लिङाशिषि ३।४।११६)।

के मध्य में शप् (कर्तरि शप् ३।१।६८) विकरण[१] हो जाता है।
रहता है) तथा 'भू+अ+ति' यह स्थिति हो जाती है। यहाँ
गुण[२] (ओ) होकर भो+अ+ति इस दशा में 'ओ' को 'अव् अ
है तथा भव्+अ+ति→भवति यह रूप बनता है।

भवतः—'भू+तस्' (प्रथम पु० द्विवचन) इस दशा में 'भव
ही सब कार्य होकर 'स्' को रु (र्) तथा 'र्' को विसर्ग होकर

भवन्ति—'भू+झि' यहाँ (प्रथम पुरुष बहुवचन में)
आदेश (झोऽन्तः ७।१।३) होकर तथा शप्, गुण और अव् प
अकार को पररूप[३]=(अ+अ=अ) हो जाता है।

इसी प्रकार मध्यम पुरुष के तीनों रूप—भू+अ+सि→
अ+थस्→स् को रु तथा विसर्ग होकर 'भवथः' और भू+अ-
सिद्ध होते हैं।

उत्तम पुरुष के एकवचन में भू+अ+मि→भव्+अ+मि
इस अवस्था में 'भव' के अन्तिम अकार को दीर्घ[४] होकर '
होता है।

इसी प्रकार द्विवचन में—भू+अ+वस्='भवावः', बहुवच
अ+मस्='भवामः'।

---

१. धातु और तिङ् के बीच में जो 'शप्' आदि शब्दांश जोड़
'विकरण' कहलाते हैं। ये विकरण केवल सार्वधातुक (
लोट्, लङ् और विधिलिङ्) लकारों में ही होते हैं।
२. सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) सार्वधातुक तथा आर्ध
परे होने पर इगन्त अङ्ग को गुण होता है।
३. अतो गुणे ६।१।९७॥
४. अतो दीर्घो यञि ७।३।१०१ यञ् है आदि में जिसके ऐसा
प्रत्यय परे होने पर अकारान्त अङ्ग को दीर्घ होता है।

आत्मनेपदी धातुओं की सामान्य प्रक्रिया

एध वृद्धौ (बढ़ना) धातु आत्मनेपदी है। इसके रूप लट् लकार मे इस र होते हैं :—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	एधते	एधेते	एधन्ते
मध्यमपुरुष	एधसे	एधेथे	एधध्वे
उत्तमपुरुष	एधे	एधावहे	एधामहे

इन रूपों की संक्षिप्त प्रक्रिया निम्नलिखित है :—

एधते—'एध्+त' इस दशा मे 'त' की सार्वधातुक संज्ञा होने पर धातु प्रत्यय के मध्य मे शप् होकर 'एध्+अ+त यहाँ 'त' के अ को 'ए'[1] हो ा है तथा एध्+अ+ते=एधते रूप होता है।

एधेते—'एध्+अ+आताम्' इस दशा मे 'आताम्' के आ को इय्[2] आदेश र 'एध्+अ+इय्+ताम् इस दशा मे 'अ+इ'=ए (गुण) तथा 'य्' लोप[3] होकर एध्+ए+ताम् यहाँ पर ताम् के 'आम्' (टि) को एकार जाता है तथा एधेते रूप बनता है।

एधन्ते—एध्+अ (शप्)+झ (झ् को 'अन्त' आदेश होकर) 'एध्+-अन्त' अन्त के अन्तिम 'अ' (टि) को एकार तथा शप् के अ का अन्ते के ार के साथ पररूप होकर एध्+अ+न्ते=एधन्ते रूप होता है।

एधसे—'एध्+अ+थास्' इस अवस्था मे थास् के स्थान मे 'से' आदेश ास: से ३।४।८०) होकर एध्+अ+से=एधसे।

एधेथे—'एध्+अ+आथाम्' इस अवस्था मे (आ को इय् अ+इ+ए ा 'आथाम्' के आम् को 'ए' आदि) सब कार्य 'एधेते' के समान होते हैं।

एधध्वे—'एध्+अ+ध्वम्' यहाँ ध्वम् के अम् (टि) को ए हो जाता है।

---

१. टित आत्मनेपदानां टे रे ३।४।७९।

२. आतो ङितः ७।२।८१।

३. लोपो व्योर्वलि ६।१।६६।

अथ ण्यन्तप्रक्रिया

६०८। स्वतन्त्रः कर्ता १।४।५४। क्रियायां विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्।

६०९। तत्प्रयोजको हेतुश्च १।४।५५। कर्तु हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च स्यात्।

एधे—एध्+अ+इ (इट्) इस दशा में 'इ' को एकार ह +ए यहाँ अ+ए=ए (अतो गुणे से पररूप) हो जाता है।

एधावहे—एध्+अ+वहि (इ को ए होकर) 'एध्+अ+ दीर्घ' होकर एध् आ+वहे→एधावहे। इसी प्रकार एध्+अ+ महे' यह रूप बनता है।

ण्यन्तप्रक्रिया आदि में धातुओं के रूप बनाने के लिये उपयु ध्यान में रखना चाहिए। अन्य लकारों में जो विशेष कार्य हो यथास्थान निरूपण किया जायगा।

अथ ण्यन्तेति—णि (णिच् या णिङ्) प्रत्यय है अन्त में जि (णि+अन्त) कहलाता है। ण्यन्त धातुओं की रूप सिद्धि के प्रकरण में विवेचन किया जा रहा है।

६०८. स्वतन्त्र इति—क्रिया में जिनको स्वतन्त्र रूप से कहन (विवक्षित=वक्तुम् इष्टः) वह वस्तु या व्यक्ति (अर्थ) कर्ता कहल

अभिप्राय यह है कि 'कर्ता होना' विवक्षा के अधीन है। व्यक्ति जिसे क्रियासिद्धि में स्वतन्त्र बतलाना चाहता है वही कर 'देवदत्तः पचति' 'अग्निः पचति' तथा 'काष्ठानि पचन्ति'—बो इच्छा के अनुसार तीनों ही प्रयोग हो सकते हैं।

६०९ तत्प्रयोजक इति—उस (कर्ता) के प्रयोजक की हेतु कर्तृ संज्ञा (दोनों) होती है।

---

१. अतो दीर्घो यञि ७।३।१०१।

६१० । हेतुमति च ३।१।२६॥ प्रयोजकव्यापारे प्रेषणादौ वाच्ये धातोर्णिच् स्यात् । भवन्तं प्रेरयति भावयति ।

टिप्पणी—कर्त्ता दो प्रकार का होता है—एक किसी कार्य को करने वाला और दूसरा किसी कार्य को कराने वाला अर्थात् करने की प्रेरणा देने वाला । जो व्यक्ति कार्य करने वाले को प्रेरणा देता है वह प्रेरक कहलाता है वही प्रयोजक कर्त्ता है तथा उसकी 'हेतु' संज्ञा भी होती है । जिसे प्रेरणा दी जाती है वह 'प्रयोज्य' कर्त्ता कहलाता है । जैसे आचार्य जी देवदत्त को पढ़ाते हैं । यहाँ 'आचार्य जी' प्रयोजक कर्त्ता हैं और देवदत्त प्रयोज्य कर्त्ता है । यहाँ 'प्रेरणा' देना ही प्रयोजक कार्य है । यही प्रयोजक का व्यापार कहा जाता है ।

६१०. हेतुमति चेति—प्रयोजक का व्यापार प्रेषण इत्यादि (प्रेरणा) कहना हो तो धातु से णिच् प्रत्यय हो जाता है ।

[णिच् मे णकार और चकार का लोप हो जाता है केवल 'इ' शेष रहती है]

भावयति—'भवन्तं प्रेरयति' (होने वाले को प्रेरित करता है)—इस विग्रह में 'भू' धातु से हेतुमति च' सूत्र के अनुसार 'णिच्' प्रत्यय होता है । 'भू+इ—यहाँ णिच् प्रत्यय के णित् (ण है इत्संज्ञक जिसका) होने से ऊकार को (अचो ञ्णिति ७।२।११५) वृद्धि (औ) होकर 'औ' को आव् हो जाता है→भौ+इ=भाव्+इ=भावि—इस णिजन्त रूप की धातु[1] संज्ञा होती है तथा लट् लकार में 'भावि+ति' इस दशा में धातु तथा प्रत्यय के मध्य में शप्[2] (अ) हो जाता है । भावि+अ+ति इस अवस्था मे 'इ' को गुण (ए) तथा 'ए' को 'अय्' आदेश होकर भाव्+अय्+अ+ति→भावयति रूप सिद्ध होता है ।

टिप्पणी—(१) यह णिच् प्रत्यय प्रेरणा अर्थ में होता है अतः भावयति इत्यादि प्रेरणार्थक क्रियायें कहलाती हैं । चोरयति (चुर्+णिच्) आदि मे जो णिच् प्रत्यय होता है, वह स्वार्थ मे होता है, वहाँ प्रेरणा अर्थ नहीं होता । किन्तु रूप दोनों के समान ही होते हैं । (२) भावयति' के 'भवति' के

१. सनाद्यन्ता धातवः ३।१।३२।

२. कर्तरि शप् ३।१।६८।

६११। ओ: पुयण्ज्यपरे ७।४।८०॥ सनि प
यवाभ्यासोकारस्य इत्वात् पवर्गयणजकारेष्ववर्णपरेषु

समान समस्त लकारों में रूप बनते हैं उदाहरणार्थ प्रत्येक ल
रूप इस प्रकार है—लट्—भावयति । लिट्—भावयामा
भावयाञ्चकार । लुट्—भावयिता । लृट्—भावयिष्यति ।
लङ्—अभावयत् । विधिलिङ्—भावयेत् । आशिषि लिङ्—
अबीभवत् (जिसकी सिद्धि आगे की जा रही है)। लृङ्
(३) णिजन्त धातुओं के रूप परस्मैपद तथा आत्मनेपद दोन
अतः 'भावयते' आदि भी रूप होंगे ।

६११. ओरिति-[यहाँ 'भृञामित्' ७।४।७६। से 'इ' तथा
से 'सनि'—इन पदों की अनुवृत्ति होती है] सन् प्रत्यय परे ह
उसके अवयव अभ्यास के उकार को इकार हो जाता है,
जिनके ऐसे पवर्ग, यण् (य, व, र, ल) तथा जकार परे हों ।

अबीभवत्—भू+णिच्+लुङ् (प्रथम पुरुष एकवचन)
अट्[1] का आगम, लुङ् के स्थान में तिप् होकर 'ति' का इक
तथा अ भू+इ+त्→इस दशा में लुङ् परे होने से च्लि
स्थान में चङ्[3] (अ) होकर अ भू इ अ त्' इस अवस्था
द्वित्व[4] होकर 'अ भू भू इ अ त्' यहाँ पर पहले 'भू' की अ
उसे अभ्यासकार्य-(भकार को बकार[5] (जश्) तथा 'ऊ' को ह्
'अ बु भू अत्' इस अवस्था में परे वाले 'भू' के ऊ को व
आव् आदेश होकर 'अ बु भाव् अ त्'→णिच् का लो
के आकार को ह्रस्व[7] हो जाता है । अ बु भव् अ
में सन्वद्भाव[8] (सन् प्रत्यय के समान कार्य) होकर 'ओः

१. लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ७।४।६१ — २. च्लि लु
३. णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् ३।१।४८ — ४. चङि ६
५. अभ्यासे चर्च ८।४।५४॥ — ६. णेरनि
७. णौ चङ्युपधायाः ह्रस्वः ७।४।१।
८. सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे ७।४।९३।

ष्ठा गतिनिवृत्तौ—

६१२। अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ् णौ ७।३।३६॥ स्थापयति।

६१३। तिष्ठतेरित् ७।४।५॥ उपधाया इदादेशः स्याच्चङ्परे णौ। अतिष्ठिपत्।

उकार को इकार होता है तथा उसे 'दीर्घो लघोः' ७।४।९४ से दीर्घ होकर 'अबीभवत्' रूप सिद्ध होता है।

ष्ठेति—ष्ठा धातु रुकना या खड़ा होना अर्थ में है। ष्ठा के षकार को सकार[1] होकर स्था' रूप हो जाता है उससे णिच् प्रत्यय होने पर स्था+इ इस अवस्था में—

६१२ अर्तीति—ऋ, ह्री, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी तथा आकारान्त धातुओं को पुक् आगम होता है 'णि' परे होने पर।

(स्था धातु आकारान्त है अतः इस सूत्र से स्था के आगे पुक् हो जाता है। पुक् में उकार तथा ककार का लोप हो जाता है और प् शेष रहता है।)

स्थापयति—स्था+णिच्→'स्था+इ' इस अवस्था में पुक् का आगम होकर स्था प् इ=स्थापि णिजन्त धातु होती है। उससे लट् लकार प्र० पु० एक० में स्थापि+शप्+ति→गुण और अय् आदेश होकर स्थापयति।

इसी प्रकार—अर्पयति, ह्रेपयति, व्लेपयति, रेपयति, क्नोपयति[2] क्ष्मापयति इत्यादि।

६१३. तिष्ठतेरिति—स्था धातु की उपधा को इकार आदेश होता है चङ् है आगे जिसके ऐसा णि परे होने पर।

अतिष्ठिपत्—स्था+णिच्=लुङ् (प्रथम पुरुष एकवचन) अबीभवत् के समान 'अ स्थाप् इ अत्' यह अवस्था हो जाने पर 'स्थाप्' को द्वित्व होकर अभ्यास में 'थ' मात्र शेष[3] रहता है तथा 'अ थ स्थाप् इ अत्' इस अवस्था में

---

१. धात्वादेः षः सः ६।१।६४॥

२. क्नूय् और क्ष्माय् के य् का लोप हो जाता है।

३. शर्पूर्वाः खयः ७।४।६१ से खय् अर्थात् 'था' शेष रहता है और 'था' को ह्रस्वः ७।४।५९ से ह्रस्व होकर 'थ' मात्र शेष रहता है।

घट चेष्टायाम्—

६१४। मितां ह्रस्वः ६।४।९२॥ घटादीनां ज्ञपा
ह्रस्वः स्याण्णौ घटयति ।

ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च। ज्ञपयति। अजिज्ञपत्।

॥ इति ण्यन्तप्रक्रिया ॥

'तिष्ठतेरित्' से स्थाप्' के आकार (उपधा) को इकार हो
स्थिप् इ अत् यहाँ पर सन्वद्भाव होकर 'थ' के अकार को इक
षकार को तकार' (षत्वे) होकर 'अ ति स्थ प इ अत्' यहाँ
स्थि के स् को ष और थ् को ठ् (ष्टुत्व) होकर अतिष्ठिपत् रूप

६१४. मितामिति—घट आदि और ज्ञप् आदि धातुओं
ह्रस्व हो जाता है णि परे होने पर। (घट् आदि और ज्ञप् आ
संज्ञक हैं।)

घटयति—घट+णिच्=घाटि—इस अवस्था में आक
ह्रस्व होकर 'घटि' णिजन्त धातु होती है। 'घटि' से ति
शप् आदि होकर घटयति रूप बनता है।

(लुङ् लकार में 'अजीघटत्' रूप बनता है)

ज्ञप् इति—ज्ञप् धातु जानना और ज्ञान कराना अर्थ में

[यह चुरादि गण की धातु है इससे प्रेरणार्थक णिच् कर
णिच् का णेरनिटि ६।४।५१ से लोप हो जाता है]

ज्ञपयति—ज्ञप्+णिच्=ज्ञापि-इस अवस्था में आकार
ह्रस्व होकर 'ज्ञपि' णिजन्त धातु होती है। उससे ज्ञपयति रूप

अजिज्ञपत्—ज्ञप्+णिच्+लुङ् (प्रथम पुरुष, एकवचन)
+अत् इस दशा में द्वित्व, अभ्यासकार्य', णि लोप होकर अजि

---

१. सन्वतः ७।४।७९ यहाँ 'अजीघटत्' के समान दीर्घ
नहीं होता, क्योंकि 'संयोगे गुरु' के अनुसार 'ति' गुरु है लघु नहीं

२. अभ्यासे चर्च ८।४।५४॥

३. सन्यतः ७।४।७९ से अकार को इकार होता है।

अथ सन्नन्तप्रक्रिया

६१५ । धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ३।१।७। इषिकर्मण इषिणैककर्तृकाद्धातोः सन् प्रत्ययो वा स्यादिच्छायाम् पठ् व्यक्तायां—वाचि

६१६ । सन्यङोः ६।१।९।। सन्नन्तस्य यङन्तस्य च धातोर-

टिप्पणी—इसी प्रकार अन्य धातुओं से भी णिजन्त (प्रेरणार्थक) रूप बनाये जा सकते हैं । कुछ प्रसिद्ध धातुओं के णिजन्त रूप निम्न प्रकार के होते हैं—

गम्—गमयति । दा—दापयति । हन् घातयति । पा (पीना)—पाययति पा (पालना)—पालयति—लभ—लम्भयति । भू (होना)—भावयति रुह—रोहयति । नम्-नमयति, नामयति । हन्-घातयति । नी नाययति । भी-भाययति-भापयते । श्रु (सुनना)-श्रावयति । वृ—वारयति । मृ—मारयति । हृ—हारयति । रञ्ज् रञ्जयति । रुह—रोहयति-रोपयति । सिध्—साधयति, सेधयति । इत्यादि ।

॥ इति ण्यन्तप्रक्रिया ॥

सन्नन्तेति—सन् प्रत्यय है अन्त में जिसके वह सन्+अन्त=सन्नन्त धातु कहाती है । सन्नन्त धातु की प्रक्रिया=सन्नन्त प्रक्रिया ।

६१५. धातोरिति—[गुप्तिज्किद्भ्यः सन् ३।१।५ से सन् की अनुवृत्ति आती है] जो इच्छा का कर्म हो तथा इच्छा क्रिया की समानकर्तृक (अर्थात् इच्छा क्रिया का कर्ता ही है कर्ता जिसका ऐसी) हो उस धातु से इच्छा अर्थ में विकल्प से सन् प्रत्यय होता है ।

पठ्—धातु व्यक्तवाणी (स्पष्ट उच्चारण या पढ़ना) अर्थ में है । इससे सन् प्रत्यय होता है, 'सन्' में स शेष रहता है ।

६१६. सन्यङोरिति—[एकाचो द्वे प्रथमस्य ६।१।१, अजादेर्द्वितीयस्य ६।१।२ की अनुवृत्ति हो रही है] जिसका द्वित्व न हुआ हो (अनभ्यासस्य) ऐसी सन् प्रत्ययान्त और यङ् प्रत्ययान्त धातु के प्रथम एकाच को द्वित्व होता

मभ्यासस्य प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य । सन्
मिच्छति पिपठिषति । कर्मणः किम् ? गमनेनेच्छति । स

है, जिस धातु के आदि में अच् (स्वर) हो उसके तो द्वितीय अ
होता है ।

टिप्पणी—एकाच् का अर्थ है एक अच् है जिसमें, जैसे
यहाँ पर 'पठ्' एकाच है, क्योंकि इसमें 'अ' ही एक अच है ।
होकर पठ्+पठ्+स→अभ्यासकार्य प+पठ्+स इस अवस्था

सन्यतः इति—अभ्यास के अकार को इकार हो जाता है स
होने पर । [इसमें अभ्यास के 'प' के स्थान पर 'पि' हो जाता है

पिपठिषति—पठितुमिच्छति' (पढ़ने की इच्छा करता है)
में 'धातोः कर्मणः' इत्यादि सूत्र से पठ् धातु से सन् प्रत्यय हो
सूत्र के अनुसार पठ् शब्द को द्वित्व होने पर पूर्व पद् (अभ्यास)
रहता है तथा 'सन्यतः' से उस 'प' के अकार को इकार हो जात
'स' इस अवस्था में स (सन्) को इट्[3] (इ) का आगम होकर
षकार होता है । इस प्रकार 'पिपठिष' यह सन्नन्त धातु[4] बनने
लट् लकार के एकवचन में तिप्, शप् होकर पिपठिष+अ+ति
+अ=अ) पिपठिषति ।

कर्मणइति—इच्छा की कर्म रूप धातु से सन् प्रत्यय होता
कहा गया है ? इसलिए कि 'गमनेन इच्छति'—यहाँ गमन क्रिय
कर्म नहीं अपितु करण है । अतः 'गम्' धातु से सन् प्रत्यय नहीं

१. यहाँ 'इच्छति' क्रिया का कर्ता जो देवदत्त आदि है वही
का कर्ता है । अतः पठ् धातु इच्छा, क्रिया की एककर्तृक है तथा
इच्छा का कर्म भी है इसलिए पठ् धातु से सन् प्रत्यय होता है ।

२. पठ् पठ् स—यहाँ 'हलादिः' शेषः ७।४।६०। के अनुसार "
रहता है ।

३. आर्धधातुकस्येड्वलादेः ७।२।३५।।

४. सनाद्यन्ताः धातवः ३।१।३२।।

किम् ? शिष्याः पठन्त्वितीच्छति गुरुः । वाग्रहणाद् वाक्यमा
लुङ्सनोर्घस्ल् ।

समानेति—जो इच्छा का कर्ता है वही उस (जिससे सन् करना है)
का भी कर्ता होना चाहिये, यह क्यों कहा गया है ? इसलिये कि 'शि
पठन्तु' इति इच्छति गुरुः—यहाँ पर पठन क्रिया इच्छा का कर्म है, f
दोनों क्रियाओं के कर्ता भिन्न भिन्न हैं—'पठन्तु' का कर्ता 'शिष्याः' है
इच्छति का कर्त्ता 'गुरुः' है। इसलिये दोनों क्रियायें समानकर्तृक नहीं
यहाँ पठ् धातु से सन् प्रत्यय नहीं होता।

वाग्रहणादिति—'धातोः कर्मणः'—इत्यादि सूत्र में 'वा' (विकल्प
शब्द का ग्रहण किया गया है इसलिए (पक्ष में) 'पठितुम् इच्छति' इस व
का भी प्रयोग होता है। वक्ता की इच्छा के अधीन है कि वह 'प
चाहता है'—इस अर्थ को प्रकट करने के लिए पठ् धातु से 'सन्' प्र
जोड़कर 'पिपठिषति' शब्द का प्रयोग करे अथवा 'पठितुम् इच्छति' इस व
का प्रयोग करे।

टिप्पणी—(१) धातुएं दो प्रकार की हैं—सेट् और अनिट्। |
धातुओं से परे वलादि (य को छोड़कर कोई व्यञ्जन जिसके आदि में ह
है) आर्धधातुक प्रत्यय होने पर उस प्रत्यय से पहले इ (इट्) आ जाता
सेट् (स+इट्) हैं। जिनसे इट् नहीं आता वे अनिट् (न+इट्) हैं।
धातु सेट् है, उससे परे 'सन्' प्रत्यय को इट् हो जाता है, जैसा कि 'पिपठिष
में हुआ है: किन्तु जो धातु अनिट् है वहाँ इट् नहीं होता जैसे 'चिकीर्षति
(२) जो धातु सन् प्रत्यय न होने पर परस्मैपदी या आत्मनेपदी जैसी है प्र
सन् प्रत्ययान्त होने पर भी उसी पद में रहती है अतः 'पिपठिषति' में परस्
होता है तथा 'चिकीर्षति—चिकीर्षते'—यहाँ उभयपद होते हैं। (पिपठि
—इस सन्नन्त धातु के भी पठति' के समान सभी लकारों में निम्न प्रकार
रूप होते हैं :—

लट्—'पिपठिषति' । लिट्-'पिपठिषाञ्चकार' 'पिपठिषाम्बभूव', 'पिप
षामास' । लुट्—'पिपठिषिता' । लृट्—'पिपठिषिष्यति' । लोट्—पिपठि
लङ्-'अपिपठिषत्। विधिलिङ्–'पिपठिषेत्'। आशिषि लिङ्-'पिपठिष्यात
लुङ्—'अपिपठिषत्' । लृङ्—'अपिपठिषिष्यत्' ।

लुङ् इति—अद् धातु से सन् प्रत्यय करने पर 'लुङ्सनोर्घस्लृ' २।४।३

६१७ । सः स्यार्धधातुके ७।४।४९।। सस्य
र्धधातुके । अत्तुमिच्छति जिघत्सति । एकाच् इति
६१८ । अज्झनगमां सनि ६।४।१६।। अ
देशगमेश्च दीर्घो झलादौ सनि ।

इस सूत्र से अद् के स्थान में घस् (घस्लृ) आदेश हो
स' इस अवस्था में—

६१७. स इति—(सः+सि+आर्धधातुके) सकार क
है 'स' है आदि में जिसके (सादौ) ऐसा आर्धधातुक प
'घस्' के स् को त् होता है)

जिघत्सति—अत्तुमिच्छति (खाना चाहता है), इस
से सन् प्रत्यय होने पर अद् को घस् आदेश हो जाता है 'घस
में 'सः स्यार्धधातुके' से सकार को तकार होकर 'घत्स'-
अभ्यास के घ को ज तथा सन्यतः' से ज के अकार को इकार
सन्नन्त धातु बनती है । उससे लट् लकार में तिप्, शप्
रूप होता है ।

एकाच्—एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ७।२।१०।।

इस सूत्र के अनुसार 'घस् धातु से परे (सन् आदि) ।
नहीं होता । इ धातु से सन् प्रत्यय होने पर—

६१८. अज्झनेति—अच् (स्वर) है अन्त में जिसके ऐसी
और अजादेश गम् धातु (अर्थात् इण् आदि धातु के स्थान में
धातु)—इनको दीर्घ होता है झलादि सन् परे होने पर ।

टिप्पणी—(१) सूत्र में जो गम् है वह गम् का भी विधे
है अतः 'अजादेशगमेश्च' यह अर्थ किया गया है । इससे इण्
धातु के स्थान में जो गम् आदेश होता है उनका ग्रहण होता है
इङ् के कर्मवाच्य में जिगांस्यते तथा अधिजिगांस्यते—में 'ग' को

१. कर्तृवाच्य में तो इसके परे सन् को इट् हो जाता है अ
नहीं मिलता तथा जिगमिषति, अधिजिगमिषति—ये रूप हो

६१६ । इको झल् १।२।६॥ इगन्ताज्झलादिः सन् कित् स्यात् । ऋत इद्धातोः । कर्तुमिच्छति चिकीर्षति ।

६२० । सनि ग्रहगुहोश्च ७।२।१२॥ ग्रहेर्गुहेरुगन्ताच्च सन इण् न स्यात् बुभूषति ।

इति सन्नन्तप्रक्रिया

तथा इट् के कर्तृ वाच्य रूप 'अधिजिगांसते' में भी । (२) जब सन् प्रत्यय को इट नहीं होता तब वह झलादि (झल् है आदि में जिसके) होता है । इट् होने पर तो उसके आदि में 'इ' (अच्) होता है, अतः वह झलादि नहीं रहता ।

६१६. इक इति—इगन्त के आगे झलादि सन् कित् हो जाता है । (सन् के कित् हो जाने से कृ को गुण नहीं होता) कृ+सन् यहाँ कृ को दीर्घ होकर कॄ+सन् इस दशा में—

ऋत इति—ऋत इद्धातोः ७।१।१००॥ इस सूत्र के द्वारा उरण् रपरः १।१।५१॥ के सहकार से ॠकार के स्थान में इर् होता है ।

चिकीर्षति—कर्तुमिच्छति (करना चाहता है), इस विग्रह में कृ धातु से सन् प्रत्यय होकर कृ+स इस दशा में इट् न होने पर[1] 'अज्झनगमां सनि' से कृ को दीर्घ होकर गुण के अभाव[2] में 'ऋत इद्धातोः' से ॠ का इर् होकर किर्+स इस अवस्था में 'हलि च' से इकार को दीर्घ होकर कीर्स+ ऐसी दशा में द्वित्व अभ्यासकार्य तथा सकार को षकार 'चिकीर्ष' सन्नन्त धातु बनती है उससे 'चिकीर्षति' रूप बनता है ।

६२०. सनीति—ग्रह्, गुह् और उगन्त (उक् अर्थात् उ और ऋ हैं अन्त में जिसके) धातु से परे 'सन' प्रत्यय को इट नहीं होता ।

बुभूषति—भवितुमिच्छति (होना चाहता है) इस विग्रह में भू धातु से सन् प्रत्यय होकर 'सनिग्रहगुहोश्च' से इट् का निषेध होता है । 'इको झल्' से सन् कित् हो जाता है तथा गुण नहीं होता भू+स' इस अवस्था में द्वित्व,

---

१. एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ७।२।१०॥

२. 'इको झल्' से सन् कित् हो जाता है तथा 'क्ङिति च' सूत्र से गुण का निषेध हो जाता है ।

अथ यङन्तप्रक्रिया

६२१ । धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे य
पौनःपुन्ये भृशार्थे च द्योत्ये धातोरेकाचो हलादेर्यङ् स्यात्

६२२ । गुणो यङ्लुकोः ७।४।८२॥ अभ्यासस्य

अभ्यासकार्य[1] तथा सकार को षकार होकर बुभूष सन्नन्त धातु
लट् प्रथमपुरुष एकवचन में बुभूषति ।

टिप्पणी—कुछ प्रसिद्ध धातुओं के सन्नन्त रूप इस प्रकार हो
आप्—ईप्सति । गम्—जिगमिषति । घ्रा—जिघ्रासति । चि—चिचीषति
जि—जिगीषति । ज्ञा—जिज्ञासते । दा—दित्सति । दृश्—दिदृक्षते ।
पा—पिपासति । क्षुध्—बुभुत्सते । ब्रू—विवक्षति ते । भुज्—बुभुक्षते । मु
यज्—यियक्षति-ते । लभ्—लिप्सते । वस्—विवत्सति । शु
शुश्रूषते । स्तु—तुष्टूषति । स्मृ—सुस्मूर्षते । स्वप्—सुषुप्सति । हन्—
हा (त्यागना)—जिहासति ।

॥इति सन्नन्तप्रक्रिया ॥

यङन्तेति—यङ् प्रत्यय है अन्त में जिसके वह यङन्त धातु है ।
प्रक्रिया=यङन्तप्रक्रिया ।

६२१. धातोरिति—क्रिया का बार बार होना या अधिक हो
पुन्ये+भृशार्थे=क्रिया समभिहारे)[2] इस अर्थ को प्रकट करने के
धातु से, जिसमें एक ही स्वर हो तथा जिसके आदि में व्यञ्जन हो,
होता है । [यङ्' प्रत्यय से 'य' शेष रहता है. भू धातु जो ए
हलादि है उससे क्रियासमभिहार में यङ् प्रत्यय होकर 'सन्यङोः' ६
द्वित्व हो जाता है और 'भू भू य' इस अवस्था में—]

६२२. गुण इति—अभ्यास को गुण हो जाता है । यङ् प्रत्यय
पर तथा यङ् का लुक् हो जाने पर ।

---

१. 'भू' को द्वित्व होकर पूर्व भाग (अभ्यास) के ऊकार को उकार
तथा भकार को बकार (जश्त्व) हो जाता है ।

२. पौनः पुन्यं भृशार्थश्च क्रियासमभिहारः । सिद्धान्तकौमुदी ।

यङ्लुकि च परतः। ङित्त्वादात्मनेपदम्। पुनः पुनरतिशयेन वा भवति बोभूयते। बोभूयाञ्चक्रे। अबोभूयिष्ट।

[इससे अभ्यास को गुण होकर 'भोभूय' यहाँ अभ्यास के भ को ब[1] होकर 'बोभूय' यह यङन्त धातु[2] बनती है।]

ङित्त्वादिति—यङ् प्रत्यय के ङित् (ङकार है इत्संज्ञक जिसमें) होने से यङन्त धातु से आत्मनेपद[3] होता है।

बोभूयते—पुनः पुनः अतिशयेन वा भवति (बार बार या अधिक होता है)—इस विग्रह में भू धातु से यङ् प्रत्यय होने पर द्वित्व होकर 'भू भू य' इस अवस्था में अभ्यास को गुण (ओकार) तथा भकार को बकार (जश्त्व) होकर 'बोभूय' यह रूप होता है। इसकी 'सनाद्यन्ताः धातवः' से धातु संज्ञा होकर तथा ङित् होने से आत्मनेपद होने के कारण लट् लकार में बोभूय+ते→शप् होकर—बोभूय+अ+ते→य के अकार का शप् के अकार से पररूप होकर बोभूयते रूप बनता है।

टिप्पणी—(१) क्रियासमभिहार अर्थ में यङ् प्रत्यय विकल्प से होता है अतः पक्ष में वाक्य भी होता है जैसे—पुनः पुनः भवति अथवा अतिशयेन भवति (बोभूयते)। (२) यङन्त धातु के रूप सभी लकारों में होते हैं जैसे—लट्—बोभूयते। लिट्—बोभूयाञ्चक्रे। लुट्—बोभूयिता। लृट्—बोभूयिष्यते लोट्—बोभूयताम्। लङ्—अबोभूयत। विधिलिङ्—बोभूयेत। आशीर्लिङ्—बोभूयिषीष्ट। लुङ्—अबोभूयिष्ट। लृङ्—अबोभूयिष्यत। इनमें से बोभूयाञ्चक्रे तथा अबोभूयिष्ट की सिद्धि का प्रकार नीचे दिखलाया जा रहा है—

बोभूयाञ्चक्रे—(भू+यङ्+लिट्)—बोभूय+लिट् इस अवस्था में प्रत्ययान्त धातु होने से आम्[4] प्रत्यय होकर बोभूय+आम्+लिट्—यहाँ लिट्

---

१. अभ्यासे चर्च ८।४।५४॥ २. सनाद्यन्ता धातवः ३।१।३२॥
३. अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १।३।१२॥
४. कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि ३।१।३५॥

६२३ । नित्यं कौटिल्ये गतौ ३।१।२३ गत्यर्थ
यङ् स्यान्न तु क्रियासमभिहारे ।

६२४ । दीर्घोऽकितः ७।४।८३॥ अकितोऽभ्यासस
यङ्लुकोः । कुटिलं व्रजति वाव्रज्यते ।

का लुक्[1] हो जाने पर तथा कृञ् का अनुप्रयोग[2] होने पर कृ
लकार में जो आत्मनेपद[3] का रूप होता है (चक्रे आदि) वह जोड़
बोभूयाम+चक्रे→बोभूयाञ्चक्रे आदि रूप बनते हैं ।

अबोभूयिष्ट—(भू+यङ्+लुङ्) बोभूय+लुङ्→बोभूय+
त के मध्य में 'च्लि' होकर उसको सिच् हो जाता है—बोभूय+
को इट् (इ) आगम होकर बोभूय+इ+स्+त यङ् के अका
तथा स् को षत्व होने पर बोभूयिष्ट' रूप बनता है ।

६२३. नित्यमिति—गत्यर्थक धातु से कौटिल्य अर्थ में ही यङ्
है बार बार करने या अधिक अर्थ में नहीं ।

६२४. दीर्घ इति—अकित् अभ्यास को दीर्घ होता है यङ् प
तथा यङ् का लुक् होने पर ।

टिप्पणी—जिसका ककार इत्संज्ञक होता है वह कित् कहलात
अभ्यास को नीक् (पत्-पनीपत्यते) तथा नुक् (गम-जङ्गम्यते) आदि
हो जाता है वहाँ नीक तथा नुक के कित् होने के कारण अभ्यास
कहलाता है । जो कित् नहीं है वह अकित् कहलाता है ।

वाव्रज्यते—कुटिलं व्रजति (टेढ़ा चलता है)—इस विग्रह में गत्य
धातु से यङ् प्रत्यय होता है । व्रज्+यङ् द्वित्व होकर तथा अभ्यास
रह जाने पर 'व+व्रज्+य इस अवस्था में अभ्यास के अकार
(आकार) होकर 'वाव्रज्य' यङन्त धातु बनती है । इससे लट् प्र

---

१. यावः ३।४।८१॥ २. कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि ३।
३. आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य १।३।६३॥
४. अतो लोपः ६।४।४८॥

६२५। यस्य हलः ६।४।४९ यस्येति संघातग्रहणम्। हलः परस्य यशब्दस्य लोप आर्धधातुके। आदेः परस्य। अतो लोपः। वाव्रजाञ्चक्रे। वाव्रजिता।

एकवचन में वाव्रज्यते रूप बनता है।

वाव्रज्य + लिट् → वाव्रज्य + आम् + चक्रे इस दशा में—

६२५. यस्येति—व्यञ्जन (हल्) से परे 'य' शब्द का लोप हो जाता है आर्धधातुक परे होने पर।

(सूत्र में) 'यस्य' यह यकार (य्) तथा अकार (य्+अ=य) के समुदाय ग्रहण किया गया है।

आदेरिति—आदेः परस्य १।१।५४ के अनुसार 'य' समुदाय के आदि भाग केवल यकार) का लोप होता है।

अत इति—अतो लोपः ६।४।४८। (अर्थात् आर्धधातुक के उपदेश काल) जो अदन्त अङ्ग उसके अकार का लोप होता है आर्धधातुक परे होने पर) अकार का लोप हो जाता है।

वाव्रजाञ्चक्रे—(व्रज्+यङ्+लिट्)—वाव्रज्य+लिट्, लिट् परे होने आम् प्रत्यय होता है तथा लिट् का लोप होकर कृ धातु के लिट् लकार के चक्रे का अनुप्रयोग होकर वाव्रज्य+आम्+चक्रे—यहाँ पर 'आदेः परस्य' सहायता से 'यस्य हलः' सूत्र के द्वारा यकार का लोप तथा 'अतो लोपः' से र का लोप होकर वाव्रजाञ्चक्रे रूप बनता है।

वाव्रजिता—(व्रज्+यङ्+लुट्)—वाव्रज्य+तास्+डा[1] इस दशा में को इट् का आगम होता है तथा उपर्युक्त रीति से यकार और अकार का होकर वाव्रज्+इ+तास्+आ यहाँ आस् (टिसंज्ञक) का लोप[2] हो

---

१. लुटः प्रथमस्य डारौरसः' २।४।८५॥ सूत्र के अनुसार लुट् के प्रथमपुरुष एकवचन में तिप् के स्थान में 'डा' हो जाता है तथा 'स्यतासी लृलुटोः ।३॥ से धातु और प्रत्यय के बीच 'तास्' आ जाता है।

. 'डा' में आ शेष रहता है और इसके 'डित्' होने से तास् के आस् भाग (टि) का लोप हो जाता है।

६२६ । रीगृदुपधस्य च ७।४।९०॥ ऋदुपधस्य रीगागमो यङ्यङ्लुकोः। वरीवृत्यते। वरीवृताञ्चक्रे

६२७ । क्षुम्नादिषु च ८।४।३९॥ णत्वं न जरीगृह्यते।

॥ इति यङन्तप्रक्रिया ॥

आने पर वाव्रज + इ + त + आ → वाव्रजिता रूप बनता है।

६२६. रीगिति—ऋकार है उपधा में जिसके ऐसी धातु रीक् का आगम होता है यङ् परे होने पर तथा यङ् लुक् होने

वरीवृत्यते—पुनः-पुनः अतिशयेन वा वर्तते (बार बार या होता है)—इस विग्रह मे वृत् धातु से यङ् प्रत्यय होकर द्वित्व हो वृत् + य—इस अवस्था में अभ्यास को रीक् का आगम होता है शेष रहता है) तथा 'वरीवृत्य' यह यङन्त धातु बन जाती है। इस मे 'वरीवृत्यते' रूप बनता है।

वरीवृताञ्चक्रे—(वृत् + यङ् + लिट्) वरीवृत्य + आम् + और अकार या (उपर्युक्त रीति से) लोप होकर वरीवृताञ्चक्रे।

वरीवृतिता—(वृत् + यङ् + लुट्) वरीवृत्य + तास् + डा → व समान वरीवृतिता रूप बन जाता है।

६२७. क्षुम्नादिष्विति—क्षुम्न आदि शब्दों में णत्व अर्थात णकार नहीं होता।

टिप्पणी—'क्षुम्न आदि शब्द गण पाठ में दिये गये हैं। उनमें नियम के अनुसार नकार को णकार प्राप्त होता है उसका इस सूत्र किया गया है।

नरीनृत्यते-पुनः पुनः अतिशयेन वा नृत्यति (बार-बार या अधिक है)-इस विग्रह मे नृत् धातु से यङ् प्रत्यय होता है। द्वित्व तथा अभ रीक् का आगम होकर 'वरीवृत्य' के समान ही 'नरीनृत्य' यङन्त धातु है। यहाँ रेफ से आगे होने के कारण 'नृत्य' के नकार को णकार होन

अथ यङ्लुक्प्रक्रिया

६२८। यङोऽचि च २।४।७४॥ यङोऽचि प्रत्यये लुक् स्यात् चकारात्तं विनापि क्वचित्। अनैमित्तिकोऽयम् अन्तरङ्गत्वादादौ भवति।

होता है' किन्तु क्षुभ्नादिषु च से उसका निषेध हो जाता है। नरीनृत्य से लट् लकार के प्रथम पुरुष एकवचन में नरीनृत्यते।

जरीगृह्यते—पुनः पुनः अतिशयेन वा गृह्णाति (बार बार या अधिक ग्रहण करता है) इस विग्रह में ग्रह् धातु से यङ् प्रत्यय होकर द्वित्व तथा अभ्यास—कार्य' होकर जरीगृह्य' यङन्त धातु बनती है उससे जरीगृह्यते।

टिप्पणी—कुछ अन्य प्रसिद्ध धातुओं के यङन्त रूप इस प्रकार होते हैं—अट्–अटाट्यते। कृ–चेक्रीयते। गम्–जङ्गम्यते। गा–जेगीयते। घ्रा–जेघ्रीयते। चि–चेचीयते। चर्–चञ्चूर्यते। जि–जेजीयते। जन्–जाजायते। दा–देदीयते। धा–देधीयते। पत्–पनीपत्यते। पठ्–पापठ्यते। प्रच्छ्–परीपृच्छ्यते। वस्–वावस्यते। शी–शाशय्यते। स्मृ–सास्मर्यते। ह्वृ–जेह्रीयते। हा–जेहीयते। इत्यादि।

॥ इति यङन्तप्रक्रिया ॥

यङ्लुक् इति– यङ् प्रत्यय का लुक् हो जाने पर भी प्रत्यय लक्षण से सनाद्यन्त मानकर जिसकी धातु संज्ञा होती है वही यङ्लुक् धातु है। यङ्लुक् की प्रक्रिया को यङ्लुक् प्रक्रिया कहा जाता है।

६२८. यङ इति—अच् प्रत्यय परे होने पर यङ् का लोप हो जाता है।

चकारादिति—सूत्र में 'च' (=भी) कहने से उस (अच् प्रत्यय) के बिना भी कहीं यङ् का लोप हो जाता है।

---

१. अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८।४।२॥

२. अभ्यास में गकार को जकार (कुहोश्चुः ७।४।६२) भी हो जाता है।

३. यहाँ 'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च' ६।१।१६ इस सूत्र से रेफ के स्थान में ऋकार (सम्प्रसारण) हो जाता है।

ततः प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वाद् द्वित्वम् । अभ्यासकार्यम् ।
दयः । शेषात् कर्तरीति परस्मैपदम् । चर्करीतं चेत्यदादौ पा

६२९ । यङो वा ७।३।९४॥ यङ्लुगन्तात्परस्
सार्वधातुकस्येड् वा स्यात् । भूसुवोरिति गुणनिषेधो यङ्लु

अनैमित्तिक इति – यह यङ् का लुक् (लोप) बिना किसी
है अतएव यह अन्तरङ्ग है तथा अन्तरङ्ग होने से (किसी अन्य प्र
से) पहले ही हो जाता है।

तत इति - तब (यङ् का लोप होने पर) प्रत्ययलोपे
१।१।६२॥) अर्थात् प्रत्यय का लोप हो जाने पर उस प्रत्यय पर
जाता है) इस सूत्र के अनुसार द्वित्व हो जाता है। फिर अभ्यास
तथा धातुसंज्ञा[1] होने पर लट् आदि होते हैं।

शेषादिति—शेषात् कर्तरि परस्मैपदम् १।३।७८॥ इसके
(यङ्लुक् में) परस्मैपद होता है।

चर्करीतमिति—अदादि गण में 'चर्करीतं च' यह पढ़ा ग
'चर्करीत' यङ् लुक् को कहते हैं) अतएव यङ् लुक् में शप्[2] का लो
जाता है।

६२९. यङोवेति—यङ् लुगन्त से आगे ऐसे सार्वधातुक[4] प्रत्यय
आदि में हल् हो तथा जिसका पकार इत्संज्ञक हो विकल्प से इट् क
जाता है। ['तिप्' ऐसा ही सार्वधातुक है]

भूसुवोरिति – भूसुवोस्तिङि ७।३।८८ (अर्थात् भू और सू धा
तुक तिङ् परे होने पर गुण नहीं होता। इसके अनुसार यङ् लुक्
एए निषेध नहीं होता, क्योंकि 'बोभूतु तेतिक्ते' इत्यादि[5] के द्वारा

---

१. सनाद्यन्ताः धातवः ३।१।३२॥
२. कर्तरि शप् ३।१।६८॥ ३. अदिप्रभृतिभ्यः शपः २।
४. तिङ् शित्सार्वधातुकम् ३।४।११३॥
५. दाधर्तिदर्धर्तिदर्धर्षिबोभूतुतेतिक्ते० ७।४।६५॥

बोभूतुतेतिक्ते' इति छन्दसि निपातनात् । बोभवीति, बोभोति । बोभूतः ।, अदभ्यस्तात् । बोभुवति बोभवाञ्चकार-बोभवामास । बोभविता बोभ-

---

निषेध का निपातन किया गया है । [यदि 'भुसुवोस्तिङि' सूत्र से यङ्लुक् में गुण-निषेध हो जाता तो इस निपातन की आवश्यकता नहीं थी । यह गुण-निषेध वेद में ही दिखलाया गया है । अतः इससे सूचित होता है कि भाषा में गुण हो ही जाता है] ।

बोभवीति-बोभोति - पुनः पुनः अतिशयेन वा भवति (बार बार या अधिक होता है) इस विग्रह मे 'भू' धातु से यङ् होकर उसका 'यङोऽचि च' से लुक् हो जाता है । तब लुप्त प्रत्यय के निमित्त से इसे यङन्त मानकर 'भू' शब्द का द्वित्व और अभ्यास कार्य[1] होकर 'बोभू' यह यङ्लुगन्त धातु बनती है । इससे परस्मैपद के लट् लकार में 'बोभू + ति' यह अवस्था हो जाती है । यहाँ जो शप् प्राप्त होता है उसका लुक् हो जाता है तथा यङो वा' से विकल्प से ईट्, उत्तर भाग को गुण[2] (उ को ओ) तथा 'अव्' आदेश होकर 'बोभवीति' रूप बनता है 'ईट्' न होने पर 'बोभोति' रूप होता है ।

बोभूतः—बोभू + तस् (ईट् तथा गुण के अभाव में) बोभूतः ।

टिप्पणी—पिद् सार्वधातुक को ही ईट् का आगम होता है किन्तु तस् पिद् नहीं है अतः ईट् नहीं होता । पिद् न होने से ही तस् ङित के समान[3] हो जाता है । और उसके परे होने पर गुण नहीं होता ।

अदभ्यस्तादिति—अदभ्यस्तात् ७।१।४॥ अभ्यस्त से आगे झ् को अत् आदेश होता है ।

बोभुवति—यङ्लुगन्त 'बोभू' धातु से प्रथम पुरुष के बहुवचन में 'बोभू +झि' इस अवस्था मे झ् को अत् आदेश होकर 'बोभू+अति' यह स्थिति

---

१. अभ्यास को गुणो यङ्लुकोः' ७।४।८२ से गुण हो जाता है ।

२. सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।३।८४॥

३. सार्वधातुकमपित् १।२।४॥

४. विदति च १।१।५॥

विष्यति । बोभवीतु-बोभोतु-बोभूतात् । बोभूताम् । बोभुव

है । यहाँ बोभूतः के समान ही ईट् तथा गुण नहीं होते और ऊका (उव्) होकर बोभुव्+अति → बोभुवति रूप बनता है ।

बोभवाञ्चकार-बोभवामास—यङ्लुगन्त बोभू प्रत्ययान्त घ लिट् में 'आम्' हो जाता है तथा कृ के परस्मैपदी रूप 'चकार' होकर बोभवाञ्चकार रूप बनता है । अस् धातु का अनुप्रयोग होने मास रूप होता है ।

बोभविता—भू+यङ्लुक+लुट्→बोभू+तास्+डा । इट् तथा धातु के ऊकार को गुण (ओ) और अवादेश होकर ब बनता है ।

बोभविष्यति—भू+यङ्लुक्+लृट्→बोभू+स्य+ति । अवादेश होकर बोभव्+इ+स्य+ति तथा सकार को षकार बो

बोभवीतु-बोभोतु+(भू+यङ्लुक्+लोट्) बोभवीति-बोभोति सब कार्य होता है ति प्रत्यय के इ को (एरुः ३।४।८६ से) उ बोभवीतु-बोभोतु रूप बनते हैं ।

बोभूतात्—भू+यङ्लुक्+लोट् (आशिषि)—बोभू+तु—इस तु को आशिषि अर्थ मे तात्[1] आदेश होकर बोभूतात् रूप बनता है

बोभूताम्—यङ्लुगन्त बोभू से लोट् प्रथम पुरुष के द्विवचन स् इस अवस्था मे तस् को ताम्[2] आदेश होकर बोभूताम् रूप बनता है

बोभुवतु—(बोभू+लोट् प्रथम पुरुष बहुवचन)—बोभू+झि तात्[3] से झ् को अत् तथा 'एरुः' से इकार को उकार होकर बोभू+ वस्था में ऊकार को उवङ् होकर बोभुव+अतु→बोभुवतु रूप होता है

१. अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६।४।७७॥
२. तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम् ७।१।३५॥
३. तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः ३।४।१०१॥

बोभवानि । अबोभवीत्-अबोभोत् । अबोभूताम् । अबोभवु. बोभूयात्
बोभूयाताम्, बोभूयुः । बोभूयात्, बोभूयास्ताम्, बोभूयासुः । गतिस्थै

बोभूहि—(बोभू + लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन)—बोभू + सि → सि को हि आदेश होकर बोभूहि रूप बनता है।

बोभवानि—(बोभू + लोट् उत्तमपुरुष एकवचन)—बोभू + मि → मि को (मेर्निः ३।४।८९) आदेश होकर बोभू + नि — यहाँ पर नि को (आडुत्तमस्य पिच्च ३।४।९२) से आट् का आगम होता है। आट् पित् है अतः यह ङित् न होता तथा ऊकार को गुण और अव् आदेश होकर बोभव् + आ + नि बोभवानि रूप बनता है।

अबोभवीत्-अबोभोत्—(बोभू + लङ् प्र० पु० एक०) अ + बोभू + विकल्प से ईट् का आगम होकर गुण तथा अवादेश होते हैं और अबोभवी रूप बनता है। ईट् न होने पर अबोभोत् रूप होता है।

अबोभूताम्—(बोभू + लङ् प्र० पु० द्वि०)—अ बो भू + तम् → अबो ताम् (यहाँ तस् अपित् सार्वधातुक है अतः उसे ङिद्वद् हो जाने से ऊ को गु नहीं होता)।

अबोभवुः—(बोभू + लङ् प्र० पु० बहु०)—अ बोभू + झि इस अवस् में झि को सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ३।४।१०९ इस सूत्र के अनुसार जुस् आ हो जाता है तथा जुसि च ७।३।८३ से गुण होकर अवादेश हो जाता है अबोभवुः रूप बनता है।[2]

बोभूयात्—(बोभू + विधिलिङ् प्र० पु० एक०)—बोभू + यास (यासु + त् इस अवस्था में 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' ७।२।७९। इससे 'यास' के स् लोप होकर बोभूयात् रूप बनता है।

बोभूयाताम्—(बोभू + विधिलिङ् प्र० पु० द्वि०)—बोभू + यास् + त स लोप होकर बोभूयाताम् रूप बनता है।

---

१. सेर्ह्यपिच्च ३।४।८७। हि के अपित् होने से ङित् हो जाने के का गुण नहीं होता।

२. यहाँ 'अबोभूवुः' रूप शुद्ध नहीं। 'अबोभवुः' यही प्रामाणिक पाठ है।

सिचो लुक्। भुवो वेतीट् पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्व
वीत्-अबोभोत्, अबोभूताम्, अबोभूवुः। अबोभविष्यत्।

॥ इति यङ्लुक्प्रक्रिया ॥

बोभूयुः—(बोभू+विधिलिङ् प्र० पु० बहु०)—बोभू+
अवस्था में झि को झेर्जुस् ३।४।१०८ से जुस् आदेश हो
सकार का लोप होकर बोभू+या+उस् इस अवस्था मे
६।१।९६ से या' के आकार को पररूप होकर बोभूयुः रूप बनत

बोभूयात्—(बोभू+आशिषि लिङ् प्र० पु० एक०)
इस अवस्था में (स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' ८।२।२९) सकार
बोभूयात्।

बोभूयास्ताम्—(बोभू+आ० लिङ्० प्र० पु० द्वि०) बोभू
यहाँ सकार का लोप नहीं होता। ('लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य'
ही लोप होता है और 'आशिषि लिङ् आर्धधातुक' है) तथा
बनता है।

बोभूयासुः—(बोभू+आ० लिङ् प्र० पु० बहु०) बोभू+
बोभू+यास्+उस्→बोभूयासुः।

गातिस्थेति—(बोभू+सिच्+लुङ्—इस अवस्था में) गा
स्थिः परस्मैपदेषु २।४।७७ इस सूत्र से 'सिच्' का लुक् (लोप) हो

भुवइति—भुवो वा ७।३।९४ से ईट् होने के पक्ष में (सार्व
कयोः से प्राप्त) गुण को बाध कर नित्य होने के कारण वुक् हो

अबोभूवीत्-अबोभोत् – (बोभू+लुङ् प्र० पु० एक०)—
सिच्+त इस अवस्था में सिच् का लुक् होकर विकल्प से

---

१. लिङाशिषि ३।४।११६। इसकी आर्धधातुक संज्ञा होती है।
२. भुवो वुको नित्यत्वात्, यह महाभाष्य का वचन है अर्था
लिङ् परे होने पर गुण करने या न करने पर दोनों
प्राप्त होता है अतः वह नित्य है। (कृताकृतप्रसङ्गी नित्य

होता है अबोभू + ई + त यहाँ गुण को बाधकर वुक्[1] हो जाता है तथा अबोभू व् + ईत् → अबोभूवीत् रूप बनता है। ईट् न होने पर गुण होकर अबोभोत् रूप होता है।

अबोभूताम्—(बोभू + लुङ् प्र० पु० द्वि०) —अबोभू + सिच् + ताम् → सिच् का लोप होकर अबोभूताम् रूप बनता है।

अबोभूवु—(बोभू + लुङ् प्र० पु० बहु०) अबोभू + सिच् + झि → सिच् का लोप होकर झि को (सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च से) जुस् होकर अ बोभू + उस् इस अवस्था मे वुक् का आगम होकर अबोभूवुः रूप बनता है।

अबोभविष्यत्—(बोभू + लृङ् प्र० पु० एक०) अ + बोभू + इट् + स्य + त् इस अवस्था मे ऊकार को गुण, अव् आदेश होकर अबोभव् + इ + स्य + त् → स् को ष् अबोभविष्यत् रूप बनता है।

टिप्पणी—इसी प्रकार कुछ अन्य धातुओं के यङ्लुगन्त रूप इस प्रकार होते हैं—

दा—दादाति, दादेति। मुद्—मोमुदीति, मोमोत्ति। कूर्द—चोकूर्दीति, चोकूर्ति। गम्—जङ्गमीति, जङ्गन्ति। हन्—जङ्घनीति, जङ्घन्ति। चर्—चञ्चुरीति, चञ्चूर्ति। हा—जाहेति, जाहाति। स्वप्—सास्वपीति, सास्वप्ति। कृ—चर्करीति, चरिकरीति, चरीकरीति, चर्कर्ति, चरिकर्ति, चरीकर्ति। इत्यादि।

॥ इति यङ्लुक् प्रक्रिया ॥

नामधातव इति—नाम अर्थात् प्रातिपदिक या सुबन्त से प्रत्यय जोड़कर जो धातु बनाई जाती है वे नामधातु कहलाती हैं। इन धातुओं के विविध अर्थ होते हैं क्योंकि प्रातिपदिक या सुबन्त से अनेक अर्थों मे प्रत्यय किये जाते है। जैसे—

---

१. भुवो वुग्लुङ् लिटोः ६।४।८८। अर्थात् अजादि लुङ् और लिट् परे होते पर भू · · होता है। वुक् में व् शेष रहता है।

६३० । सुप् आत्मनः क्यच् ३।१।१८॥ इ
सम्बन्धिनः सुबन्तादिच्छायामर्थे क्यच् प्रत्ययो वा स्यात्।

६३१ । सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७१॥ ध
सुपो लुक्।

६३२ । क्यचि च ७।४।३३॥ अवर्णस्य ईः। ॥
मिच्छति पुत्रीयति

---

६३० सुप इति—इच्छा का कर्म तथा इच्छा के कर्ता से
वाला जो सुबन्त उससे इच्छा अर्थ में विकल्प से क्यच् होता है।

टिप्पणी—'आत्मनः पुत्रम् इच्छति'—अपना (अपने लिये,
है यहाँ इच्छा का कर्म है–पुत्र तथा वह चाहने वाले से सम्ब
क्योंकि चाहने वाला अपना पुत्र चाहता है; इसलिये 'पुत्र' श
प्रत्यय होता है। यदि कोई दूसरे का पुत्र चाहता है तो वहाँ '
क्यच् प्रत्यय नहीं होता। क्यच् में 'य' शेष रहता है। क्यच् प्र
परस्मैपदी होती हैं।

पुत्र+अम्+य (क्यच्) इस अवस्था में।

६३१ सुपो धात्विति—धातु और प्रातिपदिक के अवयव सु
हो जाता है। [पुत्र+अम्+य' की सनाद्यन्ताः धातवः ३।१।३
संज्ञा होती है अतः यहाँ अम् का लुक् हो जाता है और पुत्र+
जाता है]

६३२ क्यचीति—क्यच् प्रत्यय परे होने पर अवर्ण का ई हो
इससे पुत्र के अकार को ईकार होकर 'पुत्रीय' नामधातु बनती है।
लट् लकार में तिप्, शप् होकर पुत्रीयति]।

पुत्रीयति—पुत्रमात्मनः इच्छति (अपना पुत्र चाहता है)—इस
शब्द से क्यच् प्रत्यय होकर पुत्र+य इस अवस्था में अकार को ईका
और 'पुत्रीय' नामधातु बन जाती है। उससे लट् प्रथमपुरुष के ए
पुत्रीय+अ (शप्)+ति→अ+अ=अ ('अतो गुणे', से पररूप)
रूप बनता है।

टिप्पणी—नामधातु के रूप सब लकारों में इस प्रकार होते हैं—

६३३ नः क्ये १।४।१५॥ क्यचि क्यङि च नान्तमेव पद नान्यत् । नलोपः । राजीयति । नान्तमेवेति किम् । वाच्यति । हलि च । गीर्यति । पूर्यति धातोरित्येव नेह—दिवमिच्छति दिव्यति ।

लट्–पुत्रीयति । लिट्–पुत्रीयाञ्चकार इत्यादि । लुट्–पुत्रीयिता । लृट्–पुत्रीयिष्यति । लोट्–पुत्रीयतु । लङ्–अपुत्रीयत् । विधिलिङ्–पुत्रीयेत् । आशिषि लिङ्–पुत्रीय्यात् । लुङ्–अपुत्रीयीत् । लृङ्–अपुत्रीयिष्यत् ।

६३३. न इति—क्यच् और क्यङ् प्रत्यय परे होने पर नकारान्त शब्द ही पद संज्ञक होता है अन्य नहीं ।

न लोप इति—'राजन्+क्यच्' इस अवस्था में ऊपर के सूत्र से 'राजन्' की पद संज्ञा होने से 'नः लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' ८।२।७ से नकार का लोप हो जाता है

राजीयति—राजानमात्मनः इच्छति (अपना राजा चाहता है) इस अर्थ में राजन्+अम्+य (क्यच्) इसको 'सनाद्यन्ता धातवः' से धातुसंज्ञा होकर अम् का लोप होता है तथा 'नः क्ये' से राजन् की पदसंज्ञा होकर नकार का लोप हो जाता है 'राज+य' इस दशा में 'क्यचि च' से अकार को ईकार होकर 'राजीय' नामधातु बनती है । उससे लट् लकार प्रथमपुरुष के एकवचन में 'राजीयति' रूप बनता है ।

नान्तमेवेति—नान्त की ही पदसंज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा गया है ? इसलिये कि वाच्यति, यहाँ पर 'वाच्' शब्द की पदसंज्ञा नहीं होती । वाचमात्मनः इच्छति इस अर्थ में 'वाच्+य (क्यच्)' इस दशा में (वाच्)' की पदसंज्ञा न होने से चकार को 'चोः कुः' ८।२।३० से कुत्व (ककार) नहीं होता 'झलां जशोऽन्ते' ८।२।३९ से जश्त्व भी नहीं होता और 'वाच्यति' रूप बनता है ।

हलि चेति—गिर्+य, पुर्+य–इस अवस्था में हलि च ८।२।७७ (जिस धातु के अन्त में रेफ या वकार होता है उसकी उपधा को दीर्घ हो जाता है) इस सूत्र से गिर् के इकार [illegible] दीर्घ होता है ।

गीर्यति [illegible])—इस अर्थ में

६३४ । क्यस्य विभाषा ६।४।५०॥ हलः परस्
लोपो वार्धधातुके । ग्रादेः परस्य । ग्रतो लोपः । तस्य स्
घूपधगुणो न । समिधिता । समिध्यिता ।

गिर्+ग्रम्+य (क्यच्) यहाँ ग्रम् का लोप होकर 'हलि
दीर्घ (ईकार) हो जाता है तथा 'गीर्य' नामधातु बनती है
रूप होता है ।

पूर्यति – पुरमात्मनः इच्छति, (ग्रपना नगर चाहता है) पु
धातोरिति—'हलि च' इस सूत्र से धातु की उपधा को
गिर्' ग्रौर 'पुर्' शब्द 'गृ निगरणे' तथा पृ पालनपूरणयोः'
प्रत्यय होकर बने हैं तथा यह सिद्धान्त है कि क्विप् प्रत्ययान्त
का त्याग नहीं करते (क्विब्विजन्ता न धातुत्वं जहति) ग्रतः गी
दीर्घ हो जाता है। किन्तु 'दिवमात्मनः इच्छति'→'दिव्यति'
होता, क्योंकि यहाँ 'दिव्' क्विबन्त या विजन्त नहीं हो सकत
ही प्रातिपदिक है । इसलिये यहाँ 'दिव्' धातु नहीं कहला सकती ।

६३४. क्यस्येति—हल् (व्यञ्जन) से परे क्यच् ग्रौर क्यङ
से लोप हो जाता है, ग्रार्धधातुक परे होने पर ।

ग्रादेरिति—ग्रादेः परस्य १।१।५४॥ के ग्रनुसार यह लोप
के ग्रादि ग्रर्थात् यकार का होता है ।

ग्रत इति—ग्रतो लोपः ६।४।४८ से शेष ग्रकार का लोप हो
तस्येति—उस ग्रकार के लोप को स्थानिवद् भाव होने से
हीं होता ग्रर्थात् समिध्+इ+ता' इस ग्रवस्था में समिध् के
ए प्राप्त है। समिध्य+इ+ता, इस दशा मे धकार से ग्रागे
ा लोप हुग्रा है उसको लोप न हुग्रा सा मान लिया जाता है
ब्द नहीं रहता (क्योंकि उपधा में धकार दिखाई देता है ग्रौर गुण
समिधिता-समिध्यिता—समिधमात्मनः इच्छति (समिधा ग्र
)—इस ग्रर्थ मे 'समिध् से क्यच् प्रत्यय होकर समिध्य' ना
। इससे लुट् लकार के प्रथम पुरुष के एकवचन में समि

६३५। काम्यच्च ३।१।९॥ उक्तविषये काम्यच् स्यात्। पुत्र-मात्मन इच्छति पुत्रकाम्यति। पुत्रकाम्यिता।

६३६। उपमानादाचारे ३।१।१०॥ उपमानात् कर्मणः

ता→समिध्य+ता→इट् होकर समिध्य+इ+ता इस अवस्था में 'यस्य विभाषा' से विकल्प से यकार का लोप और 'अतो लोप.' से अकार का लोप होकर समिधिता रूप बनता है। यकार का लोप न होने पर अकार का लोप होकर 'समिध्यिता' रूप होता है।

६३५. काम्यच्चेति—क्यच् के अर्थ में ही काम्यच् प्रत्यय होता है।

['काम्यच्' मे चकार का लोप हो जाता है और काम्य शेष रहता है काम्यच् प्रत्ययान्त धातु परस्मैपद मे होती है।]

पुत्रकाम्यति—पुत्रमात्मनः इच्छति, इस अर्थ में काम्यच् प्रत्यय होता है, पुत्र+अम्+काम्य' इसकी 'सनाद्यन्ताः धातवः' से धातु संज्ञा होकर 'अम्' का लोप होता है और 'पुत्रकाम्य' यह नामधातु बन जाती है। इससे लट् के प्रथमपुरुष एकवचन में पुत्रकाम्यति।

पुत्रकाम्यिता—पुत्रकाम्य+लुट् प्रथम पुरुष एकवचन। पुत्रकाम्य+इ (इट्)+ता→काम्य के अन्तिम अकार का लोप (अतो लोपः) होकर पुत्र-काम्यिता।

विशेष—इच्छार्थ क्यच् और काम्यच् प्रत्यय करके अन्य शब्दों के रूप भी इसी प्रकार बन जाते हैं, जैसे—मालामात्मनः इच्छति मालीयति तथा मुनीयति, साधूयति, कवीयति। गामात्मनः इच्छति—गव्यति। अश्वीयति। वृषीयति इत्यादि। काम्यच्—धनमात्मन. इच्छति—धनकाम्यति। इसी प्रकार यशस्काम्यति, सर्पिष्काम्यति, स्वः काम्यति इत्यादि।

६३६. उपमानादिति—उपमान रूप कर्म सुबन्त से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय होता है।

टिप्पणी—आचार का अर्थ है व्यवहार करना। जो सुबन्त उपमान होता तथा आचार का कर्म होता है उससे यह क्यच् होता है। यह आचार-क्यच् कहलाता है, 'सुप आत्मनः क्यच्' से बतलाया गया क्यच् इच्छा-क्यच् है। दोनों के अर्थ में ही भेद होता है, रूप तो समान ही होते हैं।

सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यच् । पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति छा:
द्विजम् ।

*** सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः ॥**

कृष्ण इवाचरति कृष्णति । स्व इवाचरति स्वति । सस्व

पुत्रीयति छात्रम्—छात्रं पुत्रमिवाचरति (छात्र से
करता है)—इस अर्थ में 'उपमानादाचारे' से क्यच् प्रत्यय हो
क्यच्→'पुत्रीय' नामधातु बनती है । उससे पुत्रीयति रूप ब

विष्णूयति द्विजम्—द्विज विष्णुमिवाचरति (ब्राह्मण से
व्यवहार करता है)-इस अर्थ मे आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय
य' इस अवस्था मे 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ७।४।२५ इस सू'
दीर्घ होकर 'विष्णूय' नामधातु बनती है । उससे विष्णूयति रू

सर्वेति—(या) सब प्रातिपदिकों से आचार अर्थ मे वि
प्रत्यय हो जाता है, यह कहना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) क्विप् प्रत्यय मे ककार की 'लशक्वतद्धि
इकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १।३।२ से और पकार की '
से इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है । शेष बचे हुए वकार
६।१।६७ स लोप होता है । इस प्रकार समस्त क्विप्' का लो
जो सर्वापहार कहलाता है (२) 'उपमानादाचारे' सूत्र के
वाची कर्म सुबन्त से क्यच् प्रत्यय होता है किन्तु 'सर्वप्राति
वार्तिक के अनुसार उपमानवाची कर्ता प्रातिपदिक से क्विप्
यह दोनों का अन्तर है ।

कृष्णति—कृष्ण इवाचरति (कृष्ण के समान आचरण
अर्थ में कृष्ण प्रातिपदिक से क्विप् होकर क्विप् का लोप (
जाता है । अब कृष्ण की 'सनाद्यन्ताः धातवः' से धातु संज्ञा हो
कि कृष्ण+अ (शप्)+ति इस अवस्था में 'अतो गुणे' से कृष्ण
कार का शप् के अकार से पररूप होकर 'कृष्णति' रूप बनता है

स्वति—स्व इव आचरति (अपने समान आचरण करता

६३७। अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति ६।४।१५॥
अनुनासिकान्तस्योपधाया दीर्घः स्यात्, क्वौ झलादौ च क्ङिति।
इदमिवाचरति इदामति। राजेव राजानति। पन्था इव पथीनति।

में 'स्व' प्रातिपदिक से क्विप् प्रत्यय होकर उसका लोप हो जाता है तब 'स्व' नामधातु बनती है और इससे लट् प्रथम पुरुष एकवचन में 'स्वति' रूप बनता है।

सस्वौ—क्विप् प्रत्ययान्त नामधातु 'स्व' से लिट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में स्व+णल् (अ) 'स्व' के अकार को वृद्धि[1] (आकार) होकर 'स्वा+अ' इस अवस्था में णल् के स्थान मे 'औ'[2] हो जाता है। स्वा+औ —यहाँ द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर स+स्वा+औ→(आ+औ=औ) स+स्वौ→सस्वौ' यह रूप बनता है।

६३७. अनुनासिकस्येति—अनुनासिक है अन्त मे जिसके ऐसे (अङ्ग) की उपधा को दीर्घ होता है क्वि तथा झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर।

इदामति—इदमिव आचरति (इसके समान आचरण करता है)—इस अर्थ मे 'इदम्' प्रातिपदिक से क्विप् प्रत्यय होकर इदम्+क्विप्, यहाँ अनुनासिकस्य० इस सूत्र से इदम् की उपधा (अर्थात् दकार से पर अकार) को दीर्घ हो जाता है तथा क्विप् का लोप हो जाने पर 'इदाम्, यह नामधातु बनती है। इससे लट् लकार मे इदाम्+अ (शप्)+ति→इदामति रूप बनता है।

राजानति—राजेव आचरति (राजा के तुल्य आचरण करता है) इस अर्थ में राजन्+क्विप्→दीर्घ होकर 'राजान्' नामधातु बनती है। इससे राजानति रूप बन जाता है।

पथीनति—पन्था इव आचरति (मार्ग के समान आचरण करता है)— इस अर्थ मे पथिन्+क्विप्→उपधा को दीर्घ होकर 'पथीन्' यह नामधातु बनती है।

विशेष—यहाँ आचारार्थ में दो प्रत्यय बतलाये गये हैं—(१) क्यङ् और (२) क्विप्। इन प्रत्ययों मे अन्य कुछ शब्दों के रूप इस प्रकार होते हैं—

१. अचोञ्णिति ७।२।११५। २. आत औ णलः ७।१।३४॥

६३८ । कष्टाय क्रमणे ३।१।१४॥ चतुर्थ्यं
दुत्साहेऽर्थे क्यङ् स्यात् । कष्टाय क्रमते कष्टायते ।
इत्यर्थः ।

६३९ । शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे

क्यच्—(अधिकरण में)-कुट्या प्रासादे इवाचरति-प्रा
भिक्षुः । इसी प्रकार कुटीयति प्रासादे राजा । क्विप्
मालाति । पितेव आचरति पितरति इत्यादि । इनके अतिरिक्त
क्यङ् प्रत्यय भी होता है, जैसे—कृष्ण इव आचरति कृ
आचरति कुमारीयते इत्यादि ।

६३८. कष्टायेति - चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से उत्साह अर्थ
होता है ।

टिप्पणी—(१) क्यङ् प्रत्यय मे ककार और ङकार क
लोप हो जाता है और 'य' शेष रहता है । (२) ङित् (ङ
जिसका) होने से 'क्यङ्' प्रत्ययान्त नाम धातु आत्मनेपदी होती

कष्टायते—कष्टाय क्रमते (पाप करने को उत्साह करता
में चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से क्यङ् प्रत्यय होकर कष्ट+ङे+क्य
में धातु संज्ञा होकर 'ङे' का लोप होता है तथा 'कष्ट' शब्द
को दीर्घ[1] होकर कष्टाय नाम धातु बनती है इससे लट् लका
रूप बनता है ।

पापमिति—कष्टायते का अर्थ है—पाप करने को उत्सा
यह है कि यहाँ कष्ट शब्द से उसके साधन 'पाप' का ग्रहण
अर्थ होता है उत्साह (क्रमणमुत्साहः—तत्वबोधिनी) । अत
उपर्युक्त अर्थ हो जाता है । ।

६३९. शब्देति—शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व, मेघ
स्थित इन शब्दों से 'करोति' (करता है) इस अर्थ में क्यङ्

१. अकृत्सार्वधातुकयोः दीर्घः ७।४।२५॥

एभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् स्यात्। शब्दं करोति-शब्दायते। 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्

प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च। प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे णिच् स्यात्, इष्ठे यथा प्रातिपदिकस्य पुंवद् भावरभाव-टिलोप-विन्मतुब्लोप-यणादिलोप-प्रस्थस्फाद्यादेश-भसंज्ञास् तद्वण्णावपि स्युः। इत्यल्लोपः घटं करोत्याचष्टे वा घटयति।

॥ इति नाम धातवः

शब्दायते—शब्दं करोति (शब्द करता है)—इस अर्थ में 'शब्द+अम+क्यङ् इस अवस्था में अम् का लोप होकर शब्द+य→शब्द' के अन्तिम अकार को दीर्घ होकर 'शब्दाय', यह नामधातु बनती है। इससे शब्दाय+अ (शप्)+ते→शब्दायते रूप बनता है।

तत्करोतीति—'उसे करता है' या उसे कहता है' इस अर्थ में प्रातिपदिक से णिच् प्रत्यय होता है।

टिप्पणी—'तत्करोति' इत्यादि धातु पाठ में पठित गणसूत्र है। इससे 'करने' और कहने' के अर्थ में कर्मवाची शब्द से णिच् प्रत्यय होता है।

प्रातिपदिकादिति—प्रातिपदिक से धातु के अर्थ में बहुधा णिच् प्रत्यय होता है और वह (णिच्) इष्ठन् प्रत्यय के समान होता है अर्थात् इष्ठन् प्रत्यय परे होने पर जैसे प्रातिपदिक को पुंवद्भाव, रभाव (र होना,) टिसंज्ञक का लोप, और मतुप् प्रत्यय का लोप, यण् है आदि में जिस अंश के उसका लोप, स्थ तथा स्फ आदेश तथा भसंज्ञा होती है, उसी प्रकार णि प्रत्यय परे होने पर भी वे कार्य होते हैं।

इत्यल्लोपः इति—इस प्रकार इष्ठन् प्रत्यय के समान होने से 'घट+णिच्' यहाँ पर घट की भसंज्ञा हो जाती है तथा 'यस्येति च' ६।४।१४८ से अन्तिम अकार का लोप हो जाता है।

घटयति—घटं करोति, आचष्टे वा (घट को बनाता है या घट को कहता है) इस अर्थ में घट शब्द से णिच् प्रत्यय होकर घट+णिच्—इस अवस्था में घट के अन्तिम अकार का लोप हो जाता है और घट्+इ→'घटि' यह नाम-

अथ कण्ड्वादयः

६४० । कण्ड्वादिभ्यो यक् ३।१।२७॥ एभ्
यक् स्यात् स्वार्थे । कण्डूञ् गात्रविघर्षणे । कण्डूर
इत्यादि ।

॥ इति कण्ड्वादयः ॥

धातु बन जाती है । इसमें लट् लकार प्रथमपुरुष एकवच
बनता है ।

टिप्पणी—(१) इष्टवत् होने से पुंवद्भाव आदि के उदा
हैं । पुंवद्भाव–पट्वीमाचष्टे पटयति [,भस्याढे तद्धिते' (
रभाव—दृढं करोति द्रढयति (र ऋतो हलादेर्लघोः ६।४।१६१
टिलोप—पटुमाचष्टे पटयति (टेः ६।४।१५५॥) । विन्लुक्
स्रजयति । मतुप्–लुक्—श्रीमन्तं करोति श्राययति (विन्मतो
यणादिलोप—स्थूलमाचष्टे स्थवयति, दूरं करोति दवयति
क्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः ६।४।१५६) । प्र–
प्रापयति, स्थ-आदेश—स्थिरं करोति स्थापयति; स्फ-आदे
स्फापयति (प्रियस्थिरस्फिर० ६।४।१५७) । भसंज्ञा का उदाह
गया है ।

॥ इति नामधातु ॥

कण्ड्वादय—'कण्डू' आदि गणपाठ में पढ़े गये शब्द हैं ।
उनसे बनने वाली क्रियाओं का उल्लेख किया गया है ।

६४०. कण्ड्वादिभ्य इति—कण्डू आदि धातुओं से नित्य
है, स्वार्थ में ।

टिप्पणी—यहाँ 'धातुभ्यः' (धातु से) इस विशेषण का प्रय
कण्डू आदि प्रातिपदिकों से यक् प्रत्यय नहीं होता । कण्डू' आदि
हैं—धातु तथा प्रातिपदिक । इनमें धातुओं से ही यक् प्रत्यय
[illegible] है नहीं ।

अथात्मनेपदप्रक्रिया

कण्डूञ्—धातु खुजलाना' अर्थ में है।

कण्डूयति-कण्डूयते—कण्डू धातु से 'यक्' होकर 'कण्डूय' ऐसा रूप बनता है। इसकी धातु[1] संज्ञा होकर लट् लकार के परस्मैपद[2] में कण्डूयति तथा आत्मनेपद में कण्डूयते रूप बनते हैं।

टिप्पणी—(१) 'कण्डूञ्' आदि धातुओं के सब लकारों में इस प्रकार रूप होते हैं—लट् कण्डूयति-कण्डूयते। लिट्—कण्डूयाञ्चकार-कण्डूयाञ्चक्रे। लुट्—कण्डूयिता। लृट्—कण्डूयिष्यति—ते। लोट्—कण्डूयतु—ताम्। लङ्-अकण्डूयद—त। विधिलिङ्—कण्डूयेत्—त। आशिषि लिङ्=कण्डूय्यात्—कण्डूयिषीष्ट। लुङ्—अकण्डूयीत्—अकण्डूयिष्ट। लृङ्—अकण्डूयिष्यत्—त। (२) कण्ड्वादि के कुछ व्यवहारोपयोगी क्रियारूप इस प्रकार हैं—

सपर—सपर्यति। भिषज्—भिषज्यति। इषुध्—इषुध्यति। केला, खेला—केलायति, खेलायति। मही—महीयते। पयस्—पयस्यति। सुख-सुख्यति। कण्ड्वादि आकृतिगण है।

॥इति कण्ड्वादि॥

आत्मनेपदेति—जैसा कि तिङन्त प्रक्रिया के प्रारम्भ में बतलाया गया है लकार के स्थान में होने वाले प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं—

१. परस्मैपद और २. आत्मनेपद। किन धातुओं से परस्मैपद प्रत्यय लगाये जाते हैं और किनसे आत्मनेपद, यह बतलाने वाले तीन सामान्यसूत्र हैं। उनके अपवाद रूप ही अन्य सूत्र परस्मैपद या आत्मनेपद का विधान करते हैं। वे सामान्य सूत्र ये हैं—

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १।३।१२॥—जिसका अनुदात्त अच् (स्वर) इत् हो (अनुदात्तेत्) अथवा ङकार इत्संज्ञक (ङित्) हो ऐसी धातु से आत्मनेपद

---

१. सनाद्यन्ता धातवः ३।१।३२॥

२. 'कण्डूञ्' धातु 'ञित्' (ञकार है इत्संज्ञक जिसका) है अतः उभयपदी है। (देखिये आत्मनेपद प्रक्रिया)

होता है। जैसे—एध वृद्धौ, इसका धकार से आगे वाला अनुदात्त
है अतः इससे आत्मनेपद (एधते) होता है। इसी प्रकार 'शीङ्'
इत्संज्ञक है अतः इसमें आत्मनेपद (शेते) होता है। कौन धातु
कौन 'ङित्' है—इसका ज्ञान धातुपाठ से होता है।

२. स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले १।३।७२॥–जिस
इत् हो (स्वरितेत्) अथवा जिसका ञकार इत् हो (ञितः) उस
पद होता है यदि क्रिया का फल कर्ता को प्राप्त होता है (कर्तृग
'पच' धातु का चकार से आगे वाला स्वरित अकार इत्संज्ञ
स्वरितेत् है। यदि कहना है कि 'देवदत्त अपने लिए भोजन पका
'पचति' क्रिया का फल कर्ता को प्राप्त होगा (कर्तृगामी) अतः
पचते यह (आत्मनेपद) प्रयोग होना चाहिये और यदि कहन
(दूसरों के लिये) भोजन पकाता है' तो यहाँ 'पचति' क्रिया का
अन्य को प्राप्त होता है (परगामी) अत पाचकः भोजनं
(परस्मैपद) प्रयोग होना चाहिये। इसी प्रकार 'कृञ्' धातु जो
कर्तृगामी क्रियाफल में आत्मनेपद तथा परगामी क्रियाफल
होगा।

टिप्पणी—परस्मैपद और आत्मनेपद के प्रयोग का यह वि
कम किया जाता है। उच्चकोटि के संस्कृत कवियों ने भी
सामान्यरूप से प्रयोग किया है किन्तु दशकुमारचरित तथा कादम्
ऐसे स्थल हैं जहाँ दोनों पदों का नियमित प्रयोग मिलता है।[1]

३ शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् १।३।७८॥—जिस धातु में
निमित्त नहीं होता वह शेष कही गई है, उसमें कर्तृवाच्य में परस्
इन सूत्रों से कर्तृवाच्य में ही आत्मनेपद आदि की व्यवस्था
भाव तथा कर्म में तो भावकर्मणोः' १।३।१३ के अनुसार आत्मनेपद
इस प्रकार प्रयोग में सामान्य नियम यह है—

---

१. मिलाइये–M. R. Kale, A Higher Sanskrit
पादटिप्पणी सेक्शन ५६१.

६४१ । कर्तरि कर्मव्यतिहारे १।३।१४॥ क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्तर्यात्मनेपदम् । व्यतिलुनीते । अन्यस्य योग्यं लवनं करोतीत्यर्थः ।

६४२ । न गतिहिंसार्थेभ्यः १।३।१५॥ व्यतिगच्छन्ति । व्यतिघ्नन्ति ।

६४३ । नेर्विशः १।३।१७॥ निविशते ।

आत्मनेपद—(क) अनुदात्तेत्, ङित् धातुओं से (ख) स्वरितेत्, ञित् धातुओं से कर्तृगामी क्रियाफल मे (ग) कर्मवाच्य तथा भाववाच्य मे होता है ।

परस्मैपद—शेषधातुओं से केवल कर्तृवाच्य में परस्मैपद होता है इस नियम के कुछ अपवादों का आगे निरूपण किया जा रहा है ।

६४१ कर्तरीति—क्रिया का विनिमय अर्थात् कार्यों की अदला-बदली को प्रकट करने के लिए कर्तृवाच्य मे आत्मनेपद होता है ।

टिप्पणी—जब एक के नियत कर्तव्य को दूसरा करता है तो वह कर्मव्यतिहार (क्रियाविनिमय) कहलाता है । यह कर्मव्यतिहार वि+अति उपसर्गों द्वारा प्रकट होता है ।

व्यतिलुनीते—दूसरे के योग्य काटने के कार्य को करता है, यह, अर्थ है । यहाँ वि, अति उपसर्ग पूर्वक लूञ् (काटना) धातु से कर्मव्यतिहार को प्रकट करने के लिये आत्मनेपद होता है । वि अति+लू+ना (श्ना)+ते→व्यतिलुनीते ।[1]

६४२ नेति—गति और हिंसा है अर्थ जिनका ऐसी धातुओं से क्रिया विनिमय अर्थ मे आत्मनेपद नहीं होता (पूर्व सूत्र १ ३।१४ का अपवाद) ।

व्यतिगच्छन्ति—(एक दूसरे के गन्तव्य स्थानों को जाते हैं) वि+अति+गम्+शप् अन्ति । यहाँ क्रियाविनिमय अर्थ प्रकट होता है तथापि गत्यर्थक धातु होने के कारण आत्मनेपद नहीं होता है । इसी प्रकार—

व्यतिघ्नन्ति—वि+अति+हन्+अन्ति । यहाँ हिंसार्थक धातु होने से क्रियाविनिमय अर्थ मे भी आत्मनेपद नहीं होता है ।

६४३ नेर्विशइति—नि पूर्वक विश् धातु से आत्मनेपद होता है ।

---

१. यहाँ ई हल्यघोः ६।४।११३ से श्ना के आकार को ईकार होता है । तथा प्वादीनां ह्रस्वः से लू के ऊकार को ह्रस्व (उकार) हो जाता है ।

६४४ । परिव्यवेभ्यः क्रियः १।३।१८॥
विक्रीणीते । अवक्रीणीते ।

६४५ । विपराभ्यां जेः । १।३।१९। विजयते ।

६४६ । समवप्रविभ्यः स्थः १।३।२२ सन्ति
प्रतिष्ठते । वितिष्ठते ।

निविशते—सामान्यतः विश् परस्मैपदी है ।
अनुसार नि उपसर्ग पूर्वक विश् धातु से आत्मनेपद हो जाता
अ (श¹)+ते ।

६४४. परीति—परि, वि और अव उपसर्ग पूर्वक 'क्री
होता है। 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' क्र्यादिगण की धातु है
कर्तृगामी क्रियाफल में आत्मनेपद सिद्ध ही है। इन उप
क्रियाफल में भी आत्मनेपद का विधान करने के लिये यह सू

परिक्रीणीते—(वेतन द्वारा नियत काल के लिए रखता
पूर्वक क्री धातु से आत्मनेपद होकर परि+क्री+ना (श्ना)
इसी प्रकार 'विक्रीणीते' (बेचता है) अवक्रीणीते ।

६४५. विपराभ्यामिति—वि, परा पूर्वक 'जि' धातु से

विजयते—(विजय प्राप्त करता है) वि पूर्वक जि (
धातु से उपर्युक्त सूत्र के अनुसार आत्मनेपद होकर वि+
ते—'जि' के इ को गुण (ए) तथा अय् होकर विजयते । इसी
हारता है (अकर्मक) हराता है (सकर्मक) ।

६४६. समवेति—(सम्, अव प्र, वि उपसर्ग पूर्वक स्था
होता है ।

सन्तिष्ठते—अच्छी तरह ठहरता है, साथ रहता
पूर्वक स्था (ठहरना) धातु से समवप्रविभ्यः स्थः सूत्र से आ

---

१ यह तुदादिगण की धातु है अतः 'तुदादिभ्यः शः
होता है ।

६४७ । अपह्नवे ज्ञः १।३।४४॥ शतमपजानीते । अपलपतीत्यर्थः ।

६४८ । अकर्मकाच्च १।३।४५॥ सर्पिषो जानीते । सर्पिषोपायेन प्रवर्तत इत्यर्थः ।

६४९ । उदश्चरः सकर्मकात् १।३।५३॥ धर्ममुच्चरते । उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थः ।

है तथा सम्+स्था+अ (शप्)+ते→स्था को तिष्ठ आदेश होकर सन्तिष्ठते । इसी प्रकार अवतिष्ठते (रहता है) प्रतिष्ठते (प्रस्थान करता है), वितिष्ठते (विशेष प्रकार से स्थित रहता है) इत्यादि ।

६४७ अपह्नवे इति— ज्ञा धातु से छिपाना अर्थ में आत्मनेपद होता है । (ज्ञा अवबोधने 'क्र्यादिगण की उभयपदी धातु है । प्रस्तुत सूत्र से परगामी क्रियाफल में भी अपह्नव' अर्थ में आत्मनेपद ही होता है ।

शतमपजानीते—सौ (रुपये) को छिपाता (नटता) है यह अर्थ है यहाँ उपर्युक्त सूत्र से आत्मनेपद हो जाता है—अप+ज्ञा+ना (श्ना)+ते→ज्ञा के स्थान में 'जा'[1] होकर अपजानीते ।

६४८ अकर्मकाच्चेति—अकर्मक ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है । [इस सूत्र में भी परगामी क्रियाफल में आत्मनेपद कहा गया है ।]

सर्पिषो जानीते—घृत के द्वारा प्रवृत्त होता है, यह अर्थ है । इस अर्थ में भी ज्ञा धातु अकर्मक है । अतः 'अकर्मकाच्च' से आत्मनेपद होकर ज्ञा+ना+ते→जानीते ।

६४९ उदश्चर इति—उद् उपसर्ग पूर्वक सकर्मक चर् धातु से आत्मनेपद होता है । ['चर् गतिभक्षणयोः' भ्वादिगण की परस्मैपदी धातु है । उसमें आत्मनेपद का विधान किया गया है ।]

धर्ममुच्चरते—उल्लङ्घन करके चलता है, यह अर्थ है । यहाँ उद् उपसर्ग पूर्वक चर् धातु है जो सकर्मक है अतः उपर्युक्त सूत्र से आत्मनेपद होकर उद्+चर्+अ(शप्)+ते→उच्चरते ।

१. ज्ञाजनोर्जा ७।३।७९॥

६५० । समस्तृतीयायुक्तात् १।३।५४॥ रथेन

६५१ । दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे १।३।५५॥

यान्तेन युक्तादुक्त स्यात् तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे । दास

६५२ । पूर्ववत्सनः १।३।६२॥ सनः पूर्वो

सन्नन्तादप्यात्मनेपदं स्यात् । एदिधिषते ।

---

६५० सम इति—सम् उपसर्गपूर्वक तृतीयाविभक्त्यन्त

धातु से आत्मनेपद होता है ।

रथेन सञ्चरते—(रथ से भ्रमण करता है) यहाँ सम्

तृतीयान्त 'रथेन' से उसका योग भी है अतः प्रस्तुत सूत्र

सम्+चर्+अ(शप्)+ते→सञ्चरते ।

६५१ दाणश्चेति—सम् पूर्वक दाण् धातु यदि तृती

वह तृतीया विभक्ति चतुर्थी के अर्थ में हो तो उससे आत्मने

टिप्पणी – अशिष्ट व्यवहार में दाण् धातु के प्रयोग मे

अर्थ मे तृतीया हो जाया करती है (अशिष्ट व्यवहारे द

तृतीया-कारक प्रकरण) । दाण् दाने भ्वादिगण की परस्मैप

दास्या संयच्छते कामी—(कामी दासी के लिए कुछ

पूर्वक दाण् धातु दास्या' इस तृतीयान्त शब्द से युक्त है तथ

निर्दिष्ट वार्तिक के अनुसार चतुर्थी के अर्थ मे तृतीया वि

दाणश्चेति० सूत्र के अनुसार आत्मनेपद हो जाता है । सम्

+ते→दाण् को यच्छ' आदेश होकर संयच्छते रूप बनता

६५२ पूर्ववदिति—सन् प्रत्यय से पूर्व जो धातु (अ

स्मात् सन् प्रत्ययान्त धातु से भी आत्मनेपद होता है ।

एदिधिषते—(बढ़ना चाहता है)–'एध् वृद्धौ' यह अ

---

१. पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदां । पिबजिघ्र

।७।३।७८॥

६५३। हलन्ताच्च १।२।१०॥ इक्समीपाद् हल परो झलादिः सन् कित्। निविविक्षते।

इससे 'एधितुमिच्छति' इस अर्थ मे सन् प्रत्यय होकर 'एध्+स' इस अवस्था मे सन् को इट् का आगम होकर तथा सकार को षकार होकर 'एधिष' यहाँ 'धि' को द्वित्व[1] होकर एधि धि ष→अभ्यास के धकार को दकार होता है तथा 'एदिधिष' यह सन्नन्त धातु बन जाती है। इससे 'पूर्ववत् सनः' सूत्र के अनुसार आत्मनेपद होकर एदिधिषते रूप बनता है।"

६५३. हलन्ताच्चेति—इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के समीप जो हल् (व्यञ्जन) उससे परे झलादि (झल् प्रत्याहार का वर्ण है आदि मे जिसके) सन् कित् हो जाता है।

टिप्पणी—सन् प्रत्यय को जहाँ इट् नही होता वहाँ यह झलादि है, क्योकि सकार झल् प्रत्याहार मे है। इट् हो जाने पर तो 'इ+स'—यह सन् का रूप होता है अतः यह झलादि नही रहता।

निविविक्षते—(निवेश करना चाहता है) 'निवेष्टुम् इच्छति' इस अर्थ मे निपूर्वक विश् धातु से सन् प्रत्यय होता है। 'नि+विश्+स', यहाँ सन् को इट् का आगम नही होता अतः सन् झलादि है और वह कित् हो जाता है। कित् हो जाने से 'विश्' के 'इ' को गुण नही होता। द्वित्व होकर निविविश्+स इस अवस्था मे विश के शकार को षकार[2] तथा उसे ककार[3] हो जाता है और सन् के सकार को षकार होकर 'निविविक्ष' यह सन्नन्त धातु बनती है अब; क्योकि 'नेर्विशः' के अनुसार निपूर्वक विश् धातु से आत्मनेपद होता है इसलिये सन् प्रत्ययान्त से भी 'पूर्ववत्सनः' के अनुसार आत्मनेपद होकर निविविक्षते रूप बनता है।

---

१. एध् धातु के आदि में अच् (स्वर) है अतः 'अजादेर्द्वितीयस्य' ६।१।२॥ के अनुसार द्वितीय एकाच् धि को ('सन्यङोः' ६।१।६) द्वित्व होता है।

२. व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ।८।२।३६॥

३. षढोः कः सि ८।२।४१॥

६५४ । गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक
पयोगेषु कृञ: १।३।३२। गन्धनं सूचनम् । उत्कु
अवक्षेपणं भर्त्सनम् । श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते-भर्त्स
कुरुते-सेवते इत्यर्थः । परदारान् प्रकुरुते तेपु-सा
कस्योपस्कुरुते-गुणमाधत्ते । कथाः प्रकुरुते-प्रक
प्रकुरुते-धर्मार्थं विनियुङ्क्ते । एषु किम् ? कटं कर

६५५ । भुजोऽनवने १।३।६६ ओदनं भुङ्क्ते
महीं भुनक्ति ।

।।इत्यात्मनेपदप्रक्रिया।।

---

६५४. गन्धनेति—गन्धन (सूचन, शिकायत
(=भर्त्सन, फटकारना), सेवन (सेवा करना), साहि
प्रतियत्न (गुणों का आधान), प्रकथन (विशेष ढंग से
आदि में लगाना)—इन अर्थों में कृञ् धातु से आत्मनेपद

टिप्पणी—डुकृञ् करणे धातु ञित् है अत कर्तृगामी
आत्मनेपद होता ही है। इस सूत्र से गन्धन आदि अर्थों में
में आत्मनेपद का विधान किया गया है।

उत्कुरुते—इसका अर्थ है सूचित करता है अर्थात् शि
उत्पूर्वक कृञ् धातु से गन्धन (सूचन) अर्थ में आत्मनेपद हो

श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते—इसका अर्थ है—बाज बटेर
उद्+आ उपसर्ग पूर्वक कृ धातु भर्त्सना (अवक्षेपण
गन्धनेत्यादि सूत्र से आत्मनेपद होता है। इसी प्रकार—

हरिमुपकुरुते—इसका अर्थ है हरि की सेवा करता है।
धातु सेवन अर्थ में है।

परदारान् प्रकुरुते—इसका अर्थ है परस्त्रियों में साह
है। यहाँ प्रपूर्वक कृ धातु 'साहसिक्य' अर्थ में है।

एधोदकस्य उपस्कुरुते—इसका अर्थ है—काष्ठ ज

अथ परस्मैपदप्रक्रिया

६५६। अनुपराभ्यां कृञः १।३।७९।। कर्तृगे च फले गन्धनादौ च परस्मैपदं स्यात्। अनुकरोति। पराकरोति।

गुण उत्पन्न करता है। यहाँ उपपूर्वक कृ धातु प्रतियत्न (=गुणाधान) अर्थ में है।

कथाः प्रकुरुते—इसका अर्थ है कथा कहता है। यहाँ प्र पूर्वक कृ धातु प्रकथन अर्थ में है।

शतं प्रकुरुते—इसका अर्थ है धर्म के लिये सैकड़ों लगाता है। यहाँ प्र पूर्वक कृ धातु उपयोग (धर्म आदि में लगाना) अर्थ में है।

अतः यहाँ सर्वत्र 'गन्धनेत्यादि' सूत्र से आत्मनेपद हो जाता है।

एषु किमिति—इन (गन्धन आदि अर्थों) में कृ धातु से आत्मनेपद होता है, ऐसा क्यों कहा गया है? इसलिये कि 'कटं करोति' आदि में आत्मनेपद नहीं होता। यहाँ 'चटाई बनाता है' यह अर्थ है जो पूर्वोक्त अर्थों से भिन्न है।

६५५. भुज इति—भुज् धातु से पालन (=अवन) से भिन्न अर्थ में आत्मनेपद होता है।

टिप्पणी—भुज पालनाभ्यवहारयोः (पालन तथा भोजन) यह रुधादिगण की धातु है। इससे पालन भिन्न अर्थात् 'भोजन करना' तथा 'भोगना' अर्थ में आत्मनेपद होता है, ओदनं भुङ्क्ते। पालन अर्थ में परस्मैपद होता है महीं भुनक्ति।

ओदनं भुङ्क्ते—(भात खाता है)—यहाँ भुज् धातु पालन से भिन्न अर्थ में है अतः 'भुजोऽनवने' के अनुसार आत्मनेपद होता है।

अनवने इति—पालन से भिन्न अर्थ में आत्मनेपद हो यह क्यों कहा गया है? इसलिये कि 'महीं भुनक्ति' (पृथ्वी का पालन करता है) यहाँ पर 'भुनक्ति' में परस्मैपद होता है आत्मनेपद नहीं।

॥इति आत्मनेपदप्रक्रिया॥

अथेति—अब परस्मैपद प्रक्रिया का आरम्भ किया जाता है।

६५६. अनुपरेति—अनु और परा उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से कर्तृगामी क्रियाफल में तथा गन्धन आदि अर्थ में भी परस्मैपद होता है।

६५७ । अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः १।३।८०॥
स्वरितेत । अभिक्षिपति ।

६५८ । प्राद्वहः १।३।८१ ॥ प्रवहति ।

६५९ । परेर्मृषः १।३।८२॥ परिमृष्यति ।

६६० । व्याङ्परिभ्यो रमः १।३।८३ ॥
विरमति ।

६६१ । उपाच्च १।३।८४॥ यज्ञदत्तमुपरमति
त्यर्थः । अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम् ।

॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥

अनुकरोति—यहाँ अनु पूर्वक कृञ् धातु से सर्वत्र परस्मैपद
हीं भी आत्मनेपद नहीं । इसी प्रकार पराकरोति ।

६५७. अभीति—अभि, प्रति और अति उपसर्ग पूर्वक
रस्मैपद होता है ।

क्षिप्—क्षिप् (फेंकना) धातु (तुदादि) स्वरितेत् है, अतः
स सूत्र से कर्तृगामी क्रियाफल में भी परस्मैपद का विधान
ह फल है ।

अभिक्षिपति—अभि पूर्वक क्षिप् धातु से परस्मैपद ही होता
ात्मनेपद नहीं । इसी प्रकार प्रतिक्षिपति, अतिक्षिपति ।

६५७.प्राविति—'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'वह्' धातु से परस्मैपद होत

टिप्पणी—वह् धातु (भ्वादि) स्वरितेत् है अतः उभयपदी है
कर्तृगामी क्रियाफल में भी परस्मैपद का विधान किया गया है ।

प्रवहति—प्र पूर्वक वह् धातु से परस्मैपद ही होता है, आत्म

६५९. परेर्मृष इति—परि उपसर्ग पूर्वक मृष् धातु से परस्मैपद

टिप्पणी—'मृष् तितिक्षायाम्' (दिवादि) स्वरितेत् धातु है । इ
र्तृगामी क्रियाफल में भी परस्मैपद का विधान किया गया है ।

परिमृष्यति—परि पूर्वक मृष् धातु से परस्मैपद ही होता है, आत्म

६६०. व्याङ् इति—वि, आङ्, परि उपसर्ग पूर्वक रम् धातु से परस्मैपद होता है।

रमु—'रमु क्रीडायाम्' (भ्वादि) अनुदात्तेत् है, अतः आत्मनेपदी है। इस सूत्र से वि, आङ्, परि पूर्वक रम् से परस्मैपद का विधान किया गया है।

विरमति—(रुकता है) वि पूर्वक रम् धातु से उपर्युक्त सूत्र के अनुसार परस्मैपद होता है। इसी प्रकार आरमति, परिरमति।

६६१ उपाच्चेति—उप उपसर्ग पूर्वक रम् धातु के परस्मैपद होता है।

यज्ञदत्तमुपरमति—इसका अर्थ है-यज्ञदत्त को रोकता है। यहाँ उप पूर्वक रम् धातु से परस्मैपद होता है।

अन्तरिति—(यज्ञदत्तमुपरमति मे उपरमति का अर्थ 'उपरमयति' किया गया है) यह (रम् धातु) अन्तर्भावित है णि का अर्थ जिसमे ऐसी है अर्थात् इस रम् धातु में णि प्रत्यय का अर्थ प्रेरणा अन्तर्निहित है।

टिप्पणी—'उपाच्च' १।३।८४॥ इस सूत्र द्वारा वहाँ परस्मैपद होता है जहाँ उप पूर्वक रम् धातु सकर्मक होती है। जहाँ यह अकर्मक होती है वहाँ तो 'विभाषाऽकर्मकात्' १।३।८५॥ इस सूत्र से विकल्प से परस्मैपद होता है।

॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥

अथ भावकर्मेति—अब भाववाच्य और कर्मवाच्य क्रियाओं का प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

विशेष—धातु दो प्रकार की हैं-सकर्मक और अकर्मक। सकर्मक धातुओं से कर्ता तथा कर्म में लकार होते हैं और अकर्मक धातुओं से कर्ता तथा भाव में[१]। (१) सकर्मक और अकर्मक को समझने के लिये यह ध्यान रखना आवश्यक है कि धातु के अर्थ में दो अंश होते हैं-फल और व्यापार। जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिये क्रिया की जाती है वह फल है और उस फल की सिद्धि के लिये क्रिया के लिये जो कार्य किया जाता है वह व्यापार कहलाता है। यह (धातु-वाच्य) फल

१. ल. . . . . ने चाऽकर्मकेभ्यः ३।४।६९॥

६६२ भावकर्मणोः १।३।१३ लस्यात्मनेपद

जिसमें रहता है, वह कर्म है और व्यापार जिसमें रहता ह
'देवदत्तः ओदनं पचति'–यहां पर चावलों को पकाने के
की जाती है अतः पकना-गलना (= विक्लित्ति) 'पचति'
इसका आश्रय 'ओदन' कर्म है। इस पाक के लिए पतीली
कर चूल्हे पर चढ़ाना से लेकर उतारने तक के जो काम कि
क्रिया के व्यापार कहलाते हैं, उनका आश्रय 'देवदत्त' कत
प्रकार—

सकर्मक धातु—वे धातु कही जाती हैं जिनके फल औ
पृथक् पृथक् होता है। जैसे पचति' इत्यादि।

अकर्मक[1] धातु—वे धातु कही जाती हैं जिनके फल औ
एक ही होता है, जैसे 'गच्छति' यहां अग्रिम प्रदेश में पहुँचने
की जाती है अतः 'उत्तरदेशसंयोग' गमन क्रिया का फ
व्यापार है। ये दोनों एक ही कर्ता मे रहते हैं अतः यह अक

(२) संस्कृत मे तीन वाच्य होते हैं—कर्तृवाच
भाववाच्य, कर्तृवाच्य मे ऊपर के विवरण के अनुसार
और आत्मनेपद होते हैं। किन्तु कर्मवाच्य तथा भाववाच्य
ही होता है। कर्मवाच्य तथा भाववाच्य के रूपों की प्रक्रिया
रही है।

६६२. भावेति—भाव और कर्म में लकार के स्थान में
होते हैं।

---

१. संक्षेप में अकर्मक धातु ये कही गई हैं—

लज्जासत्तास्थितिजागरणं वृद्धिक्षयभयजीवितमरणम्
शयनक्रीडारुचिदीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः॥

२. फलव्यापारयोः सामानाधिकरण्याद् भवत्यादिरकर्मकः
व्याद् करोत्यादिः सकर्मकः।

६६५। सार्वधातुके यक् ३।१।६७ धातोर्यक् भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके। भावः क्रिया। सा च भावार्थकलकारेणानूद्यते। युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याभावात् प्रथमः पुरुषः। तिङ्वाच्यक्रियाया अद्रव्यरूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि किं त्वेकवचनमेवोत्सर्गतः।

६६३. सार्वधातुक इति—धातु से यक् प्रत्यय होता है भाववाचक तथा कर्मवाचक सार्वधातुक परे होने पर।

टिप्पणी—धातु से विधान किये गये तिङ् तथा शित् प्रत्यय सार्वधातुक कहलाते हैं तथा धातु से विहित शेष प्रत्यय आर्धधातुक कहे जाते हैं।[1]

भाव इति - (भावकर्मणोः आदि मे) भाव का अर्थ है क्रिया और उस क्रिया का भावार्थक लकार से अनुवाद किया जाता है।

अभिप्राय यह है कि (भाववाच्य) मे लकार भाव मे आता है अर्थात् वह क्रियामात्र को प्रकट करता है; किन्तु क्रिया तो प्रत्येक धातु का वाच्यार्थ है अतः उस धात्वर्थ क्रिया का लकार द्वारा अनुवाद[2] किया जाता है अर्थात् धातु के वाच्यार्थ क्रिया को ही भावार्थक लकार प्रकट करता है।

युष्मदिति युष्मद् (तुम) और अस्मद् (हम) से (भाव का) सामानाधिकरण्य न होने से भाववाच्य की क्रिया मे केवल प्रथमपुरुष ही होता है, मध्यमपुरुष या उत्तमपुरुष नही।

भाव यह है कि जहाँ लकार कर्ता और कर्म में होता है वहाँ लकार का अर्थ (कर्तृत्व और कर्मत्व) युष्मद् तथा अस्मद् के साथ एक अर्थ मे स्थित रहता है अर्थात् उसका युष्मद् और अस्मद् के साथ सामानाधिकरण्य होता है; किन्तु भाववाच्य मे तो लकार क्रियामात्र को प्रकट करता है और भाव का युष्मद् तथा अस्मद् के साथ सामानाधिकरण्य नही हो सकता अर्थात् क्रिया (भाव) न 'तुम' हो सकती है, न 'हम' हो सकती है।

तिङ् वाच्येति—तिङ् की वाच्य जो क्रिया है वह द्रव्य रूप नहीं है अतः

१. तिङ् शित् सार्वधातुकम् ३।४।११३॥, आर्धधातुकं शेषः ३।४।११४

२. अनुवाद का अर्थ है—ज्ञात (प्राप्त) अर्थ का पुनः कथन।

त्वया मया अन्यैश्च भूयते । बभूवे ।

६६४ । स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च ६।४।६२॥ उपदेशे

उसमें द्वित्व आदि (संख्या) की प्रतीति नहीं होती। इस द्विवचन आदि नहीं होते, किन्तु सामान्यतः विहित एकवचन

टिप्पणी—'बहुषु बहुवचनम्' १।४।२१॥, द्व १।४।२२॥' अष्टाध्यायी में इस प्रकार दो सूत्र हैं। इनके अ तथा गिनने के प्रयोग क्रिया आदि के वाचक शब्दों में प्राप्त होता, अतः महाभाष्यकार के अनुसार ये सूत्र इस प्रका 'एकवचनम्' द्विबह्वोर्द्विवचनबहुवचने'—ऐसा होने पर एक कहा गया है वह किसी संख्या की अपेक्षा नहीं रखता अतए में भी एकवचन हो जाता है। जैसे—

त्वया मया अन्यैश्च भूयते—(तुमसे, मुझसे और अन्य व है)—'भू' धातु अकर्मक है अतः 'लः कर्मणि०' इत्यादि के मे लकार (लट्) हुआ है। भावकर्मणोः १।३।१३॥ से आत्मने भू+ते' इस अवस्था में 'सार्वधातुके यक्' से यक् होकर 'भू यह रूप बनता है।

टिप्पणी—उपर्युक्त विवरण के अनुसार भाववाच्य में लकार में केवल प्रथमपुरुष के एकवचन का ही रूप बनता है, भाव में लकार हुआ है अतः कर्ता अनुक्त है तथा कर्ता (त्वय तृतीया विभक्ति होती है।

बभूवे—भू+लिट् (भाववाच्य) प्रथमपुरुष एकवचन। भू लिट् होकर आत्मनेपद होने से भू+ए द्वित्व और अभ्यास ए→वुक् का आगम[1] होकर व+भू+व् (वुक्+ए→बभूवे

६६४. स्यसिज् इति—उपदेश में जो अच् वह है अन्त धातुओं और हन् आदि धातुओं को चिण् के समान अङ्ग कार्य

१. भुवो वुग् लुङ् लिटोः ६।४।८८॥

हनादीनां च चिणीवाङ्गकार्यं वा स्यात्स्यादिषु भावकर्मणोर्गम्यमानयोः स्यादीनामिडागमश्च । चिण्वद्भावपक्षेऽयमिट् । चिण्वद्भावाद् वृद्धिः । भाविता, भविता । भाविष्यते, भविष्यते । भूयताम् । अभूयत । भूयेत ।

से स्य' आदि (स्य' सिच् सीयुट् और तासि) परे होने पर, जबकि भाव और कर्म गम्यमान होते हैं (अर्थात् भाव और कर्म में लकार होता है) तथा 'स्य' आदि को इट् का आगम भी हो जाता है ।

टिप्पणी—'चिण्' का विवरण आगे दिया जा रहा है । चिण् परे रहते जैसे अङ्ग को वृद्धि आदि हो जाती है इसी प्रकार यहाँ चिण्वद्भाव होने से भी हो जाती है ।

चिण्वदिति—चिण्वद्भाव (अर्थात् चिण् के समान कार्य) होने के पक्ष में ही यह इट् होता है (जब चिण्वद्भाव नहीं होता तो इट् भी नहीं होता) । चिण् के समान कार्य होने से वृद्धि हो जाती है । जैसे—

भाविता-भविता—भू+लुट् (भाववाच्य) प्रथमपुरुष एकवचन । भू+तास्+डा' इस अवस्था में चिण्वद्भाव होने से तास् को इट् का आगम तथा ऊकार को वृद्धि (औ) होकर औ को आव् हो जाता है 'भावि तास् डा' यहाँ आस् (टि) का लोप होकर 'भाविता रूप बनता है ।

पक्ष में चिण्वद्भाव न होने पर 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' ७।२।३५ से इट् होकर ऊकार को गुण (ओ) तथा अव् आदेश होकर 'भविता' रूप होता है ।

भाविष्यते भविष्यते—भू+लृट् (भाववाच्य) प्रथमपुरुष एकवचन । भू+स्य+ते→चिण्वद्भाव होने से स्य को इट् का आगम तथा ऊकार को वृद्धि (औ) और औ को आव् होकर भाविष्यते । चिण्वद्भाव न होने पर भविष्यते

भूयताम्—भू+लोट् (भाववाच्य) प्र० पु० एक० । भू+य (यक्)+ताम् ।

अभूयत-भू+लङ् (भाववाच्य) प्र०पु० एक० । अ+भू+य (यक्)+त ।

भूयेत—भू+विधिलिङ् (भाववाच्य) प्र० पु० एक० । भू+य (यक्)+ई (सीयुट्[1])+त ।

१. लिङः सीयुट् ३।४।१०२॥

भाविपीष्ट, भविपीष्ट ।

६६५ । चिण् भावकर्मणोः ३।१।६६॥ च्ले
भावकर्मवाचिनि तशब्दे परे । अभावि । अभाविष्यत
अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात् सकर्मकः । अनुभूयते आनन्दश्चै

भाविपीष्ट भविपीष्ट—भू + आशिषि लिङ् (भाववाच्य) प्र
भू + सीयुट् + सुट्[1] + त → भू + सी + स् + त—यहाँ चिण्वद्भा
सीयुट् को इट् का आगम तथा वृद्धि होकर भाविपीष्ट तथा चिण्
पर भाविपीष्ट रूप होता है ।

६६५ चिण् इति—च्लि के स्थान में चिण् होता है भा
शब्द परे होने पर ।

टिप्पणी—लुङ् लकार मे धातु तथा 'त' आदि प्रत्यय के
लुङि' ३।१।४३॥ सूत्र के अनुसार 'च्लि' हो जाता है उसके स्थान
'चिण्' आदेश होता है ।

अभावि—भू + लुङ् (भाववाच्य) प्र० पु० एक० । 'अ भू
इस दशा में चिण् भावकर्मणोः से च्लि के स्थान में चिण्
'चिण्' मे इ शेष रहता है तथा 'चिणो लुक्' ६।४।१०४॥ सूत्र
लोप हो जाता है । 'अ भू + इ' इस अवस्था मे ऊकार को वृद्धि
आव् होकर अभावि ।

अभाविष्यत-अभविष्यत—भू + लृङ् (भाववाच्य) प्र० पु० एक
+ स्य + त → चिण्वद्भाव होने पर अभाविष्यत । न होने पर अभवि

अकर्मक इति—(भू धातु) अकर्मक होते हुए भी (अनु) उपसर्ग
सकर्मक हो जाती है ।

टिप्पणी—(१) उपसर्ग के द्वारा धातु के अर्थ मे परिवर्तन हो
अतः अनुपूर्वक भू धातु का अर्थ होता है 'अनुभव करना' और इस
सकर्मक होती है । सकर्मक होने से कर्म मे भी क्रिया के रूप बन
(२) कर्म में लकार होने पर कर्म उक्त होता है, अतः कर्म में प्रथम
और कर्ता अनुक्त है अतः उसमें तृतीया होती है । (३) कर्मवाच्य

---

1. सुट् तिथोः ३।४।१०७॥

च । अनुभूयेते । अनुभूयन्ते । त्वमनुभूयसे । अहमनुभूये । अन्वभावि
अन्वभाविषाताम्, अन्वभविषाताम् । णिलोपः । भाव्यते भावयाञ्च

का अर्थ कर्म होता है । उस कर्म का युष्मद् अस्मद् से सामानाधिकरण्य होत
है तथा उसमे द्वित्व आदि सख्या की भी प्रतीति होती है इसलिये कर्मवाच्
की क्रिया तीनो पुरुषो तथा तीनों वचनों में होती है । जैसा कि उदाहरणो है
स्पष्ट है—

अनुभूयते—आनन्दश्चैत्रेण त्वया मया च (चैत्र के द्वारा, तुझ से और
मुझ से आनन्द का अनुभव किया जाता है)—अनुपूर्वक भू धातु 'अनुभव करना'
अर्थ में सकर्मक है । इससे कर्म में लकार होकर अनु भू + य (यक्) + ते →
अनुभूयते ।

टिप्पणी—कर्मवाच्य की क्रिया के पुरुष और वचन कर्म के अनुसार होते
हैं । यहां कर्म 'आनन्द' है जो प्रथमपुरुष तथा एकवचन है अतः 'अनुभूयते' में
प्रथमपुरुष का एकवचन होता है । इसी प्रकार—

अनुभूयेते—अनु भू + लट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० द्वि० । अनु भू+य+
आताम् ।

अनुभूयन्ते—अनु भू + लट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० बहु० । अनु भू+य+
झ (अन्त) ।

त्वमनुभूयसे—अनु भू + लट् (कर्म०) म० पु० एक० । अनु भू+य+से ।
यहाँ कर्म 'त्वम्' है अतः कर्मवाच्य की क्रिया में मध्यम पुरुष का एकवचन होता
है । इसी प्रकार द्विवचन मे युवाम् अनुभूयेथे, बहु० मे यूयम् अनुभूयध्वे ।

अहमनुभूये—अनु भू + लट् (कर्म०) उ० पु० एक० । अनु भू+य+इ ।
कर्म 'अहम्' है अतः कर्मवाच्य की क्रिया मे उत्तमपुरुष का एकवचन होता
है । इसी प्रकार द्वि० में 'आवाम् अनुभूयावहे' (हम दोनो को अनुभव किया जाता
है), वयम् अनुभूयामहे' ।

अन्वभावि—अन भ '
सिद्धि होती है अभावि के समान रूप

(कर्म०) प्र० पु० द्वि०

भावयाम्बभूवे, भावयामासे। चिण्वदिट् भाविता, भावी

अनु अट्+भू+णिच्[1]+आताम्→चिण्वद्भाव होने पर इट्
आय् आदेश होकर अभाविषाताम्। चिण्वद्भाव न होने पर इ
यो) तथा अय् आदेश होकर अभावयिषाताम्।

विशेष—प्रथम भू धातु (भावि) से कर्मवाच्य में ह
भावि+य+ते इस दशा में 'णेरनिटि'[2] ६।४।५१॥ 'णि
जाता है।

भाव्यते—भू+णिच्+लट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक०
ते इस अवस्था में णि (इ) का लोप होकर भाव्+य+ते
बनता है।

भावयाञ्चक्रे भावि+लिट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक०। भा
चक्रे णि के इकार को गुण (ए) तथा अय् आदेश होकर भावयाञ्च
इसी प्रकार 'भू' का अनुप्रयोग होने पर भावयाम्बभूवे तथा' अ
प्रयोग होने पर 'भावयामासे' रूप होता है।

भाविता-भावयिता—भावि+लुट् (कर्म०) प्र० पु० एक०
तास्+डा'→भावि+ता इस अवस्था में चिण्वद् भाव से इट् होता
इ+ता' यहाँ 'असिद्धवदत्राभात्' ६।४।२२॥ इस सूत्र के अनुसा
हुए के समान (असिद्धवत्) हो जाता है। इसलिये इस इट् के आगे
'णेरनिटि' से णि का लोप हो जाता है तथा 'भाविता' रूप बनता है
जब चिण्वद्भाव से इट् नहीं होता तब 'आर्धधातुकस्येड् वल
होता है वह 'इट्' असिद्ध के समान नहीं है अतः णि का लोप नहीं
इकार (णि) को गुण अय् आदेश होकर भावयिता' रूप बनता है।

टिप्पणी—'असिद्धवदत्राभात्' ६।४।२२। सूत्र से लेकर 'भस्य'
सूत्र तक जिनका विधान किया गया है वे आभीय (भ पर्यन्त होने व

---

१. च्लेः सिच् ३।१।४४। इससे च्लि के स्थान में सिच् हो जाता
२. जिसके आदि में इट् न हो ऐसा आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते
लोप हो जाता है।

णिलोपः । भावयिता । भाविष्यते, भावयिष्यते । अभाव्यत । भाव्येत । भाविषीष्ट, भावयिषीष्ट । अभावि । अभाविषाताम्, अभावयिषाताम्

कहलाते हैं । यदि किसी निमित्त से एक आभीय कार्य किया जा चुका हो और उसी निमित्त से दूसरा आभीय कार्य प्राप्त हो तो पहला किया कार्य असिद्धवत् (न हुए के समान) हो जाता है । जैसे 'भावि+इ+ता' यहाँ तास् के निमित्त से 'स्यसिच्०' ६।४।६२ इस सूत्र से चिण्वदिट् होता है जो आभीय है । फिर आर्धधातुक प्रत्यय तास् के निमित्त से ही 'णेरनिटि' ६।४.५१ से णिलोप प्राप्त होता है वह भी आभीय है । इसीलिये असिद्धवदत्राभात् के अनुसार इट् असिद्ध सा हो जाता है ।

किन्तु 'भावयिता' में जो 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः ७।२।३५' से इट् होता है वह 'आभीय' प्रकरण का नहीं है । अतः यह इट् असिद्ध नहीं होता और आर्धधातुक के आदि में इट् होने के कारण 'णेरनिटि' से णिलोप नहीं होता । इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी जब चिण्वदिट् होता है तो णिलोप होता है, अन्यथा नहीं ।

भाविष्यते-भावयिष्यते—भावि+लृट् (कर्म०) प्र० पु० एक० । भावि+इट्+स्य+ते चिण्वदिट् होकर णिलोप हो जाता है भाविष्यते । अन्यत्र भावयिष्यते ।

अभाव्यत—भावि+लङ् (कर्म०) प्र० पु० एक० । अ+भावि+यक्+त । णिलोप ।

भाव्येत—भावि+विधिलिङ् (कर्म०) प्र० पु० एक० । भावि+य (यक्)+ई (सीयुट्)+त । णिलोप भाव्+य+ई+त भाव्येत ।

भाविषीष्ट-भावयिषीष्ट—भावि+आशिषि लिङ् (कर्म०) प्र० पु० एक० । चिण्वदिट् के पक्ष में णिलोप होता है । शेष भाविषीष्ट (भाव०) के समान ।

अभावि—भावि+लुङ् (कर्म०) प्र० एक० । अभावि+इ (चिण्)+त त का लोप होकर तथा चिण् के परे रहते 'णिच्' लोप होकर अभावि रूप बनता है ।

अभाविषाताम्-अभावयिषाताम्—भावि+लुङ् (कर्म०) प्र० पु० द्वि०

बुभूष्यते । बुभूषाञ्चक्रे । बुभूषिता । बुभूषिष्यते । बं
अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः स्तूयते विष्णुः स्ताविता, स्तं

अभावि + सिच् + आताम् → चिण्वद्भाव से इट् होने पर णि
अन्यत्र णि (इ) को गुण (ए) अय् आदेश होकर अभावयिष

बुभूष्यते—बुभूष + लट् (भाव०) प्र० पु० एक० ।
(बुभूष) से भाववाच्य में लट् होकर बुभूष + ते → यक् होकर
यहाँ षकार से आगे वाले अकार का लोप[1] होकर बुभूष्यते ।
बुभूषाञ्चक्रे-बुभूष + लिट् (भाव०) प्र० पु० एक० । बु

बुभूषिता—बुभूष + लुट् (भाव०) प्र० पु० एक० । बु
इट् का आगम तथा सन् के अकार का लोप होकर बुभूषिता

बुभूषिष्यते—बुभूष + लृट् (भाव०) प्र० पु० एक० ।
स्य को इट् का आगम तथा सन् के अ कार का लोप होक
बनता है ।

टिप्पणी—अकर्मक धातु सन्नन्त होकर भी अकर्मक ही
भाव में लकार होता है ।

बोभूय्यते – भू + यङ् + लट् (भाववाच्य) प्र० पु० ए
भू (बोभूय) धातु से भाववाच्य, लट् लकार प्रथम पुरु
बोभूय + ते इस अवस्था मे यक् होकर बोभूय + यते—यहं
का लोप[2] हो जाता है तथा बोभूय्यते रूप बनता है ।

बोभूयते—भू + यङ्लुक् + लट् (भाववाच्य) प्र० पु०
भू + (बोभू) धातु से भाववाच्य के लट् लकार प्रथमपुरुष के
+ य (यक्) ते → बोभूयते रूप बनता है ।

अकृद्विति—अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ७।४।२५।। कृत् औ
यकारादि प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को दी
< 'स्तु + य + ते' यहाँ 'स्तु' के उकार को दीर्घ होता है

१. अतो लोपः ६।४।४८।।
२. अतो लोपः ६।४।४८।।

स्तोष्यते । अस्तावि । अस्ताविषाताम, अस्तोषाताम् । ऋ
र्तीति गुण. । अर्यते । स्मृ स्मरणे । स्मर्यते । सस्मरे । उ

स्तूयते विष्णुः—(विष्णु की स्तुति की जाती है) 'स्तु' ध
च्य, लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में आत्मनेपद होकर
क् होकर स्तु+य+ते इस अवस्था में 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घ
। दीर्घ (ऊकार) होकर स्तूयते रूप बनता है।

स्ताविता-स्तोता—स्तु+लोट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक०
+डा→स्तु+ता इस अवस्था में 'स्यसिच्० इत्यादि से विकल्प
व तथा इट् होकर स्तु+इ+ता वृद्धि स्तौ+इ+ता-
ाविता । चिण्वद्भाव न होने पर उकार को गुण (ओ) होकर
नता है (स्तु धातु अनिट् है अत. यहाँ इट् नहीं होता)।

स्ताविष्यते स्तोष्यते—स्तु+लृट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक०
+ते→चिण्वद्भाव इट वृद्धि आव् आदेश होकर स्ताविष्यते
तोष्यते ।

अस्तावि—स्तु+लुङ् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । अट्-
+त—स्तु को वृद्धि आव् आदेश तथा 'त' लोप होकर अस्तावि ।

अस्ताविषाताम्-अस्तोषाताम्—स्तु+लुङ् (कर्म०) प्र० पु०
+स्तु+सिच्+आताम्→चिण्वद्भाव इट्, वृद्धि, आव् होकर
क्ष में—उकार को गुण (ओ) होकर अस्तोषाताम् रूप बनता है

अर्यते—गत्यर्थक ऋ धातु से कर्मवाच्य लट् लकार प्रथम
चन में 'ऋ+य (यक्)+ते, इस अवस्था में गुणो
।४।२६॥' इस सूत्र से ऋ को गुण (अर्) होकर अर्+य+
नता है।

स्मर्यते—स्मृ+लट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । स्मृ
संयोगादि धातु होने से 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्यो.' से गुण होकर स्मर्यते

सस्मरे—स्मृ+लिट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । स्मृ
अभ्यासकार्य स+स्मृ+ए→स्मर्+ए→सस्मरे रूप बनता है।

च्चिण्वदिट् आरिता, अर्ता। स्मारिता, स्मर्ता। अनि
लोपः—स्रस्यते। इदितस्तु नन्द्यते। सम्प्रसारणम् इज्य

उपदेशेति—(स्यसिच्० इत्यादि सूत्र में) उपदेश श
चिण्वद्भाव तथा इट् हो जाता है। [भाव यह है कि ऋ + र
में पर तथा नित्य होने से पहले गुण[1] हो जाता है और अर् + त
में अर् अजन्त नहीं है फिर भी चिण्वद्भाव तथा इट् होत
'स्यसिच्०' इत्यादि सूत्र में 'उपदेश' शब्द का ग्रहण किया गर
अर्थ है—'उपदेश में जो अच् तदन्त धातु को चिण्वदिट् होता है
उपदेश अवस्था में अजन्त ही है।]

आरिता-अर्ता—ऋ→लुट् (कर्मवाच्य प्र० पु० एक०। अ
→ऋ + ता→गुण (ऋ को अर्) होकर अर् + ता चिण्वद्भाव
वृद्धि (अ को आ[1]) होकर आर् + इ + ता = आरिता। चिण्वद्भ
न होने पर अर्ता।

स्मारिता-स्मर्ता—स्मृ + लुट् (कर्म०) प्र० पु० एक०। आरित
अनिदितामिति—अनिदितो हल उपधायाः क्ङिति ६।४।
नकार का लोप होता है।

स्रस्यते—स्रंस (गिरना) लट् (भाववाच्य) प्र० पु० एक०।
(यक्) + त→इस अवस्था में 'अनिदिताम्०' इत्यादि से नकार (
स्वार के रूप में है) का लोप होकर स्रस् + य ते→स्रस्यते।

इदितइति—जिस धातु का इत् (इकार) इत् संज्ञक होता है व
=इकारः इत्=इत्संज्ञकः यस्य तस्य) नकार का लोप नहीं होता
सूत्र में 'अनिदिताम्' कहा गया है)। इसलिये 'टुनदि समृद्धौ' धातु
वाच्य लट् प्र० पु० एक० में 'नन्द्यते' रूप बनता है। यहाँ न लोप नहीं

१. सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।३।८४॥

२. अत उपधायाः ७।२।११६॥

६६६ । तनोतेर्यकि ६।४।४४ यकारोऽन्तादेशो वा स्यात्. तायते, तन्यते ।

६६७ तपोऽनुतापे च ३।१।६५॥ तपश्च्लेश्चिण् न स्यात्. कर्मकर्तर्यनुतापे च । अन्वतप्त पापेन । घुमास्थेतीत्वम् । दीयते । धीयते ।

नद्+य+ते → न न् (नुम्[1]) द्+य+ते नन्द्यते ।

सम्प्रसारणम्—'यज्+यक्+ते यहाँ यज् धातु के यकार को 'वचिस्वपियजादीनां किति' ६।१।१५॥ से सम्प्रसारण (इकार) हो जाता है ।

इज्यते—'यज्+धातु से कर्मवाच्य लट् प्रथम पुरुष के एकवचन मे यज्+यक्+ते → सम्प्रसारण (यकार को इकार) इज् य ते → इज्यते ।

६६६ तनोतेरिति—तन् धातु के अन्त (नकार) को आकार आदेश होता है विकल्प से, यक् परे होने पर ।

तायते-तन्यते—तन् (विस्तार करना)+लट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । तन्+यक्+ते → अन्त को विकल्प से आकार होकर ता+य+ते → तायते । पक्ष मे तन्+य+ते → तन्यते ।

६६७ तप इति—तप धातु से परे च्लि को चिण् नही होता कर्मकर्ता और अनुताप अर्थ मे । अनुताप का अर्थ है पश्चात्ताप ।

अन्वतप्त पापेन—(पाप से दुःखी किया गया) अनु+तप्+लुङ् कर्मवाच्य । अथवा 'पापेन पुंसा अन्वतप्त' (पापी पुरुष के द्वारा पश्चात्ताप किया गया) इस प्रकार 'पाप' शब्द का अर्थ पापी[2] होता है तथा अकर्मक होने से भाव मे लुङ् होता है ।

अन्वतप्त—अनु+तप्+च्लि+त → च्लि के स्थान मे चिण्[3] होने का

१. इदितो नुम् धातोः ७।१।५८॥ जिस धातु का ह्रस्व इकार इत्संज्ञक होता है उसे नुम् का आगम होता है ।

२. पापमस्यास्तीति पापः । अर्श आदिभ्योऽच् ५।२।१२७ से अच् प्रत्यय । यहाँ अन्वतप्त का अर्थ पश्चात्ताप करना है ।

३. चिण् भावकर्मणोः ३।१।६६॥ से च्लि को चिण् प्राप्त होता है ।

ददे ।

६६८ । आतो युक् चिण्कृतोः ७।३।३३

युगागमः स्याच्चिण्वति ञ्णिति कृति च । दायिता, दाता दासीष्ट । अदायि । अदायिषाताम् । अग्यते ।

निषेध हो जाने से च्लि को सिच् होकर अनु+अ+तप्+सिच् झलि ८।२।२६॥ से सिच् का लोप होकर अन्वतप्त रूप बनता है

घुमास्थेति—घुमास्थागापाजहातिसां हलि ६।४।६६॥ (इन को ई होता है हलादि कित् ङित् आर्धधातुक परे रहते) इस सू +ते' यहाँ 'दा' के अकार को ईकार होता है । दा धातु (दाधाघ्वदाप् १।१।२०) ।

दीयते—दा+लट्(कर्मवाच्य) प्रथम पुरुष एकवचन । दा 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' से अकार को ईकार होकर बनता है ।

धीयते—धा (धारण, पोषण करना)+लट् (कर्मवाच्य) प्र० धा+य+ते ।

ददे—दा+लिट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक । दा+ए (ए अभ्यासकार्य द दा+ए→आकार' का लोप होकर द द्+ए बनता है ।

६६८. आत इति—आकारान्त धातुओं को युक् का आगम हो तथा ञित् णित् कृत्प्रत्यय परे होने पर ।

दायिता-दाता—दा+लुट् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । दा+ →दा+ता यहाँ 'स्यसिच०' इत्यादि से चिण्वद्भाव तथा इट् होने युक् चिण्कृतोः' से युक् का आगम हो जाता है दा+युक्+इट दायिता । पक्ष में दाता' रूप बनता है ।

दायिषीष्ट-दासीष्ट—दा+आशिषि लिङ् (कर्मवाच्य) प्र० पु चिण्वदिट् होने पर 'युक्' का आगम दायिषीष्ट । पक्ष में दासीष्ट ।

---

१. आतो लोप इटि च ६।४।६४॥

६६९ । भञ्जेश्च चिणि ६।४।३३॥ नलोपो वा स्यात् । अभाजि, अभञ्जि । लभ्यते ।

६७० । विभाषा चिण्णमुलोः ७।१।६९॥ लभेर्नुमागमो वा स्यात् । अलम्भि अलाभि ।

॥ इति भावकर्मप्रक्रिया ॥

अदायि—दा + लुङ् (कर्म०) प्र० पु० एक० । अ दा + च्लि + त→च्लि के स्थान में चिण् (चिण्भावकर्मणोः) और चिण् परे होने पर युक् का आगम होकर अ दा + य् + इ + त→त का लुक् होकर अदायि ।

अदायिषाताम्—दा + लुङ् (कर्म०) प्र० पु० द्वि० । अ दा + स् (सिच्) + आताम् । चिण्वद्भाव, इट् होकर युक् का आगम हो जाता है अ दा य् इ स् आताम्→अदायिषाताम् । चिण्वद्भाव न होने पर 'स्याघ्वोरिच्च' से आकार को इकार होकर अदिषाताम् (सिद्धान्त कौमुदी) ।

भज्यते—भञ्ज (तोड़ना) धातु से कर्मवाच्य लट् लकार प्रथमपुरुष के एकवचन में भञ्ज् + य + ते→नलोप[1] होकर भज्यते रूप बनता है ।

६६९. भञ्जेश्चेति—भञ्ज धातु के नकार का लोप होता है चिण् परे होने पर विकल्प से ।

अभाजि अभञ्जि—भञ्ज् + लुङ् (कर्मवाच्य) प्र० पु० एक० । अ भञ्ज् + चिण् + त→विकल्प से नकार का लोप होकर अ भज् + इ + त उपधा[2] (भज के भकार) की वृद्धि तथा 'त' का लोप होकर अ भाज् + इ→अभाजि । जब नकार का लोप नहीं होता तब 'अभञ्जि' यह रूप बनता है ।

लभ्यते—लभ + लट् (कर्म०) प्र० पु० एक० । लभ + यक + ते→लभ्यते यह रूप बनता है ।

६७०. विभाषेति—लभ धातु को विकल्प से नुम का आगम होता है, चिण् और णमुल् होने पर ।

---

१. अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६।४।२४॥

२. अत उपधायाः ७।२।११६॥

अथ कर्मकर्तृ प्रक्रिया

यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितं तदा सकर्मकाणाम कर्तरि भावे च लकारः।

णमुल् का उदाहरण है—लाभं लाभम्, लम्भं लम्भम् ।

अलम्भि-अलाभि—लभ्+लुङ् कर्म०) प्र० पु० एक० ।। +त । विभाषा चिण्णमुलो.' के अनुसार नुम् का आगम होकर भ्+चिण+त→'त' का लोप होकर अ ल न् भ्+इ→नकार तथा परसवर्ण (मकार) होकर अलम्भि रूप बनता है। जब तब उपधा (अकार) से वृद्धि होकर अलाभि रूप बनता है।

टिप्पणी–संस्कृत साहित्य में कर्मवाच्य का प्रचुर प्रयोग हो है। कुछ अन्य धातुओं के कर्मवाच्य के रूप निम्न प्रकार से होते हैं

दृ–क्रियते। पै–पीयते। ग्रह–गृह्यते। घ्रा–घ्रायते। चि–चीयंते। जि–जीयते। नी–नीयते। पा–(पीना)–पीयते। पा–(रक्ष पायते। पू–पूयते। पृच्छ–पृच्छ्यते। मा–मीयते। वप्–उप्यते। वह्–उह्यते। वस्–उष्यते। वद्–उद्यते। वच्–उच्यते। शी–शय्यते शिष्यते। हन्–हन्यते। इत्यादि।

॥ इति भावकर्मप्रक्रिया ॥

यदेति—जब कर्म को ही कर्त्ता के रूप में कहना अभीष्ट हो सकर्मक धातुओं के भी अकर्मक हो जाने से (उनसे) कर्त्ता तथा भाव होते हैं।

भाव यह है कि जब क्रिया अत्यन्त सरलता से हो जाती है अ सौकर्यातिशय होता है तो इस भाव को प्रकट करने के लिये कर्त्ता के कथन नहीं किया जाता, अपितु अन्य कारकों को ही कर्त्ता के रूप किया जाता है, क्योंकि वे अपने कार्य में स्वतन्त्र हैं, अतः वे ही कर्त्ता हैं। जैसे–'असिः छिनत्ति' अर्थात् तलवार से योद्धा क्या काट रहा है स्वयं काट रही है। यहाँ 'असि' करण है यह कर्त्ता बन गया है और क

६७१। कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः ३।१।८७। कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्त्ता कर्मवत् स्यात्। कार्यातिदेशोऽयम्। तेन यगात्मनेपदचिण्वदिट स्युः। पच्यते फलम्। भिद्यते काष्ठम्। अपाचि। अभेदि। भावे तु भिद्यते काष्ठेन।

॥ इति कर्म कर्तृप्रक्रिया ॥

में लकार होता है। इस प्रकार जब कर्म को छोड़कर अन्य कारकों को कर्त्ता के रूप में प्रकट किया जाता है तो कर्त्ता में लकार होता है।

किन्तु कर्म में विशेषता है। जब कर्म को कर्त्ता के रूप में कहना अभीष्ट होता है सकर्मक धातु भी अकर्मक हो जाती है और उससे कर्त्ता तथा भाव में लकार होते हैं। कर्त्ता में लकार होने पर भी कुछ धातुओं के रूप कर्मवाच्य के समान हो जाते हैं। यह आगे दिखलाया जा रहा है—

६७१. कर्मवदिति—कर्म में स्थित (कर्मस्थ) क्रिया के समान है, क्रिया जिसकी ऐसा कर्त्ता कर्मवत् (कर्म के समान) हो जाता है—

टिप्पणी—कर्मस्थ क्रिया वहाँ मानी जाती है जहाँ कर्म में क्रिया के द्वारा की गई कोई विशेषता दिखलाई देती है, जैसे पके हुए चावलों में या फटी हुई लकड़ियों में कुछ विशेषता हो जाती है। जहाँ क्रिया कर्मस्थ है तथा जब कर्म को कर्त्ता बना दिया जाता है, तब भी उसमें वही क्रिया रहती है जो कर्मदशा में थी। अतः एव वह कर्त्ता कर्म के तुल्य क्रिया वाला होता है और उसे कर्मवद्भाव हो जाता है। किन्तु गमन क्रिया से तो ग्राम आदि में कोई विशेषता उत्पन्न होती नहीं। अतः ऐसी क्रियाओं के कर्त्ता को कर्मवद्भाव नहीं होता।

कार्यातिदेश इति—यह कार्यातिदेश है। इसलिये कर्मवाच्य के समान यक्, आत्मनेपद और चिण्वदिट् (ये कार्य) यहाँ भी होते हैं। यह उसके समान होवे, इस प्रकार बतलाना अतिदेश कहलाता है। 'कर्म के तुल्य क्रिया वाला कर्त्ता कर्मवत् हो' यह कहना अतिदेश है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं—(१) कर्मवाच्य में क्रिया का रूप बनाने में जो सूत्र (शास्त्र) लगते हैं वे ही इसका कर्मकर्तृ क्रिया रूप बनाने में लगाये जाते हैं—यह शास्त्रातिदेश होगा। (२) का क्रिया रूप बनाने में जो जो कार्य होते हैं वे ही इसका क्रियारूप बनाने

होते हैं—यह कार्यातिदेश होगा। यद्यपि शास्त्रातिदेश से भी सिद्धि हो सकती है तथापि मुख्य होने से कार्यातिदेश ही माना

पच्यते फलम्—(फल स्वयं ही पक रहा है)—'काल: फल कर्म है किन्तु पाकक्रिया के सौकर्यातिशय को प्रकट करने काल क्या पका रहा है फल तो स्वयं पक रहा है, यह बतलाने को कर्त्ता बना दिया जाता है। तब कर्त्ता में लकार होने पर तुल्यक्रियः' के अनुसार कर्मवद्भाव होता है और कर्मवाच्य आत्मनेपद होकर पच्यते रूप बनता है।

यहाँ कर्तृवाच्य होने से कर्त्ता उक्त है, अत 'फलम्' में (प्र मे) प्रथमा विभक्ति होती है। इसी प्रकार भिद्यते काष्ठम्।

अपाचि—पच् धातु से कर्मकर्तृ में लुङ् लकार प्रथमपुरुष 'अपच्+च्लि+त' इस अवस्था में कर्मवद्भाव होने से च्लि को है तथा 'त' का लोप और पच् के अकार (उपधा) को वृद्धि (अ अपाचि रूप बनता है। इसी प्रकार अभेदि।

भावे स्थिति—कर्म को कर्तृ रूप में कहने पर जब धातु से होता है तब तो 'भिद्यते काष्ठेन' इस प्रकार कर्त्ता में तृतीया विभ क्योंकि यहाँ कर्त्ता अनुक्त है।

॥ इति कर्मकर्तृप्रक्रिया ॥

लकारार्थप्रक्रियेति—जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है व्याकरण में दस लकारों का विवेचन किया जाता है। उनके अर्थ कुछ आवश्यक बातें प्रस्तुत प्रकरण में बतलाई जा रही हैं—

लट्—वर्तमान काल में (वर्तमाने लट् ३।२।१२३॥) जैसे पठति।

लिट् जो आज का न हो (अनद्यतन) तथा कहने वाले को प्र (परोक्ष ऐसी क्रिया को प्रकट करने के लिये; (परोक्षे लिट् ३। जैसे—स किल युद्ध चकार।

लुट्—अनद्यतन भविष्यत् काल मे (अनद्यतने लुट् ३।३।१५।
श्वः पठिता—वह कल पढ़ेगा।

लृट्—सामान्य भविष्यत् काल मे (लृट् शेषे च ३।३।१३।
अद्य पठिष्यति, सः पठिष्यति।

लेट्—केवल वेद मे ही (इसका विविध अर्थों मे) प्रयोग होता

लोट्—विधि, आज्ञा आदि अर्थों मे (लोट् च ३।३।१६२।
पठतु। आशीर्वाद अर्थ मे भी (आशिषि लिङ् लोटौ ३।३।१७
पठतात्।

लङ्—अनद्यतन भूतकाल मे (अनद्यतने लङ् ३।२।१११), जै
अपठत्—उसने कल पढ़ा।

लिङ्—(१) 'विधिलिङ्' विधि प्रेरणा आदि अर्थों मे। इसके
आगे दिये जा रहे हैं।

(२) आशिषि लिङ्—इसका आशीर्वाद अर्थ मे प्रयोग वि
(आशिषि लिङ् लोटौ ३।३।१७३) आशीः का अर्थ है अप्राप्त इ
इच्छा। जैसे—चिरञ्जीव्यात् भवान्। तत्किमन्यदाशास्महे केवल
भूयाः। उत्तम पुरुष मे वक्ता की अभिलाषा को प्रकट करने के
प्रयोग किया जाता है। जैसे—कृतार्था भूयासम्।

लुङ्—सामान्य भूतकाल मे (लुङ् ३।१।११० (जैसे—सोऽग
(अव्यय) के साथ सब लकारो के विषय मे लुङ् का ही प्रयोग होता
लुङ ३।३।१७५) जैसे—भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीप ग

लृङ्–क्रिया की अनिष्पत्ति (असिद्धि) होने पर हेतुहेतुमद्भाव (C
आदि को प्रकट करने के लिये भविष्यत् काल मे लृङ् लकार का प्र
है। (लिङ्-निमित्ते लृङ्-क्रियातिपत्तौ ३।३।१३९), जैसे—प्रभोश

६७२ अभिज्ञावचने लृट् ३।३।११२॥
भूतानद्यतने धातोर्लृट्। लङोऽपवादः॥ वम लिव
गोकुले वत्स्यामः। एवं बुध्यसे, चेतयसे इत्यादि प्र

घृतेन यदि मत्समीपमागमिष्यत् (काशिका)। सुवृष्टिश
सुभिक्षम् अभविष्यत् (यदि अच्छी वर्षा होगी तो सुकाल हं

संक्षेप में सब लकारों का अर्थ निम्न कारिका में दिया

लट् वर्तमाने लेट् वेदे भूते लुङ् लङ् लिटस्तथा।

विध्याशिषोस्तु लिङ्लोटौ लुट् लृट् लृङ् च भविष्यति

लकारों के अर्थ में विषय के कुछ अन्य बातें यहाँ बतल

६७२. अभिज्ञेति—स्मरणबोधक उपपद होने पर अन
से लृट् लकार होता है।

टिप्पणी—(१) यहाँ उपपद का अर्थ है समीप में स्थि
मानं पदमुपपदम्)। (२) अनद्यतन—जो आज का का न

लङ् इति—अनद्यतन भूत अर्थ में सामान्यतः लङ् लक
इस विशेष स्थल में लृट् का विधान किया गया है अतः यह
का अपवाद (बाधक) है।

स्मरसि कृष्ण, गोकुले वत्स्यामः—(हे कृष्ण, तुम्हे
गोकुल में निवास करते थे) यहाँ स्मरणबोधक 'स्मर
अनद्यतन भूत अर्थ में वस् धातु में लृट लकार हो जाता है
'... +मस्) यह लृट् लकार के उत्तम पुरुष बहुवचन का

एवं बुध्यसे इति—इसी प्रकार बुध्यसे, चेतयसे इत
...क रूप में) प्रयोग होने पर भी (अनद्यतन भूत में लृट्

अथ संस्कृतव्याकरणस्थ-सूत्राणाम्
अकारादिवर्णानुक्रमः

—:o:—